।। श्री ऋषभ देवाय नम : ।।

श्री भक्तामर स्तोत्र

संग्रहकर्ता नीरज जैन (दिगम्बर)

प्रकाशक : गजेन्द्र पब्लिकेशन
2578, गली पीपल वाली, धर्मपुरा, दिल्ली-110006
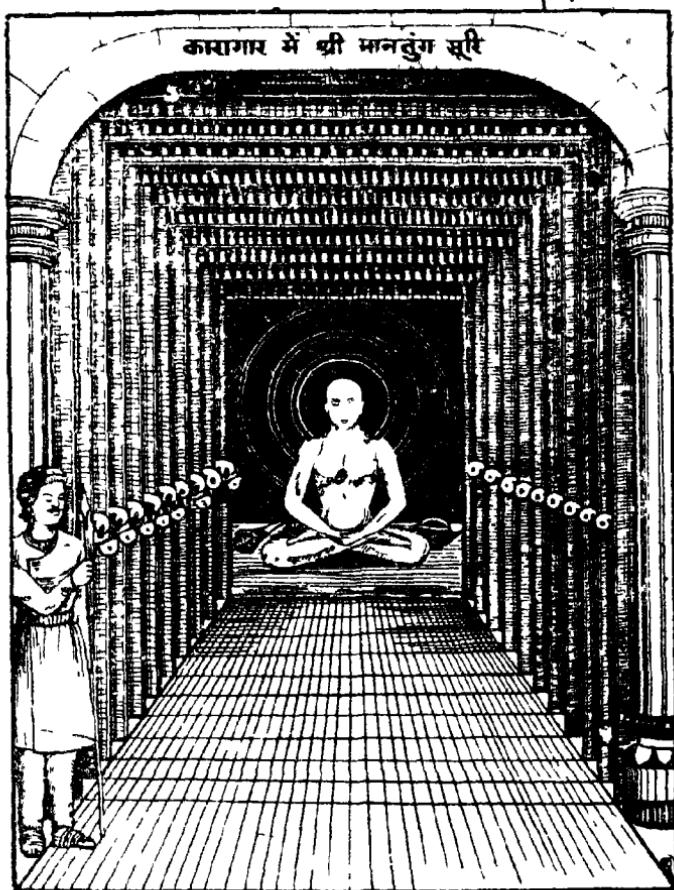
परमात्म भक्ति में लीन हुए, मुनि मानतुंग आचार्य।
ज्ञान - ध्यान की तन्मयता से, हुआ अलौकिक कार्य ।।
तड़ - तड़ टूटे बन्द जेल के, ताले अड़तालीस।
कर्मों के बन्धन तोड़ो. हे भक्तामर आदीश ! ।।

युग-प्रवर्तक प्रथम तीर्थंकर भगवान श्री ऋषभनाथ जी

हे आदि ब्रह्म ! हे युग स्रष्टा ! हे वृषभनाथ ! हे शिवशंकर !
हे नाभिजात ! कैलाश नाथ ! हे धर्म विधायक ! तीर्थंकर !
हे कर्मशूर ! हे धर्मशूर ! पथ-प्रवृति निवृति का बतलाओ।
हे मरुनन्दन ! नन्दन कानन ! बन मन मरुथल में आजाओ ।।
इस भरतक्षेत्र की भोगभूमि जब कर्मभूमि बन जाती है।
तब कर्म काटने के कारण यह तपोभूमि कहलाती है ।।
इस तपोभूमि में 'मानतुंग' मुनि के टूटे थे सब बन्धन।
उनकी भक्तामर-रचना को 'पुष्पेंदु' 'कुमुद' का शत वन्दन ।।

अर्घ्य-दान

पंच परमेष्ठियों की पुनीत स्मृतियों में—

सम्यग्ज्ञान धारिणि सरस्वती के पावन पाणि-पल्लवों में—

त्रिलोकवर्ति कृत्रिम-अकृत्रिम चैत्यालयों की पवित्र वेदिकाओं में—

वीतराग विज्ञानमयी परम प्रशांत मुद्रा युक्त

जिन विम्बों के पवित्र अंक में—

परम अहिंसक रत्नत्रय मंडित सर्वधर्म समन्वित

अनेकान्त धर्म की सेवा में—

चतुर्विध संघ के तपः-पूत अञ्चलों में—

जिन शासन भक्त देवी देवताओं की भव्य-भावनाओं में—

विश्व के सम्पूर्ण आस्तिक भगवद्भक्त

नर-खेचर-तिर्यक् की प्रगाढ़ श्रद्धाओं में—

एवं

संसार के समस्त

स्तोत्रकारों, साहित्यकारों, भाष्यकारों, काव्यकारों, कथाकारों

चित्रकारों

मंत्र-तंत्र साधकों, यंत्र रक्षकों विद्या साधकों

व्रती मंडल की केन्द्रीभूत साधनाओं में

सोल्लास सादर समर्पित

ग्रन्थ

सचित्र-भक्तामर-रहस्य

अर्घ्यार्चनारक

आशुकवि फूलचन्द 'पुष्पेन्दु' कमल कुमार जैन शास्त्री 'कुमुद'

अन्तर्मुखी-दर्पण

पृष्ठांक

प्रारम्भिक पृष्ठों में—

प्रासंगिक पृष्ठों में—

सार्थक चित्रालोक (प्रथम खण्ड)

भक्तामर सत्य कथा लोक (द्वितीय खण्ड)

भक्तामर दिव्य मंत्रालोक (तृतीय-खण्ड)

भक्तामर विविधि यन्त्रालोक (चतुर्थ-खण्ड)

भक्तामर सरस अर्चनालोक (पंचम-खण्ड)

आविर्भाव

भक्त शिरोमणि आचार्य मानतुंग अपने सुप्रसिद्ध स्तोत्र का प्रारंभ **'भक्त'** शब्द से करते हैं (**भक्तामर प्रणत मौलिमणि प्रभाणाम्** ··), और अन्त जिस पद्य के साथ करते हैं, उसमें व्यक्त कर देते हैं कि "किस प्रकार भगवान जिनेन्द्र की भक्ति से प्रेरित भक्त हृदय के स्वतः स्फूर्त उद्‌गार भगवान की गुणावलि-निबद्ध जिस मनोहारी एवं विचित्र स्तोत्र का रूप लेते है, उसका सतत् मनन या पाठ करने वाले का वरण करने के लिए अभ्युदय एवं निःश्रेयस रूपी द्विविध लक्ष्मी विवश हो जाती है।" इस प्रकार उन्होंने **भक्त, भगवान, भक्ति के स्वरूप और भक्ति के फल—सब का निर्देश कर दिया।**

भक्ति-योग

भक्त और भगवान के सम्बन्ध का नाम ही भक्ति है। **"गुणानुरागो भक्तिः"** अथवा **"गुणेषु अनुरागः-भक्तिः"** अपने आराध्य इष्टदेव के गुणों में जो अनुराग होता है, उसे ही भक्ति कहते हैं। 'सर्वार्थसिद्धि' में आचार्य पूज्यपाद ने भक्ति की परिभाषा की है—

"अर्हदाचार्यबहुश्रुतप्रवचनेषु भावविशुद्धियुक्तोऽनुरागः भक्तिः" अर्थात् "अर्हत् परमात्मा, आचार्य, उपाध्याय आदि बहुज्ञानी सन्तों और जिनवाणी में भावों की विशुद्धि पूर्वक जो अनुराग होता है, उसे भक्ति कहते हैं।" प्रशस्त गुणानुराग ही भक्ति है। उसमें किसी भी प्रकार की अप्रशस्तता, स्वार्थ की गन्ध, फलाशा, छल आदि का समावेश नहीं होना चाहिये। प्रशस्त, निश्छल, निःस्वार्थ, निष्काम एवं उत्कट भगवत् गुणानुरक्ति स्वतः सर्व सुफल-प्रदायि होती है। भगवद् भक्ति में लीन भक्त की जो विकार-मुक्ति एवं आत्मोन्नयन होते हैं वह भक्ति के तत्काल एवं प्रत्यक्ष फल हैं, और उस काल में उसमें कषायों की जो अत्यन्त मन्दता एवं शुभराग रूप प्रवृत्ति रहती है उससे उत्तम पुण्यबन्ध होता है, जो कालान्तर में लौकिक अभ्युदय का और परम्परा से मोक्ष का कारण बनता है। जैसा कि भगवान कुन्दकुन्द ने भावपाहुड में कहा है—

जिणवर चरणांबुरुहं, णमंति जे परमभत्तिराएण।
ते जम्मवेलिमूलं, खणन्ति वरभाव सत्थेण॥

अर्थात् जो जन परम भक्ति रूपी अनुराग पूर्वक जिनेन्द्र भगवान के चरण-कमलों में नत रहते हैं वे जन्म-मरण रूपी संसार वेलि का उक्त उत्कृष्ट भक्ति-

भावरूप शस्त्र द्वारा समूल उच्छेद कर देते हैं—सिद्धत्व या मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं।

मानतुंग भी कहते हैं :—

> नात्यद्भुतं भुवनभूषण ! भूतनाथ !
> भूतैर्गुणैर्भुवि भवन्तमभिष्टुवन्तः।
> तुल्या भवन्ति भवतो ननु तेन किंवा,
> भूत्याश्रितं य इह नात्मसमं करोति ।।

'हे विश्वमण्डल जगन्नाथ ! इसमें आश्चर्य ही क्या यदि आपके यथार्थ गुणों का गान रूप स्तवन द्वारा भव्यजन आपके ही समान बन जाते हैं, क्योंकि वह स्वामि ही क्या जो अपने आश्रितों या सेवकों को अपने समान न बनाले।"

इस पद्य में कवि ने भक्ति के आवेश में भगवान में कर्तृत्व के आरोप का आभास दे दिया और भक्ति को किंचित सकाम भी बना दिया, किन्तु उनका वास्तविक अभिप्राय वह नहीं है। जैनभक्त यह जानता है कि उसके इष्टदेव अर्हंत भगवान परम वीतराग होते हैं—किसी का कुछ भी भला-बुरा नहीं करते, न कुछ लेते या देते हैं।[1] आचार्य कुन्दकुन्द ने भी उपर्युक्त गाथा में भगवान को नहीं, भक्ति को ही संसार मूलोच्छेदनी व्यक्त किया है। स्तुतिविद्या के पारगामी स्वामि समन्तभद्र ने जो उत्कृष्ट कवि और भक्त ही नहीं, परम तार्किक भी थे, स्पष्ट कर दिया —

> न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे, न निन्दया नाथ ! विवान्त-वैरे।
> तथाऽपि ते पुण्य-गुण-स्मृतिर्नः पुनाति चित्तं दुरिताञ्जनेभ्यः ।।

"हे नाथ ! न आपको पूजा-स्तुति से कोई प्रयोजन है और न निन्दा से, क्योंकि आप समस्त वैर-विरोध का परित्याग करके परम वीतराग हो गये हैं, तथापि आपके पुण्य-गुणों का स्मरण हमारे चित्त को पाप-मलों से मुक्त करके पवित्र कर देता है।"

भक्तराज महाकवि धनञ्जय भी उसी तथ्य का समर्थन करते हैं :—

> उपैति भक्त्या सुमुखः सुखानि, त्वयि स्वभावाद्विमुखश्च दुःखम्।
> सदावदात-द्युतिरेकरूपस्तयोस्त्वमादर्श इवावभासि ।।

"भगवन् ! आपतो निर्मल दर्पण की भाँति सर्वदा स्वभावतः स्वच्छ हो,

---

१—देखिये पं० जुगल किशोर मुख्तार के लेख—वीतराग की पूजा क्यों? (अनेकान्त), फर्वरी १९७४, पृ० २२२-२२३; उपासना तत्त्व; स्तुति विद्या की प्रस्तावना आदि।

जो व्यक्ति निष्कपट भक्ति में निमग्न होकर उक्त दर्पण में अपना मुख देखता है, उसे सुखद सुमुख के दर्शन होते हैं, और जो स्वभाव से विमुख होकर—विकृत करके—उसमें अपना मुख देखता है, उसे दुःख ही प्राप्त होता है।"

भक्ति में अद्भुत शक्ति है। उसकी महिमा अचिन्त्य एव अकथनीय है। किन्तु वह शक्ति सम्पूर्ण समर्पण एवं स्वार्पण मे निहित है। निष्कपट, निष्काम और भावपूर्ण भक्ति ही कार्यकारी है।

"यस्मात् क्रियाः प्रतिफलन्ति न भावशून्याः"

एक सूफी संत तो कहता है :—

सिजदे के सिले में फ़िरदौस मुझे मन्जूर नहीं।
बेलौस बन्दा हूं, मै कोई मजदूर नहीं॥

"भगवद्भक्ति के बदले में मुझे स्वर्गादि की सम्पदा स्वीकार नही है। क्योंकि मैं तो निस्पृह भक्त हूँ, कोई मजदूर या सौदागर नही, जो एक चीज देकर उसके बदले दूसरी चीज ले।" एक पाश्चात्य चिन्तक और आगे बढ़ जाता है—

"Prayer must never be answered, if it is, It is not prayer It is correspondence." "भक्ति, स्तुति, विनती, प्रार्थना, आदि का (लौकिक) फल भक्ति को मिलना ही नही चाहिये। यदि मिलता है, तो वह सच्ची भक्ति नही—वह तो आदान-प्रदान या एक प्रकार का लेन-देन हो गया।"

ऐसी उत्कट एवं निष्काम भक्ति ही सच्ची भक्ति है। वस्तुतः जैनी दृष्टि से आत्मविशुद्धि के लिए किया गया भक्ति का प्रयोग ही '**भक्ति योग**' है। अपने इष्टदेव का सान्निध्य, स्वयं अपने आत्मोन्नयन द्वारा, पाने का सर्वोत्कृष्ट साधन यह '**भक्ति योग**' है। यह वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा साधक अप्राप्त अथवा परम प्राप्तव्य को प्राप्त कर लेता है। आत्मा स्वयं परमात्मा बन जाता है—भक्त भगवान बन जाता है।

स्तवन-स्तोत्र

भक्ति का मूल रूप स्तवन है। वह उसका प्रारम्भिक रूप भी है, और शाश्वत भी। उसका महत्व एवं उपयोगिता समय की गति के साथ न कम हुई है, और न होंगे। अपनी प्राथमिक अवस्था में जब साधक शुभ राग में प्रवृत्त होता है तो परावलम्बी ध्यान के रूप में वह अपने अनुकरणीय एवं प्राप्य आदर्श

इष्टदेव के गुणों में अनुरक्त होकर उसका गुणगान करता है। इष्टदेव का यह भक्ति-प्रसूत प्रशस्त गुणगान ही भावभीने ललित स्तुति-स्तोत्रों का रूप ले लेता है। 'भूताभूतगुणोद्भावनं स्तुतिः'—आराध्य में जो गुण हैं, और जो नहीं भी हैं उनकी उद्भावना का नाम ही स्तुति है। भक्ति के आवेश में भक्त बहुधा भगवान में ऐसे गुणों का भी आरोप कर बैठता है जो उसमें नहीं है, यथा परम वीतराग अर्हत् देव में कर्तृत्व का आरोप करना, उनके स्वभाव विरुद्ध उन्हे सुख का कर्त्ता या दुःख का हर्त्ता कह देना, उन्हें सिद्धि या मोक्षदाता कह देना, अथवा उनके साथ पिता-पुत्र, स्वामि-सेवक, प्रेमपात्र-प्रेमी मधुर सख्य आदि विविध भाव स्थापित करना। वस्तुतः ऐसे औपचारिक उद्गार, जब तक वे पथ से नहीं भटकाते और सीमित रहते हैं, निर्दोष ही होते हैं। भक्ति की विह्वलता में ही उनका औचित्य सिद्ध है। इस प्रकार भक्त और भगवान के सामुज्य का सेतु भक्त हृदय से प्रस्फुटित भक्ति प्रवण स्तोत्र होते हैं। उपास्य की औपचारिक पूजा से कोटिगुणा प्रभावक स्तोत्र-पाठ को बताया है—'पूजा-कोटिगुणं स्तोत्रं' अथवा 'पूजा कोटिसमं स्तोत्रं' यतः स्तोत्र रचना एवं स्तोत्र पाठ मे मन-वचन-काय की एकाग्रता स्वतः सिद्ध होती है, विशेषकर मन और वचन की। कहा भी है :—'सा जिव्हा या जिनं स्तौति' जिव्हा की सार्थकता इसी में है कि वह जिनेन्द्र भगवान की स्तुति मे प्रयुक्त रहे। "स्तुतिः स्तोतुः साधोः कुशल परिणामाय स तदा" (स्वयंम्भू स्तोत्र ११६)

जब से मानव हृदय में धर्म भाव का उदय होता है, अथवा जब से भी भक्त और भगवान का सम्बन्ध है, भक्तों द्वारा भगवद् भक्ति में स्तोत्र रचे और गाये जाते रहे है। भक्त जितना ही अधिक भक्तिरस में सराबोर होगा, जितना ही अधिक मन्द कषायी, निश्छल और निष्काम होगा, जितना ही अधिक ज्ञानी एवं प्रतिभा सम्पन्न होगा, और उसका भगवान भी जितना ही अधिक परमोत्कृष्ट लोकोत्तर अक्षय गुणों का निधान होगा, स्तोत्र भी उतना ही अधिक मनोहारी प्रभावपूर्ण तथा चमत्कारी होगा।

जैन स्तोत्र-साहित्य

युग की आदि में सौधर्मेंद्र ने आदि तीर्थंकर की स्तुति की थी। वस्तुतः प्रत्येक तीर्थंकर के जन्मोत्सव, तथा अन्य कल्याकों के अवसर पर भी पूर्ण श्रुतज्ञानी परमभक्त देवराज भगवान की भावभीनी स्तुति करता है। मानव भक्तों के लिए उक्त शक्रस्तव स्तोत्रों का आदर्श समझा जाता रहा है। अनगिनत भक्तों

ने अपनी भक्ति एवं शक्ति के अनुसार इष्टदेव का स्तुतिगान किया है। अंतिम तीर्थंकर वर्धमान-महावीर के प्रधान गणधर इन्द्रभूति गौतम ने भी अर्धमागधी भाषा में भगवान का भावपूर्ण स्तोत्र रचा था। आचार्य भद्रबाहु ने उवसग्गहर स्तोत्र रचा बताया जाता है और आचार्य कुन्दकुन्द की भक्तियाँ प्रसिद्ध है। गत साधिक दो सहस्र वर्षों में प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, तमिल, कन्नड, हिन्दी, राजस्थानी, गुजराती, सिन्धी, मराठी, उर्दू, अंग्रेजी, आदि विभिन्न भाषाओं में जिन भक्तों ने असंख्य स्तुति, स्तोत्र, विनती, पद आदि रचे है। भारतीय साहित्य के सुप्रसिद्ध इतिहासकार विन्टरनित्स के अनुसार जैनों ने अति प्राचीन काल से ही धार्मिक ज्ञेय कविताओं-स्तुति-स्तोत्रादि की रचना में अन्य धर्माव-लम्बियों के साथ सफल प्रतिद्वन्दिता की है और अनेक उत्तमोत्तम स्तोत्र भारतीय साहित्य को प्रदान किये है।[1] विशेषकर संस्कृत भाषा के जैन स्तोत्र तो भक्ति साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। ज्ञात एवं उपलब्ध स्तोत्रकारों एवं स्तोत्रों में प्रमुख निम्नोक्त हैं :—

स्वामि समन्तभद्र	(२ री शती ई०)	देवागम, स्वयंभू, जिनस्तुति शतक (स्तुति विद्या)
मानदेव	(३ री शती ई०)	शान्तिस्तव
सिद्धसेन क्षपणक	(४ थी शती ई०)	महावीर द्वात्रिंशिका एवं अन्य कई द्वात्रिंशिकाएँ।
पूज्यपाद	(५वीं शती ई०)	शान्त्यष्टक, सरस्वती - स्तोत्र, जैनाभिषेक, दशभक्तिः।
पात्रकेशरि स्वामि	(६ठीं शती ई०)	पात्रकेशरि-स्तोत्र।
वज्रनंदि	(६ ठीं शती ई०)	नवस्तोत्र
मानतुंग	(७ वीं शती ई०)	भक्तामर स्तोत्र (आदिनाथ स्तोत्र)
भट्टाकलंकदेव	(७ वीं शती ई०)	अकलंकाष्टक
जिनसेन पुन्नाट प्रथम	(७वीं शती ई०)	जिनेन्द्रगुण संस्तुति
धनञ्जय	(७ वीं शती ई०)	विषापहार स्तोत्र
बप्पभट्टि	(८ वीं शती ई०)	चतुर्विंशति जिनस्तुति, सरस्वती-स्तोत्र।
विद्यानंद	(८ वीं शती ई०)	श्रीपुर पार्श्वनाथ स्तोत्र।
जिनसेन स्वामि	(९ वीं शती ई०)	श्री जिनसहस्रनाम-स्तोत्र।

१. एम० विन्टरनित्स—हिस्टरी आफ इण्डियन लिटरेचर, भा० २

नंदिषेण	(९ वीं शती ई०)	अजित-शान्ति-स्तव (प्रा०)
जम्बूसूरि	(९४८ ईस्वी)	जिन-शतक।
पुष्पदन्त	(९५९-७४ ई०)	शिव-महिम्नि-स्तोत्र।
पोन्न	(९६०-९० ई०)	जिनाक्षर माले (क)
शोभन मुनि	(९७० ईस्वी)	शोभन स्तुति।
धनपाल काश्यप	(९७०-१०१५ ई०)	ऋषभ पंचासिका (प)
गोल्लाचार्य भूपाल	(ल० ९७५ ई०)	भूपाल चतुर्विंशति
अमितगति	(९७५-१०२० ई०)	भावना द्वात्रिंशिका।
वादिराज	(१०२५ ई०)	एकीभाव-स्तोत्र, (कल्याणकल्प-द्रुम) अध्यात्माष्टक स्तोत्र, ज्ञान-लोचन स्तोत्र
रामनंदि	(१०२५ ईस्वी)	जिन-शतक
मल्लिषेण	(१०४७ ईस्वी)	ऋषिमंडल - स्तोत्र, पद्मावती-स्तोत्र, आदि
इन्द्रनंदि	(ल० १०५० ईस्वी)	पार्श्वनाथ स्तोत्र
अभयदेव सूरि	(१०६३-७८ ई०)	जयतिहुअण स्तोत्र (प्रा०)
जिनचन्द्र सूरि	(१०६८ ईस्वी)	संवेग रंगशाला
पम्पा देवी	(ल० १०७५ ईस्वी)	चतुर्भक्ति (क)
माघनंदि मुनि	(ल० ११०० ईस्वी)	अर्हन्नुतिमाला, चतुर्विंशति स्तुति।
हेमचन्द्राचार्य	(११०९-७२ ई०)	वीतराग स्तोत्र महादेव स्तोत्र दो महावीर द्वात्रिंशिकाएँ।
जिन वल्लभ सूरि	(१११० ईस्वी)	अजित शांति-लघु स्तवन, भावारि वारणस्तोत्र, वीरस्तव, जिन कल्याण स्तोत्र
मुनिचन्द्र सूरि	(११११-१९ ई०)	प्राभातिक स्तुति।
मौक्तिक	(११२० ईस्वी)	चन्द्रनाथाष्टक (क)
महाशिव	(११२५ ईस्वी)	त्रैलोक्य चूडामणि स्तोत्र (क)
जिनदत्त सूरि	(११२५ ईस्वी)	स्वार्थाधिष्ठायि स्तोत्र, विघ्न-विनाशि स्तोत्र।
धर्मघोष सूरि	(११२५ ईस्वी)	ऋषिमंडल स्तोत्र।
कुमुदचन्द्राचार्य	(ल० ११२५ ईस्वी)	कल्याणमन्दिर स्तोत्र।

भानुकीर्ति (११३९-७७ ई०) शंख देवाष्टक।
माघनन्दी त्रैविद्य (११४३ ई०) चन्द्रप्रभस्तुति (क)।
राजसेन (ल० ११५० ई०) पार्श्वनाथाष्टक।
विष्णुसेन (ल० ११५० ई०) समवसरण स्तोत्र।
श्रीपाल कवि (११५२ ई०) शतार्थी।
पद्मप्रभ मलधारि (११६७-१२१७ ई०) पार्श्वनाथ स्तोत्र (लक्ष्मी स्तोत्र)
रामचन्द्र सूरि (११७५-१२०० ई०) षोडश स्तवन आदि सात स्तोत्र।
विद्यानन्दि (११८१ ई०) पार्श्वनाथ-स्तोत्र।
आसड (ल० १२०० ई०) जिन-स्तोत्र।
सिद्धसेन (,,) शक्रस्तव।
शुभचन्द्र योगि (,,) जिनपति स्तवन।
वादिराज द्वि० (,,) नवग्रह-स्तोत्र।
धर्मवर्धन (,,) षड् भाषा निर्मित पार्श्व जिन स्तवन
हस्तिमल्ल (ल० १२००-१२२५ई०) समवशरण-स्तोत्र, संजीवन स्तोत्र
आशाधर (१२००-१२५० ई०) सहस्रनामस्तवन सिद्धगुण-स्तोत्र सरस्वति-स्तोत्र, महावीरस्तुति।
सोमदेव (१२०५ ईस्वी) चिन्तामणि-स्तवन।
देवनंदि (१२२५ ईस्वी) सिद्धिप्रिय स्तोत्र, स्वयंभूपाठ लघु, चतुर्विंशति जिन-स्तवन।
गुणवर्म (१२३५ ईस्वी) चन्द्रनाथाष्टक (क)।
महेन्द्रसूरि (१२३७ ईस्वी) तीर्थमाला - स्तोत्र जीरावल्ली पार्श्व-स्तोत्र।
पद्मप्रभ (,,) पार्श्वस्तव भुवन-दीपक।
वाग्भट (ल० १२५० ई०) (सुप्रबोधन स्तोत्र)
नरचन्द्र (,,) चतुर्विंशति जिनस्तुति।
चारुकीर्ति (,,) गीत वीतराग प्रबन्ध
रत्नकीर्ति (१२७५ ई०) शम्भू-स्तोत्र
जिनप्रभ सूरि (१२९५-१३३३ ई०) चार-पांच स्तोत्र
धर्मघोष (ल० १३०० ई०) यमक-स्तुति, चतुर्विंशति-जिन-स्तुति।
रत्नाकर (,,) रत्नाकर पंचविंशतिका
वीरगणि (,,) अजित-शान्तिस्तव (प्रा०)

जय शेखर	(ल० १३०० ई०)	अजित-शान्तिस्तव
शुभचन्द्र अध्यात्मि	(१३१३ ई०)	मदालसा-स्तोत्र
जिन पद्म	(१३३५-४४ ई०)	षड्भाषा विभूषित शान्तिनाथ स्तवन
जय तिलक	(ल० १३५० ई०)	चतुरहारावलि चित्रस्तव
पद्मनंदि भट्टारक	(१३६०-९५ ई०)	अनेक स्तोत्र
मुनि सुन्दर	(१३७९ ई०)	जिनस्तोत्र-रत्नकोश
मेरुविजय	(१५वीं शती)	चतुर्विंशति स्तुति
देवविजय गणि	(१६वीं शती)	जिन सहस्रनाम
विनय विजय	(१७वीं शती)	जिनसहस्रनाम
भागेन्दु	(१९वीं शती)	महावीराष्टक ।

उपरोक्त सूची से प्रकट है कि लगभग आधी दर्जन 'जिन सहस्रनाम स्तोत्र' और एक दर्जन से अधिक जिन चतुर्विंशतिकाएँ रची गयीं। कई अजित-शान्ति स्तव भी है। एकाकी तीर्थंकरों में ऋषभ, चन्द्रप्रभु, शान्तिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर के स्तोत्र ही मुख्यतया रचे गये। कल्याणक, समवसरण आदि विषयों को लेकर भी कुछ स्तोत्र रचे गये। कुछ स्तोत्रों में दार्शनिकता, कुछ में अध्यात्मिकता तथा कुछ में हितोपदेशिता का प्रभाव लक्षित होता है, किन्तु शेष अधिकांश भक्ति परक ही हैं। तीर्थंकरों के अतिरिक्त अन्य देवी देवताओं में सरस्वती स्तोत्रों की प्रथा ४ थी ५वीं शती से मिलने लगती है और १० वीं ११ वी शती से चक्रेश्वरी, अम्बिका पद्मावती आदि विशिष्ट प्रभाववाली शासन देवियों के भी स्तोत्र रचे जाने लगे। कई स्तोत्र मंत्रपूत अथवा मांत्रिक शक्ति से युक्त माने जाते रहे हैं, अतएव उनके साथ सम्बद्ध चमत्कारों की आख्यायिकाएँ भी लोक प्रसिद्ध हुईं। ऐसे चमत्कारी स्तोत्रों में समन्तभद्र के स्वयंभू स्तोत्र, मानदेव के शान्तिस्तव, सिद्धसेन की महावीर स्तुति, पूज्यपाद के शान्त्यष्टक, पात्रकेशरि के पात्रकेसरि-स्तोत्र, मानतुंग के भक्तामर-स्तोत्र, धनञ्जय के विषापहार, वादिराज के एकी भाव, मल्लिषेण के ऋषिमंडल तथा कुमुदचन्द्र के कल्याणमंदिर की विशेष ख्याति रही है। भक्तामर, विषापहार, भूपालचतुर्विंशति एकीभाव और कल्याणमन्दिर सामूहिक रूप से पंच स्तोत्र भी कहलाते हैं और विशेष-कर दिगम्बर आम्नाय में—ये पंचस्तोत्र अति लोकप्रिय रहे हैं। जैनों के स्तोत्र साहित्य की विपुलता, भव्यता, भावप्रवणता और माधुर्य की अनेक पौर्वात्य एवं पाश्चात्य जैनेतर मनीषियों ने भूरि-भूरि प्रशंसा की है!

भक्तामर-स्तोत्र

सम्पूर्ण स्तोत्र साहित्य में भक्तप्रवर प्रतिभाभिराम मानतुंग द्वारा विरचित 'भक्तामर-स्तोत्र' अपर नाम "आदिनाथ-स्तोत्र" का अनेक दृष्टियों से सर्वोपरि स्थान है। 'वसन्त-तिलका' अपरनाम 'मधु-माधवी' नामक वार्णिक छन्द में रचित सुष्ठु संस्कृत के अड़तालीस पद्यों वाले इस मनोमुग्धकारी स्तोत्ररत्न में परिष्कृत एवं सहजगम्य भाषा प्रयोग, साहित्यिक सुषमा, रचना की चारुता, निर्दोष काव्य कला, उपयुक्त शब्दालङ्कारों एवं अर्थालङ्कारों की विच्छित्ति दर्शनीय हैं, और अथ से अन्त तक भक्तिरस की अविच्छिन्न धारा अस्खलित गति से प्रवाहित है।[1] स्तोत्रकार ने अपने इष्टदेव में कर्तृत्व का तो कथंचित् आरोप किया है, किन्तु कहीं भी उससे कोई याचना नहीं की है, उसके द्वारा कुछ करने या कराये जाने की ओर कोई इंगित नहीं किया—मात्र गुणगान किया है! जिनेन्द्र भगवान के रूप सौन्दर्य का, उनके अतिशयों और प्रातिहार्यों का तथा उनके नामस्मरण के महात्म्य से स्वत: निवारित भयों, उपद्रवों आदि का वर्णन किया है। अनावश्यक पांडित्य प्रदर्शन से स्तोत्र को बोझिल नहीं बनाया और न उसमें तार्किकता, दार्शनिकता, वैराग्य या आध्यात्मिकता की ही पुट लगाई है। दिगम्बराचार्य प्रभाचन्द्र (११ वीं शती) ने इस स्तोत्र को "महाव्याधिनाशक" बताया तो श्वेताम्बराचार्य प्रभाचन्द्रसूरि (१३ वी शती) ने इसे 'सर्वोपद्रव हर्त्ता' बताया। वस्तुत: यह स्तोत्र मान्त्रिक शक्ति से अद्भुतरूप मे सम्पन्न है। इसके प्रत्येक पद्य के साथ एक-एक ऋद्धि मन्त्र यत्र एवं महात्म्य सूचक आख्यान सम्बद्ध हैं। इसके पूजन-पाठ एवं उद्यापन भी रचे गये है। स्तोत्र की उत्पत्ति विषयक कथाएँ भी उसके चमत्कारित्व की द्योतक है। जैन परम्परा के सभी सम्प्रदायों उपसम्प्रदायों में यह सर्वाधिक लोकप्रिय स्तोत्र है। अनगिनत जैन स्त्री पुरुष तो इसका नित्य नियमत पाठ भक्ति पूर्वक करते ही है; अनेक जैनेतर व्यक्ति भी इससे प्रभावित हैं। इसमें जो अमृत भरा है, उसका पान करके भिन्न धर्मी पण्डित गण भी बारंबार शिर: संचालन करते हैं और मुग्ध हो जाते हैं। स्तोत्र का पाठ या आराधन कब और कैसे किया जाय इसके नियम भी प्रचलित हो गये है।[2]

---

१. देखिये—पं० अमृतलाल शास्त्री द्वारा संपादित-अनुवादित भक्तामर स्तोत्र, द्वि० सं०, वाराणसी १९६९ ई० प्रस्तावना पृ० १३-१५।

२. अमृतलाल शास्त्री वही पृ० ४-५। नाथूराम प्रेमी—आदिनाथ स्तोत्र षष्ठावृत्ति बम्बई १९२३ भूमिका पृ० २।

मैक्समूलर, कीथ, वेबर, गिरनाट, जैकोबी, विन्टरनित्स, ग्लासेनाप जैसे प्रकाण्ड युरोपीय प्राच्यविदों तथा पं० दुर्गाप्रसाद काशीनाथ शर्मा, गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, बलदेव उपाध्याय, भोलाशंकर व्यास जैसे संस्कृतज्ञ भारतीय मनीषियों ने मानतुङ्ग की इस अमरकृति की उन्मुक्त प्रशंसा की है। जर्मन विद्वान डा०—हर्मन जैकोबी ने १८७६ ई० में भक्तामर एवं कल्याण मन्दिर का जर्मन भाषा में अनुवाद एवं सम्पादन किया था। और १९३२ में प्रो० एच० आर० कापड़िया द्वारा संपादित उक्त स्तोत्रों के अंग्रेजी संस्करण की प्रस्तावना लिखी थी। उनका कहना है कि[1] स्तोत्र साहित्य जैन भारती का अति विस्तृत अंग है। विभिन्न भाषाओं एवं विविध शैलियों में रचित अनगिनत जैन स्तोत्रों में मानतुंग कृत भक्तामर स्तोत्र ने अनेक शताब्दियों में सर्वोपरि स्थान प्राप्त किया हुआ है और इस सम्बन्ध में समस्त जैन एकमत हैं। वस्तुत: अपने भक्तिभाव प्रवणता एवं रचना सौन्दर्य के कारण यह स्तोत्र इस महान लोकप्रियता का पूर्ण अधिकारी है। यद्यपि मानतुंग ने क्लासिकल संस्कृत काव्य की अलंकृत शैली में रचना की है, तथापि उन्होंने स्वयं को ऐसी दुरुह काल्पनिक उड़ानों एवं शाब्दिक प्रयोगों से बचाया है जिनमें काव्य का रस अलंकारों के जाल में ओझल हो जाता है। अत: संस्कृत काव्यों के अभ्यासी पाठकों के लिए मानतुंग के पद्य सहज सुबोध हैं। एक उत्तम भक्तिकाव्य होने के अतिरिक्त, भक्तामर स्तोत्र का स्वरूप एक

---

१. Jain hymnology is a rather extensive branch of their literature...yet among the almost numberless productions of ecelesiastical muse Mantunga's Bhaktamar has held, during many centuaries, the foremost rank by the unenimous cousent of the Jains. And it fully deserves its great popularity by its religious pathos and the beauty of the dection. Though Mantung writes on the flowery style of classical sanskrit poetry, still he avoids laboured conceits and verbal artifices as such Alankars' are apt to obscure the Ras and his Verses are, as a rule, easily understood by those accustomed to Read sanskrit kavyas. Being a work of devotion the Bhaktamar has also the character of a prayer for help in the dangers and trials under which men suffer. It is perhaps this particular trial which greatly endeared the Bhaktamar to the heart of the faithful.

ऐसी विनती का भी है जिसका आश्रय माना आपद-विपदाओं, भयों एवं परीक्षाओं से त्रस्त मनुष्य अपनी सहायतार्थ लेते हैं। संभवतया अपनी इस विशेषता के कारण ही भक्तामर स्तोत्र विशेष रूप से भक्तों का ऐसा प्रिय कण्ठहार हुआ।" प्रो० विन्टरनित्स के अनुसार[1] धार्मिक भक्ति एवं मांत्रिक शक्ति, दोनों ही दृष्टियों से मानतुंग कृत भक्तामर एक सर्वाधिक प्रसिद्ध स्तोत्र है। श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही सम्प्रदायों में इसकी विपुल ख्याति है। इस विद्वान् ने स्तोत्र के कई पद्यों के सुन्दर अंग्रेजी पद्यानुवाद देकर उसकी काव्य सुषमा एवं भाव गाम्भीर्य को चरितार्थ किया है, तथा बताया है कि १४वीं शती में भी लोग इस स्तोत्र का मांत्रिक प्रयोग करते थे, और इस स्तोत्र के अनुकरण पर कई अन्य स्तोत्र भी रचे गये।

उपरोक्त तथ्यों के अतिरिक्त, वृत्ति व्याख्या, टीका, पद्यानुवाद, गद्यार्थ, पादपूर्ति काव्य, अनुकरण पर रचे गये स्तोत्र मंत्र-यंत्र, आख्यायिका कथादि रूप जितना विपुल एवं विविध साहित्य गत् लगभग एक सहस्र वर्षों में भक्तामर स्तोत्र को लेकर रचा गया है, उतना किसी अन्य स्तोत्र पर नहीं रचा गया है, उतना किसी अन्य स्तोत्र पर नहीं रचा गया। अतः मानतुंग की इस कालजयी कृति का महत्त्व एवं माहात्म्य स्वतः सिद्ध है।

नाम और श्लोक संख्या

स्तोत्र के प्रथम श्लोक के प्रथम पद के आधार पर उसका सर्व प्रसिद्ध एवं प्रचलित नाम 'भक्तामर-स्तोत्र' हुआ।[2] प्रथम श्लोक के युगादौ और द्वितीय श्लोक के 'प्रथमं जिनेन्द्रं' पदों को लेकर इसे 'आदिनाथ स्तोत्र' 'ऋषभ-स्तोत्र' भी माना जाता रहा है। परन्तु यदि 'प्रथमं जिनेन्द्र' का अर्थ जिनेन्द्रों अर्हन्तों में प्रमुख अर्थात् तीर्थंकर देव कर लिया जाय और क्योंकि प्रत्येक तीर्थंकर का युग उस तीर्थंकर के जन्म से प्रारम्भ होता है, तो यह सामान्यतया सभी तीर्थंकरों या जिनेन्द्रों की स्तुति है। वैसे भी स्तोत्र में कहीं भी किसी भी तीर्थंकर विशेष का नामादि परिचय सूचक कोई स्पष्ट संकेत नहीं है—भक्त अपने इष्टदेव तीर्थंकर भगवान या जिनदेव का ही स्तवन करता है, उसे एक ही उपास्य एवं आराध्य सत्ता मान कर।

---

१. Winternit's—History of Indian Literature, Part 2, page 549.

२. देवागम, स्वयंभू, विषापहार, एकीभाव, कल्याणमंदिर आदि अन्य अनेक प्रसिद्ध स्तोत्रों की भाँति ही।

इस स्तोत्र की श्लोक संख्या के विवाद में भी कुछ विवाद है। दिगम्बर परम्परा में प्रायः प्रारंभ से ही ४८ श्लोकी पाठ (जो प्रस्तुत संस्करण में अपनाया है) मान्य एवं प्रचलित चला आया है। उक्त परम्परा का भक्तामर सम्बन्धी जितना भी साहित्य उपलब्ध है, उससे यह तथ्य समर्थित है। श्वेताम्बर स्थानक वासी एवं श्वेताम्बर तेरापंथी सम्प्रदायों में भी प्रायः यही ४८ श्लोकी पाठ मान्य किया जाता है। केवल श्वेताम्बर मन्दिरमार्गी सम्प्रदाय में ४४ श्लोकी पाठ मान्य है जिसमें ३२,३३,३४,३५ संख्यक चार पद्यों को छोड़ दिया गया है।

जैकोबी प्रभृति युरोपीय प्राच्यविदों को ४४ श्लोकी श्वेताम्बर पाठ ही तथा तत्सम्बन्धी श्वेताम्बर अनुश्रुतियां ही उपलब्ध हुईं—उनके सामने ४८ श्लोकी दिगम्बर पाठ तथा तत्सम्बन्धी अनुश्रुतियों का विकल्प ही नहीं था, अतएव उनकी भक्तामर विषयक ऊहापोह का आधार श्वेताम्बर मान्यताएँ हीं रहीं। जैकोबी ने दिगम्बर पाठ के उन अतिरिक्त चार पद्यों पर तो कोई विचार किया ही नहीं—वे उसके सामने थे ही नहीं—श्वेताम्बर पाठ के भी श्लोक ३९ और ४३ (दिगम्बर पाठ ४३ और ४७) को भी प्रक्षिप्त अनुमान किया। विद्वान् के मतानुसार वे मानतुंग द्वारा रचित नहीं हो सकते और मूल रचना में पीछे से जोड़े गये लगते हैं।[1] इस प्रकार मूल भक्तामर स्तोत्र ४२ श्लोकी ही रह जाता है।

दूसरी ओर, भक्तामर की कतिपय प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों में चार-चार श्लोकों के ४ विभिन्न गुच्छक प्रचलित ४८ श्लोकों से अतिरिक्त प्राप्त हुए हैं। इस प्रकार उनमें से प्रत्येक पाठ ५२ श्लोकी है, और कुल प्राप्त श्लोकों की संख्या ६४ हो जाती है। किन्तु इन अतिरिक्त १६ श्लोकों के सम्बन्ध में प्रायः सभी मनीषियों का यह मत है कि भाषा, अर्थ, रचनाशैली, पुनरुक्ति दोष आदि अनेक कारणों से वे श्लोक मानतुंगकृत नहीं हो सकते, कालान्तर में विभिन्न लोगों ने बढ़कर सम्मिलित कर दिये हैं।[2]

---

१. भक्तामर—कल्याणमन्दिर—नमिऊन के १९३२ में प्रो० एच० आर० कापड़िया द्वारा सम्पादित संस्करण का डा० हर्मन जैकोबी द्वारा लिखित प्राक्कथन (अंग्रेजी)।

२. (क) मिलापचंद रतनलाल कटारिया—जैन निबन्ध रत्नावली, पृ० ३३९-३४१।

(ख) अमृतलाल शास्त्री—भक्तामर स्तोत्र प्रस्तावना पृ० ११।

(ग) अजित कुमार शास्त्री—भक्तामर स्तोत्र (अनेकान्त १ नवं० १९३८ पृ० ७१।

उपरोक्त सन्दर्भ में उल्लिखित सभी विद्वानों ने भक्तामर की श्लोक संख्या पर विचार किया है। जब कि श्री अगरचन्द नाहटा का आग्रह है कि श्वेताम्बर परम्परा सम्मत ४४ श्लोकी पाठ ही मूल एवं प्राचीनतम पाठ है अन्य सब विद्वानों ने दिगम्बर परम्परा सम्मत ४८ श्लोकी पाठ को ही मूल एवं प्राचीनतम् सिद्ध किया है, जिसके लिए उन्होंने प्रमाण एवं युक्ति का सफल प्रयोग किया है और प्रतिपक्ष द्वारा प्रस्तुत हेतुओं को निस्सार ठहराया है। स्वयं हमने भी अन्यत्र[1] इस समस्या पर विचार किया है। समस्त ऊहापोह के उपरान्त यही निष्कर्ष निकलता है कि विवादास्पद चार श्लोकों (३२,३३,३४ और ३५) में देवदुन्दुभि, पुष्पवृष्टि, भामण्डल और दिव्यध्वनि नामक तीर्थंकर देव के चार प्रातिहार्यों का क्रमशः वर्णन है। उन्हें निकाल देने से केवल चार प्रातिहार्यों का वर्णन स्तोत्र में रह जाता है; और इस प्रकार वह अपूर्ण हो जाता है। श्वेताम्बर परम्परा मे भी आठों प्रातिहार्यों की समान रूप से मान्यता है और भक्तामर की भाँति ही उभय समुदाय मान्य कल्याण मन्दिर स्तोत्र में भी इन्हीं आठ प्रातिहार्यों का (श्लोक १९ से २६ तक में) क्रमशः वर्णन है, जिस पर श्वेताम्बर विद्वानों ने कभी कोई आपत्ति नहीं की। यदि श्वेताम्बरों में ४४ श्लोकी पाठ की मान्यता सात-आठ सौ वर्ष प्राचीन है तो दिगम्बरों में ४८ श्लोकी पाठ की मान्यता भी प्रायः उतनी ही प्राचीन है। एक सम्भावना है—आचार्य कुमुदचन्द्र ने कल्याण मन्दिर की रचना १२ वीं शती ई० के प्रारंभ के लगभग की थी। जब श्वेताम्बर विद्वानों ने उस पर मुग्ध होकर उसे अपना लिया और उसके साथ सिद्धसेन दिवाकर जैसे प्राचीन प्रसिद्ध श्वेताम्बराचार्य का नाम जोड़ दिया तो उसके अनुकरण पर भक्तामर के चार श्लोक (३२, ३३, ३४, ३५) निकाल कर उसे भी कल्याण मन्दिर जैसा ४४ श्लोकी बना लिया हो। और उक्त परम्परा में वह उस रूप में प्रचलित हो गया हो। वस्तुत भाषा, शैली, भाव आदि किसी दृष्टि से भी उन चारों श्लोकों के मूल भक्तामरकार की कृति

(च) डा० नेमिचंद्र शास्त्री—आचार्य मानतुंग (अनेकान्त फरवरी १९६६ पृ० २४४।

(छ) अगरचंद नाहटा—भक्तामर के ४-४ अतिरिक्त पद्य (शोधांक २१ पृ १९९-२०२।

३. डा० ज्योति प्रसाद जैन—भक्तामर स्तोत्र की श्लोक संख्या (शोधांक २१ पृ० २१८-२२०)।

होने में कोई भी बाधा नहीं है, वे असंबद्ध या असंगत भी नहीं हैं, और उनके बिना स्तोत्र अपूर्ण और सदोष रह जाता है। उन चारों श्लोकों में ऐसी भी कोई बात नहीं है कि किसी भी साम्प्रदायिकता को कोई ठेस लगती हो। इससे क्या अन्तर पड़ता है कि किस सम्प्रदाय में इस स्तोत्र की आपेक्षिक प्राचीनता सौ पचास वर्ष कम या अधिक है।

अस्तु हमारी समझ में तो भक्तप्रवर मानतुंग का यह अप्रतिम स्तोत्र जैन मात्र को भावनात्मक एक सूत्रता में बांधने वाली एक उत्तम एवं रुचिर कड़ी है। ऐसी जितनी चीजें जो सबको समान रूप से ग्राह्य हों, जितनी भी उजागर की जायें और प्रचार में लाई जायें, जिन शासन के लिए श्रेयस्कर होगा, ऐसी सर्वग्राह्य चीजों के विषय में साम्प्रदायिक दृष्टि से सोचना समझना भी शायद ठीक न होगा।

आविर्भाव

भक्तामर स्तोत्र का आविर्भाव कैसे हुआ, इस सम्बंध में अनुश्रुतियां प्रचलित हैं :—

१—धाराधीश भोजदेव परमार (१००८-१०६० ई०) के समसामयिक धारा निवासी दिगम्बराचार्य महापंडित प्रभाचन्द्र ने 'क्रियाकलाप' ग्रन्थ की अपनी टीका की उत्थानिका में लिखा है—"**मानतुंगनामकःसिताम्बरो महाकविः निर्ग्रन्थाचार्यवर्येरपनीत महाव्याधिप्रतिपन्न निर्ग्रन्थमार्गो भगवन् किं क्रियतामिति ब्रुवाणो भगवतः परमात्मनो गुणगणं स्तोत्रं विधीयतामित्यादिष्टः भक्तामर इत्यादि।**" अर्थात् मानतुंग नामक श्वेताम्बर महाकवि को एक दिगम्बराचार्य ने महाव्याधि से मुक्त कर दिया तो उसने दिगम्बर मार्ग ग्रहण कर लिया और पूछा कि भगवन् ! अब मैं क्या करूँ ? आचार्य ने आदेश दिया कि परमात्मा के गुणों को गूंथ कर स्तोत्र बनाओ। **फलतः मानतुंगमुनि ने भक्तामर स्तोत्र की रचना की** (देखिये अनेकान्त फरवरी १९६९ पृ० २४५)

२—श्वेताम्बराचार्य प्रभाचन्द्रसूरि ने अपने प्रभावक चरित (१२७७ ई० के अन्तर्गत 'मानतुंग सूरि चरितम्' (सिंघी ग्रन्थमाला, १९४०, पृ० ११२-११७) में लिखा है कि वाराणसी नरेश श्री हर्षदेव के राज्य में धनदेव श्रेष्टि का पुत्र मानतुंग था, जिसने संसार से विरक्त होकर दिगम्बराचार्य चारुकीर्ति से मुनि दीक्षा ली और महाकीर्ति नाम से प्रसिद्ध हुआ। उसकी बहिन श्वेताम्बर साध्वी थी, जिसकी प्रेरणा से उसने दिगम्बर मत का परित्याग करके जिनसिंहसूरि से श्वेताम्बर साधु की दीक्षा ली, कालांतर में सूरि पद प्राप्त

किया और अंत में अपने शिष्य गुणाकर को पट्टधर नियुक्त करके समाधिमरण किया। उसी राजा की सभा में मयूर और बाण नाम के दो महाकवि थे। मयूर बाण का श्वसुर भी था। मयूर ने 'मयूर-शतक' नामक स्तोत्र की रचना करके अपना कुष्ट रोग दूर किया तो उसकी होड़ पर बाण ने 'चण्डी-शतक' की रचना करके अपने छिन्न-भिन्न अंगों को पुन: जोड़ लिया। राजा और प्रजा अत्यन्त प्रभावित हुए। ब्राह्मणधर्मी यह दम्भ करने लगे कि किसी अन्य धर्म का विद्वान् ऐसा चमत्कारी सिद्ध नहीं हो सकता जैसा कि मयूर और बाण थे। इस राजा के मन्त्री ने जैन मुनि मानतुंग का नाम लिया। मुनिराज बुलाये गये राजा ने उन्हें लौह शृंखलाओं में जकड़वा कर ४८ तालों के भीतर कैद करवा दिया। मानतुंग ने तब भक्तामर स्तोत्र की रचना की और एक-एक श्लोक पूरा होने के साथ ही साथ एक-एक ताला टूटता गया। अन्तत: स्तोत्र पूरा हुआ और आचार्य मानतुंग सर्वथा बन्धन मुक्त होकर बन्दी खाने के बाहर आविराजे। इस चमत्कार का राजा और प्रजा पर अपूर्व प्रभाव हुआ और जैन धर्म की महती प्रभावना हुई।

३—मेरुतुंग कृत प्रबन्ध चिन्तामणि (टानी कृत अंग्रेजी अनुवाद, पृ० ६६) में भी प्राय: यही कथा दी है, किन्तु राजा का नाम भोज दिया है और घटना स्थल उज्जयनी बताया है, तथा मयूर और बाण को श्वसुर और दामाद के बजाय बाण को साला और मयूर को बहनोई लिखा है; और बाण के कुष्टी होने व मयूर के हाथ पैर काटने की बात लिखी है। प्रबंध चिंतामणि का रचना काल १३०४ ई० है अर्थात् प्रभावक चरित के २७ वर्ष पश्चात् प्रबंध चिंतामणि की कथा में मानतुंग के दिगम्बर से श्वेताम्बर बनने, उनके दिगम्बर नाम व गुरुनाम और श्वेताम्बर गुरु एवं शिष्य के नाम तथा समाधि मरण आदि का भी उल्लेख नहीं है। राजा के मंत्री का भी जिक्र नहीं है—जैनी प्रजा ने मानतुंग को बुलाया बताया है।

४—गुणाकार सूरि ने अपनी भक्तामर स्तोत्र वृत्ति (१३७० ई०) में भी प्रबन्धचिंतामणि के अनुसार कथा दी है, किन्तु राजा का नाम वृद्धभोज लिखा है और मयूर एवं बाण को श्वसुर दामाद लिखा है। घटनास्थल उज्जयिनी ही लिखा है।[1]

---

१. जैकोबी, विन्टरनित्स और डा० नेमिचंद्र ने भी गुणाकर की कथा का उल्लेख किया है।

५—ब्रह्म रायमल्ल वर्णी कृत 'भक्तामर स्तोत्र वृत्ति' (१६१० ई०)[१] में कथावतार के रूप में दी गई कथा का घटना स्थल धारा नगरी है, राजा का नाम भोज है, राजा के जैन मंत्री का नाम मतिसागर है। राज सभा के कवि कालिदास द्वारा कालिका के आराधन से अपने कटे हुए हाथ पैरों को जोड़ना, कवि माघ द्वारा सूर्योपासना से अपना कुष्ट दूर करना और कवि भारवि द्वारा अम्बिका की अराधना से अपना भग्नोदर ठीक करना जैसे चमत्कारों से राजा-प्रजा के अत्यन्त प्रभावित होने पर मंत्री ने अपने गुरु मुनिराज मानतुंग से, जो उस समय विहार करते हुए धारा आ पहुंचे थे, राजसभा में कोई अद्भुत चमत्कार दिखाकर धर्म की प्रभावना करने की प्रार्थना की। फलत: उन्होंने ४८ सांकलों से स्वयं को खूब जकड़वा कर और एक के भीतर एक ताला बंद ४८ कोठरियों में बंदी करवा कर भक्तामर स्तोत्र की रचना की जिसके प्रभाव से वह सब ताले टूट गये और मुनिराज बंधनों से मुक्त होकर राज सभा मे आ विराजे। धर्म की अभूतपूर्व प्रभावना हुई।

६—भट्टारक विश्वभूषण कृत भक्तामर चरित[२] (१६६५ ई०) मे वर्णित कथा के अनुसार राजा भोज है, घटनास्थल उज्जयिनी है, राजकवि कालिदास हैं। उसी नगर मे नाममाला के कर्ता जैन महाकवि धनञ्जय रहते हैं जो नगरसेठ सुदत्त के पुत्र मनोहर को विद्याभ्यास कराते हैं। धनञ्जय के गुरु कर्णाटक निवासी दिगम्बराचार्य मानतुग है। राजसभा में कालिदास और धनञ्जय के बीच शास्त्रार्थ होता है। अन्तत: मानतुंग बुलाये जाते हैं और उनके द्वारा ४८ श्लोकी भक्तामर स्तोत्र की रचना के फल स्वरूप बंधन मुक्त होने का ऊपर जैसा चमत्कार वर्णित है।

कवि विनोदी लाल, भ० सुरेन्द्रभूषण, नथमल बिलाला, जयचंद छावडा आदि कई अन्य विद्वानों ने भी भक्तामर स्तोत्र के अवतार की कथा दी है[३], किन्तु वह उपरोक्त नं० ५ व ६ जैसी ही प्राय: है।

इन सभी विभिन्न कथाओं मे समान तत्त्व मात्र इतना ही है कि मानतुंग

---

१. पं० उदयलाल काशलीवाल द्वारा अनुवादित तथा जैन साहित्यक प्रसारक कार्यालय बम्बई से प्रकाशित चतुर्थ संस्करण १६३०—"ब्र० रायमल्ल कृत सस्कृत भक्तामर कथा का हिन्दी रूपान्तर।"

२. यह कथा प० नाथूराम प्रेमी ने भक्तामर स्तोत्र (१६१६ ई०) की भूमिका मे प्रकाशित की थी, अन्यत्र भी कई जगह प्रकाशित है।

३. देखिये शोधांक २६ पृ० २१६।

नाम के एक महान जिनभक्त, महा कवि एवं मुनिराज ने ऐसे अद्वितीय भक्तामर स्तोत्र की रचना की थी जिसके चमत्कारित्व की ख्याति ११ वीं शती ई० से ही पर्याप्त हो गई थी और दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदायों में वह अत्यधिक लोकप्रिय होता गया। स्तोत्र के प्रभाव से स्तोता की बन्धन मुक्ति होना भी समान रूप से मान्य किया गया। यह घटना किसी राजा की राज-सभा में हुई हो, यह संभव है। इसके अतिरिक्त प्रायः अन्य सब तथ्य घटना स्थल, राजा का नाम, अन्य जैन गुरुओं एवं श्रावकों के नामादि, जैनेतर कवियों आदि के नाम आदि, बहुधा परिचित होने पर भी समय एवं स्थानादि के इतने अंतर लिए हुए हैं कि उनकी ऐतिहासिकता विश्वसनीय नहीं है। जैकोबी, विंटरनित्स, पं० दुर्गाप्रशाद आदि प्रायः सभी प्राच्यविद और अनेक जैन विद्वान भी प्रायः इसी मत के हैं। वस्तुतः, जैसा कि डा० हर्मन जैकोबी का कहना है कि भक्तामर स्तोत्र के अवतार विषयक कथानकों में से क्योंकि एक भी किसी अन्य से अधिक प्रामाणिक नहीं है, उनके नाम-समयादि विषयक पारस्परिक विरोध यह सूचित करते हैं कि उक्त कथानकों का कोई ठोस ऐतिहासिक आधार नहीं था। जब तक वैसा कोई आधार अथवा प्राचीन ग्रंथों में स्पष्ट पूर्वापर उल्लेख प्राप्त नहीं होते, हम यही कह सकते हैं कि उक्त अनुश्रुतियों के प्रारंभ काल तक मानतुंग की ख्याति एक प्राचीन जैनाचार्य के रूप में स्थापित हो चुकी थी। इसके अतिरिक्त 'भक्तामर' तो स्वयं ऐसा अमूल्य रत्न है जिसे चमकाने के लिये उसे काल्पनिक कथानकों की खोटी धातु में जड़ने की आवश्यकता ही नहीं है।

मानतुंग

मानतुंग नाम के जिन विभिन्न जैन गुरुओं आदि के उल्लेख प्राप्त होते है, वे निम्नोक्त हैं :—

१—मानतुंगसूरि—जिनका उल्लेख 'सातवाहन के सभासद' के रूप में मुनि रत्नसूरि कृत अममस्वामि चरित (११६९ ई०) की प्रशस्ति में किया गया है। 'सातवाहन' से सतसईकार हाल या शालिवाहन का अभिप्राय हो तो इनका समय प्रथम शती ई० होगा। यों सात वाहनों का राज्य ३री शती के अन्त तक चला है अतः इन मानतुंग का समय (तीसरी शती ई० भी हो सकता है।

२—मानतुंगसूरि—जो श्वेताम्बर खरतर गच्छ पट्टावलि में नं० २३ पर उल्लिखित हैं और मानदेव के शिष्य तथा वीर के गुरु थे। इसे पट्टावलि

में चंद्रकुल के संस्थापक चन्द्र का नं० १८ है और समन्तभद्र का नं० १६ है। क्योंकि मानदेव का समय २५० ई० के लगभग माना जाता है, इन मानतुंग का समय ३०० ई० के लगभग हुआ।

(३) मानतुंगसूरि—जो तपागच्छ पट्टावलि में नं० २० पर है उल्लिखित हैं उसमें समन्तभद्र का नं० १६ है और चन्द्र का नं० १५—इसमें भी गुरु मानदेव और शिष्य वीर ही हैं।

(४) मानतुंगसूरि—जो देवर्धिगणी (४५३ या ४६६ ई०) के सम सामयिक वीर के गुरु थे—अतः उनका समय लगभग ४५० ई० है।

(५) मानतुंग—जिन्हें एक पट्टावलि में 'मालवेश्वर चौलुक्य वयरसिंह देवमात्य' कहा है। मालव नरेशों में चौलुक्य वयरसिंह तो कोई नहीं हुआ, किन्तु परमार वंश में दो वैरिसिंह हुए हैं। वैरिसिंह प्रथम धारा के परमार वंश संस्थापक कृष्ण उपेन्द्र का उत्तराधिकारी था। कृष्ण उपेन्द्र एक अनुश्रुति के अनुसार ७४३ ई० में और दूसरी के अनुसार ८२५ ई० में हुआ। अतएव वैरिसिंह प्र० का तथा उसके अमात्य मानतुंग का समय ७५० ई० या ८५० ई० के लगभग हुआ। वैरिसिंह द्वितीय ९५० ई० में हुआ है—यदि उल्लिखित मानतुंग इसके आमात्य रहे तो उनका समय ९५० ई० के लगभग हुआ।

(६) मानतुंग—जो मोहनविजय कृत मानतुंग—मानवती राग और तिलकविजय कृत मानतुंग—मानवती चरित का नायक है, और अवन्ती का राजा था।

(७) मानतुंग—भयहर अपरनाम नमिऊणस्तोत्र (प्राकृत) के कर्त्ता। स्तोत्र पार्श्वनाथ की स्तुति रूप है और अंतिम पद्य में मानतुग की छाप है।—

'जो पढई जोय निसुणई ताणं कइणो य माणतुंगस्स' इसे भक्तामरकार की ही कृति प्रायः मान लिया गया है। किन्तु यह अनुमान मात्र ही है।

(८) मानतुग सूरि—चतुगच्छीय अथवा वटगच्छीय शीलगुणसूरि के शिष्य, पूर्णिमा शाखा के गच्छपति, मलयप्रभसूरि (१२०३ ई०) के गुरु, विनयचन्द्रसूरि १२२९-१२८८ ई०) के दादा गुरु और 'सिद्ध जयन्ती' (अपरनाम जयन्ती चरित्र, जयन्ती प्रकरण, जयन्ती प्रश्नोत्तर) के रचयिता। इन मानतुंगसूरि का समय १२०० ई० के लगभग होना चाहिये।

(९) मानतुंगसूरि—चन्द्रगच्छीय जो रत्नप्रभसूरि के शिष्य थे और जिन्होंने १२७५ ई. में श्रेयांसनाथ चरित् की रचना की थी।

(१०) मानतुंग—भक्तामर स्तोत्र के रचयिता।

उपरोक्त दश मानतुंगों में से नं० ८ और ९ इतिहास सिद्ध हैं और उनमें

से कोई भी भक्तामर कार नहीं हो सकता। नं० ६ काल्पनिक प्रतीत होते हैं। नं० ७ भयहर स्तोत्र के कर्ता मानतुंग नं० ४ या नं० ५ में से किसी एक से अभिन्न हो सकते हैं—दोनों से स्वतंत्र कोई तीसरे मानतुंग भी हो सकते है। नं० १ से ३ तक अभिन्न प्रतीत होते हैं। विन्टरनित्स ने यह संभावना व्यक्त की है कि भक्तामरकार क्लासिकल संस्कृत युग के कवि होने चाहिये—उनकी भाषा और शैली के आधार पर। जैकोबी का झुकाव भी उन्हें ७वीं शती ई० के लगभग रखने का है। मयूर, बाण और धनञ्जय का समीकरण भी इसी समय का समर्थन करता है। हमने भी अन्यत्र[1] भक्तामरकार मानतुंग का समय ७वीं शती ई० ही निर्धारित किया है। पं० अमृतलाल जी ने[2] पूर्वापर प्रभावों का विश्लेषण करके प्रदर्शित कर दिया है कि १२वीं शती के उपरान्त कई विद्वानों ने भक्तामर के पद्य उद्धृत किये हैं। कल्याणमन्दिर स्तोत्र पर तो भक्तामर का स्पष्ट प्रभाव सभी विद्वानों ने स्वीकृत किया है। अभिमानमेरु पुष्पदन्त के शिवमहिम्नि स्तोत्र (१०वीं शती) जिनसेन स्वामि के आदिपुराण (९वीं शती) हरिभद्रसूरि की शास्त्र वार्ता समुच्चय (८ वीं शती) पर भी भक्तामर का प्रभाव कहीं कहीं लक्षित होता है। यह भी सुस्पष्ट है कि भक्तामरकार वैदिक या ब्राह्मणीय साहित्य से भलीभांति परिचित था और उसके संस्कारों से भी किंचित प्रभावित था।[3]

इन सब तथ्यों के परिपेक्ष्य में हमें तो ऐसा लगता है कि मानतुंग मूलत: एक ब्राह्मण धर्मानुयायी विद्वान और सुकवि थे। जैनधर्म से आकृष्ट होकर वह एक जैन श्रावक बने, संभवतया किसी श्वेताम्बर सज्जन (स्त्री या पुरुष) की प्रेरणा से। तदनन्तर संभवतया कर्णाटक के किसी दिगम्बराचार्य के प्रभाव से वह दिगम्बर मुनि हो गये। परम विद्वान होते हुए भी वह मूलत: एवं स्वाभावत: एक भक्त हृदय सुकवि थे। कोई साम्प्रदायिक मोह या पक्ष उन्हें नहीं था। वह तो मात्र जिनभक्त थे। मयूर, बाण, धनञ्जय आदि सुप्रसिद्ध कवि भी ७ वीं शती ई० के ही है और उनसे इनका सम्पर्क हुआ या रहा हो, यह संभव है। राजशेखर (१० वीं शती ई०) ने मातङ्ग दिवाकर नाम से मयूर एवं बाण के साथ हर्ष की सभा को सुशोभित करने वाले सुकवि के रूप

---

१. डा. ज्योतिप्रशाद जैन — जैनासोर्सेज आफ दी हिस्टरी आफ एन्शेन्ट इन्डिया दिल्ली १९६४ पृ० १६९-१७०।

२. पं० अमृतलाल शास्त्री, पूर्वोक्त, पृ० १७-१८

३. वही, पृ० ७-८

में इनका उल्लेख किया है या किसी अन्य का, यह कहा नहीं जा सकता। मातङ्ग शब्द से उसके चाण्डाल होने की किंवदन्ती कल्पना मूलक लगती है। 'दिवाकर' शब्द प्रशंसा सूचक भी हो सकता है, किन्तु क्योंकि एक प्रमुख श्वेताम्बराचार्य 'दिवाकर' उपनाम से प्रसिद्ध होगये तो मानतुङ्ग के साथ भी कुछ लोगों ने 'दिवाकर' शब्द जोड़ दिया। लेखक की असावधानी से मानतुङ्ग का मातङ्ग हो गया हो तो राजशेखर के मातंग मानतुंग हो सकते है। एक वीरदेव क्षपणक नामक दिगम्बर मुनि का भी हर्षवर्द्धन (६०६-६४७ ई०) के समय में और बाण का मित्र होना पाया जाता है।[1] संभव है मानतुङ्ग उक्त वीरदेव के शिष्य या गुरु रहे हों। धनञ्जय के भी वह गुरु रहे हो सकते हैं। अतएव भक्तामरकार मानतुङ्ग मुनि का समय लगभग ६००-६५० ई. माना जा सकता है।

भक्तामर-साहित्य

भक्तामर स्तोत्र विषयक साहित्य अति विपुल एवं वैविध्य पूर्ण है।

१—लगभग ७०० ई० से १३०० ई० पर्यन्त के कई सुप्रसिद्ध साहित्यकारों की कतिपय रचनाओं में भक्तामरस्तोत्र का परोक्ष या प्रत्यक्ष प्रभाव दृष्टि गोचर होता है।

२—क्रिया कलाप टीका (ल० १०२५ ई०) प्रभावक चरित (१२७७ ई०) प्रबन्ध चिन्तामणि (१३०४ ई०) प्रबन्धकोश (१३४८ ई०) गुणाकर कृत भक्तामर वृत्ति एवं कथा (१३७० ई०) ब्र० रायमल्ल कृत भक्तामर स्तोत्र वृत्ति १६१० ई०) भ० विश्वभूषण कृत भक्तामर चरित्र (१६६५ ई०) विनोदीलाल कृत भक्तामर चरित कथा (१६९० ई०) भ० सुरेन्द्र भूषण कृत भक्तामर कथा (१७४० ई०) नथमल बिलाला एवं लालचन्द कृत भक्तामरस्तोत्र ऋद्धि मंत्र काव्य छन्द कथा (१७७२ ई०) जयचन्द छाबड़ा कृत भक्तामर चरित (१८१३ ई०) आदि कई ग्रंथों में मुनि मानतुङ्ग द्वारा भक्तामर स्तोत्र के आविर्भाव एवं चमत्कार की कथा दी हैं। गुणाकर ने २६ पद्यों के माहात्म्य की सूचक प्रथक २ छब्बीस कथाएँ भी दी हैं। उसके बाद के लेखकों ने अड़तालीसों पद्यों की प्रथक २ कथाएँ दी हैं। प्रत्येक श्लोक से सम्बद्ध ऋद्धि मंत्र और यंत्र भी रायमल्ल बिलाला, आदि कई लेखकों ने दिये हैं। शुभशीलगणि (१४५२-६४ ई०) ने भी एक भक्तामर स्तोत्र महात्म्य लिखा है।

---

१. डा० ज्योतिप्रसाद जैन, वही, पृ० १६६

३—भक्तामर-स्तवन-पूजन साहित्य मे भट्टारक सोमसेन का भक्तामरोद्यापन (१४८४ ई०), भ० ज्ञानभूषण कृत भक्तामरोद्यापन (१५८० ई०) श्री भूषण शिष्य ज्ञानसागर कृत भक्तामर पूजन (१६१० ई०) रत्नचन्द्र गणि कृत भक्तामर स्तव (१६१७ ई०) ब्रह्म ज्ञानसागर की भक्तामर-स्तवन-पूजन (१६२५ ई०) यह ज्ञानसागर भ० लक्ष्मीचन्द्र के शिष्य थे। आदि उल्लेखनीय है। मुनि मेरुचन्द्र की भी एक भक्तामर स्तोत्र पूजन है।

४—भक्तामर स्तोत्र की वृत्तियों-टीकाओं में– गुणाकर (१३७० ई०) की वृत्ति, मुनिनागचन्द्र की पंचस्तोत्र टीका के अंतर्गत भक्तामर स्तोत्र टीका (१४७५ ई०) ब्र० रायमल्ल (१६१० ई०) की वृत्ति, पाडे हेमराज (१६५२ ई०) की गद्य वचनिका और पं० शिवचंद्र (१८३४ ई०) की पंच स्तोत्र टीका प्रसिद्ध हैं। आधुनिक बीसियों हैं।

५—भक्तामरस्तोत्र के पुरातन हिन्दी पद्यानुवादों मे सर्व प्रसिद्ध पाडे हेमराज का है। पं० धनराज व अन्य कई विद्वानों के भी हिन्दी पद्यानुवाद मिलते हैं। गुजराती और मराठी मे भी स्तोत्र के पद्यानुवाद हुए बताये जाते है उर्दू भाषा मे गुलजारे तखय्युल या रूबाइयाते दरख्शा शीर्षक से बा० भोलानाथ दरख्शा ने भक्तामर स्तोत्र का सुन्दर अनुवाद १९२५ ई० मे किया था। जर्मन भाषा मे डा० जैकोबी ने और अग्रेजी मे शार्लोट क्राउजे, एच० आर कापड़िया आदि कई विद्वानों ने पद्यानुवाद किये हैं। आधुनिक हिन्दी मे गिरधर शर्मा, उदयलाल काशलीवाल, नाथूराम प्रेमी, नाथूराम डोगरीय आदि के प्रारंभिक पद्यानुवाद हैं। तदनन्तर पचासों अन्य रचे गये।

६—भक्तामर की पादपूर्ति या समस्या पूर्ति के रूप मे भी सस्कृत मे लगभग बीस पच्चीस काव्य रचे गये[1] इनमे सिहसघ के मुनि धर्मसिह के शिष्य मुनि रत्नसिह का 'प्राणप्रिय काव्य' अति सुदर है। यह ४८ श्लोकी काव्य १२ वी १३ वी शती मे रचा गया प्रतीत होता है यह नेमि भक्तामर भी कहलाता है। अन्य उल्लेखनीय पादपूर्ति काव्य है—ऋषभ-भक्तामर (समय सुन्दर) शान्ति भक्तामर (लक्ष्मी विमल), नेमि भक्तामर (भावप्रभ सूरि), दादा पार्श्व भक्तामर (राज सुन्दर), पार्श्व भक्तामर (विनय लाभ), वीर भक्तामर (धर्मवर्द्धन), सरस्वती भक्तामर (धर्मसिह), जिन-भक्तामर (अज्ञात) आदि। आधुनिक युग मे भी मुनि आत्मराय का आत्म-भक्तामर,

१. अगरचन्द नाहटा—भक्तामर स्तोत्र के पादपूर्ति रूप स्तव-काव्य (श्रमण सितम्बर १९७० पृ० २५-२९)

चतुरविजय का सुरेन्द्र भक्तामर, विबुधविजय का श्रीवल्लभ-भक्तामर, मुनि कानमल का कालू भक्तामर आदि उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त पं० गिरधर शर्मा का समग्र-पाद पूर्ति काव्य और पं० लालारामजी शास्त्री की भक्तामर शतद्वयी पर्याप्त महत्वपूर्ण हैं।

७—विभिन्न दिगम्बर एवं श्वेताम्बर शास्त्र भंडारों में भक्तामरस्तोत्र की सैकड़ों हस्तलिखित प्रतियां मिलती हैं, जिनमें से कुछ की प्राचीनता १२ वीं १३ वीं शती ई० तक पहुंचती है। स्तोत्र की कई मध्य कालीन प्रतियां सचित्र भी हैं और अति सुन्दर हैं (देखिये श्रमण फरवरी ७१ पृ० १३-१६ और मई ७३ पृ० २१-२४—नाहटाजी के लेख) पंडित कटारिया जी ने अपने निबंध में स्तोत्र के कई पाठों के संशोधन भी सुझाये हैं।

८—आधुनिक युग में भक्तामर स्तोत्र सुप्रसिद्ध काव्य-माला के सप्तम गुच्छक में प्रकाशित हुआ था। पीटरसन और भंडारकर की रिपोर्टों तथा वेलङ्कर के जिनरत्नकोश में उसका उल्लेख है। जैनस्तोत्र संग्रह, जैन स्तोत्र संदोह, जैनस्तोत्र समुच्चय जैसे कई संकलन निकले हैं, जिन सब में भक्तामर स्तोत्र को उचित स्थान दिया है। जर्मन और अंग्रेजी भाषाओं में भी भक्तामर स्तोत्र के स्तरीय अनुवाद, विवेचन आदि प्रकाशित हो चुके हैं। गुजराती, मराठी, आदि भाषाओं में भी हुए है। हिन्दी भाषा में तो भक्तामर स्तोत्र के सैकड़ों संस्करण, मूल मात्र, पद्यानुवाद, अथवा गद्यानुवाद, व्याख्या आदि सहित कथाएँ, मंत्र-यंत्र सहित पूजन उद्यापन आदि रूप से प्रकाशित हो चुके हैं।

प्रस्तुत-संस्करण

स्तोत्रराज 'भक्तामर' के काव्य-माधुर्य, साहित्यिक सुषमा, भाव गांभीर्य, महत्व और माहात्म्य का सम्यक् परिचय पाठकों को प्रस्तुत संस्करण 'सचित्र भक्तामर रहस्य' के अवलोकन से होगा। विद्वद्वर्य पं० कमल कुमार जी शास्त्री बड़े अध्यवसायी, अनुभवी, धार्मिक एवं कवि हृदय मनीषी हैं। उन्होंने बड़े परिश्रम से इस संस्करण को सर्वांग पूर्ण बनाने का सत्प्रयास किया है। प्राय: कोई भी अंग या पक्ष छूटने नहीं पाया है। एतदर्थ वह एवं उनके सहयोगी आशुकवि श्री फूलचन्द जी पुष्पेन्दु भी बधाई के पात्र हैं। हमने भी इस प्रस्तावना रूपी 'आविर्भाव' में जैनी भक्ति, जैन स्तोत्र साहित्य, भक्तामर और उसके रचयिता आचार्य मानतुङ्ग, भक्तामर संबंधी साहित्य आदि उपयोगी विषयों पर क्वचित् संक्षेप में ऊपर जो विवेचन किया है, आशा है,

वह भी स्तोत्र के मूल्यांकन में सहायक होगा। हम मित्र वर पंडितजी के आभारी हैं कि उनके स्नेह पूर्ण आग्रह का सुयोग पाकर इस संस्करण की उपयोगिता वृद्धि में योग दे सके। इस ग्रन्थ रत्न के प्रकाशन का भार सहर्ष वहन करके लाला भीकमसेन रतनलाल जी जैन दिल्ली निवासी ने धर्म प्रभावना का जो कार्य किया है उसके लिये वह भी धन्यवादार्ह है।

आशा है प्रस्तुत सचित्र भक्तामर रहस्य के प्रकाशन से इस महान स्तोत्र का लोक प्रियता एवं प्रचार में वांछनीय अभिवृद्धि होगी।

ज्योति निकुंज
चार बाग, लखनऊ-१
१ जून १९७७ ई०

—(डा०) ज्योतिप्रसाद जैन

रहस्योद्घाटन

जो परम गुप्त, नितान्त छिपा हुआ, अत्यन्त भेदपूर्ण, गौण और अव्यक्त तो अवश्य है, परन्तु उतनी ही सत्यता से जो त्रैकालिक अस्तित्वमयी अभेद सहज तथा परम प्रकट भी है—ऐसे मुख्य गूढ़ तत्त्व को—अंतर के मर्म को—"रहस्य" कहते है !

तिल में तेल बास फूलन में
त्यों घट में घट नायक गायो

की भांति उस अमर तत्त्व को देखा भी जा सकता है। परन्तु चाक्षुष नेत्रों से नहीं, बल्कि स्व-समयवर्ती साधनाजन्य अनुभूति से अथवा क्रमवर्ती प्रयोग जन्य स्वानुभूति से। द्रव्यदृष्टि वाले तो उसका दर्शन सदैव करते हैं। पर्याय दृष्टि वाले को वह हमेशा अगोचर ही है। क्योंकि पर्यायदृष्टि वाला देखने वाले को नहीं देखता, दिखने वाले को ही देखता है। स्वयंदृष्टा बनकर नहीं देखता वरन दृश्य बन कर देखता है। बस······देखने ही देखने में अंतर है। जो स्वयं दर्शनमयी है- वह भला दूसरों को क्या देखेगा ? दूसरे ही उसमें दिखते रहें तो दिखते रहे। दर्पण हमको देखने नहीं आता। हम ही दर्पण को देखने जाते है और दिख जाते हैं। यही वह दार्शनिक रहस्य है जिसे आध्यात्मिक मर्म के नाम से पुकारा जाता है। इसी रहस्य के उद्घाटन के लिए जिनेन्द्र और गणधरों से लेकर इन्द्र बृहस्पति और आचार्य अपनी पूरी सरस्वती उड़ेलते रहे, फिर भी वह तत्व वाणी विकल्प की पकड़ से बाहिर ही रहा। इसीलिए तो कहना पड़ा कि—

"गणधर इन्द्र न कर सकें, तुम विनती भगवान।"

तो भी केवल रहस्य के समीचीन दर्शनाभिलाषियों विवेकियों और अनुभवियों ने उससे सदैव ही साक्षात्कार किया है। क्योंकि वे मन वचन कर्म की पर्तों को भेद कर उनसे परे तत्त्व की, अनुभूति लेते रहे—अपने को देखते रहे और अपने में डटे रहे। उसी परमात्मतत्त्व का साक्षात्कार करने-कराने के लिए श्रीमदाचार्य मानतुङ्ग जी ने भाव केन्द्रित भक्तामर काव्य की वचनात्मक रचना की। इसमें उनकी आत्मीय एकाग्रता ने आत्मानुभूति का जो अतीन्द्रिय आनन्द उठाया वह हमें भी अभी भक्ति के क्षणों में देने के लिए भक्तामर काव्य के रूप में प्रस्तुत है। जिस रहस्य को आचार्यश्री ने भक्तामर काव्य

रचना के माध्यम से पाया उसी रहस्य को पाने के लिए यद्यपि हमने भी भक्तामर काव्य के आश्रय को अपनाया तो है परन्तु हम इतने विलम्बित मति हैं कि श्री मानतुङ्ग जी की सूत्रीय गंभीर गिरा को झेलने में हमारा आत्मीय पात्र सर्वथा असमर्थ रहा। फलतः भाष्यों की अटवी में उस रहस्य को खोजने निकले हैं। शायद किन्हीं सम्यक् दृष्टियों-विवेकियों और अनुभवी विद्वज्जनों को वह इसी माध्यम से वह मिल जावे।

इस प्रकार भक्तामर के गूढ तत्त्व को या रहस्य को उद्घाटित करने का भरसक प्रयास तो हमने विविध प्रकार से अवश्य किया है परन्तु उसकी प्राप्ति अपनी अपनी आस्था और साधना पर ही निर्भर है। यही कारण है कि इस ग्रंथ को हमने भक्ति-योग के साथ ही साथ ज्ञानयोग और कर्मयोग से भी समन्वित किया है। अर्थात भावना-अराधना और साधना का केन्द्र बिन्दु मानकर ही हमने "सचित्र भक्तामर रहस्य" नाम से यह महान् ग्रंथ सम्पादित किया है।

भक्ति क्या है ? इसका विशद विवेचन विद्यावारिधि इतिहास रत्न डा० ज्योतिप्रशाद जी जैन ने इसी ग्रन्थ के प्रारंभिक पृष्ठों में "आविर्भाव" शीर्षक से किया है। अतएव उसकी पुनरावृत्ति न करके जिनेन्द्र भक्ति के माहात्म्य को प्रदर्शित करने वाली कोटि २ सूक्तियों से केवल ८-१० श्लोक ही हम यहां उद्धृत कर रहे है—

विघ्नौघाः प्रलयं यान्ति शाकिनी भूत पन्नगाः।
विषं निर्विषतां याति स्तूयमाने जिनेश्वरे ॥

जिनेन्द्रदेव की स्तुति करने से विघ्नों का समुदाय और शाकिनी-डाकिनी-भूत-प्रेत-सर्प आदि के भयकर उपद्रव सहसा नाश हो जाते है, यही नहीं वरन पिया हुआ विष भी निर्विषता को धारण करता है। इसी की पुष्टी षट्खंडागम की धवला टीका में की गई है—

विघ्नाः प्रणश्यन्ति भयं न जातु, न क्षुद्र देवाः परिलंघयन्ति।
अर्थान्यथेष्टांश्च सदा लभन्ते, जिनोत्तमानां परिकीर्तनेन ॥

जिनवर के गुणों का कीर्तन करने से विघ्न नाश होते है भय दूर भागता है, दुष्ट देवता आक्रमण नहीं करते और हमेशा अभीष्ट वस्तु की प्राप्त होती है।

दशभक्तयादि संग्रह में पूज्यपादाचार्य ने कहा है—

यथा निरर्थेतमाधिचन्ता मणि-कल्प महीरुहाः।
स्वपुण्यानुसारेण तथाभीष्ट फलप्रदाः ॥

तथाऽर्हन्नपि वीतरागद्वेष प्रर्थतः ।
भक्त भक्तयनुसारेण स्वर्ग-मोक्ष फल प्रदाः ॥

यद्यपि चिन्तामणि रत्न तथा कल्पवृक्ष अचेतन हैं तथापि पुण्य-पुरुषों को उनके पुण्य के अनुसार विविध प्रकार के अभीप्सित फल देते हैं। तदनुसार वीतराग देव राग द्वेष रहित होते हैं, तो भी वे भक्तों को उनकी भक्ति के अनुसार स्वर्गमोक्ष के अनुपम सुख को देते हैं।

भक्तामर स्तोत्रकार श्री मानतुङ्गाचार्य ने कहा है :—

आस्तां तव स्तवनमस्तसमस्तदोषं-
त्वत्संकथापि जगतां दुरितानि हन्ति ।
दूरे सहस्रकिरणः कुरुते प्रभैव
पद्माकरेषु जलजानि विकासभाञ्जि ॥

प्रभो ! आपकी निर्दोष स्तुति तो दूर रहे, किन्तु आपकी पवित्र कथा का सुनना ही संसार के सब पापों को नाश कर देता है। ठीक ही तो है—सूर्य दूरातिदूर रहने पर उसकी किरणें सरोवरों में कमलों को प्रफुल्लित कर देती हैं।

कल्याण मन्दिर स्तोत्र में श्री कुमुदचन्द्राचार्य जी कहते हैं—

त्वं तारको जिन ! कथं भविनां त एव,
त्वामुद्वहन्ति हृदयेन यदुत्तरन्तः ।
यद्वा दृतिस्तरति यज्जलमेष नून
मन्तर्गतस्य मरुतः स किलानुभावः ॥

हे जिनेन्द्र ! जिस तरह अपने भीतर भरी हुई पवन के प्रभाव से चर्म-मसक पानी के ऊपर तैरती हुई किनारे लग जाती है, उसी तरह मन-वचन-काय से आपको अपने मन-मन्दिर में विराजमान कर आप का ही चिन्तन करने वाले भव्यजन संसार सागर से बिना बाधा के पार लग जाते हैं।

ध्यानाज्जिनेश ! भवतो भविनः क्षणेन,
देहं विहाय परमात्मदशां व्रजन्ति ।
तीव्रानलादुपल - भावमपास्य लोके,
चामीकरत्वमचिरादिव धातुभेदाः ॥

हे जिनेश ! जैसे संसार में जिन धातुओं से सोना बनता है वे धातुएँ तेज अग्नि के ताव से अपने पूर्व पाषाण रूप पर्याय को छोड़ कर स्वर्ण बन जाती है वैसे ही आपके ध्यान से संसारी जीव क्षणमात्र में तन त्याग कर परमात्मावस्था को प्राप्त हो जाते हैं।

विषापहार स्तोत्र में महाकवि धनञ्जय जी कहते हैं—

तुंगात्फलं यत्तदकिंचनाच्च,
प्राप्यं समृद्धान्न धनेश्वरादेः ।
निरम्भसोऽप्युच्च तमादिवा द्रे—
नैकापि निर्याति धुनी पयोधेः ॥

हे प्रभो ! आप के पास कुछ भी परिग्रह नहीं है—अकिंचित कर हैं, फिर भी आप सब से महान् हैं—बड़े हैं इस कारण आप से लोगों के अनेक प्रकार के मनोरथ प्राप्त होते हैं जो कि तथा कथित लक्ष्मीनारायणों से प्राप्त नहीं हो सकते हैं। जैसे- पर्वतों में जलाभाव है किन्तु समतल भूमि से अधिक ऊँचे हैं इस कारण से उनसे ही नदियां निकलती हैं; जल से लबालब भरे हुए समुद्र से नदी नहीं निकलती हैं। इसी प्रकार वीतराग अरहंत प्रभु के ध्यान के प्रसाद से लौकिक और पारमार्थिक दोनों प्रकार के मनोरथ पूर्ण होते हैं।

जिनेन्द्र प्रभु की भक्ति के माहात्म्य का सुफल संसार बन्धन से विलग होकर जन्म-मरण रहित परमात्मा का बन जाना है। भगवद्भक्ति से सांसारिक भोग सामग्री का मिलना उसी प्रकार है जैसा कि गेहूं के खेत में बिना बोये घास फूस का उत्पन्न होना।

क्षत्रचूड़ामणि के रचयिता वादीभसिंह सूरि कहते हैं—

जन्म जीर्णाटवी मध्ये जनुषान्धस्य मे सती।
सन्मार्गे भगवत् भक्ति, भंवितान्मुक्तिदायिनी ॥

हे प्रभो ! मैं जन्म-रूपी जीर्ण जंगल मे जन्मान्ध होकर परिभ्रमण कर रहा हूँ—ठोकरें खाता फिर रहा हूं। अतएव सन्मार्ग दिखाने वाली आपकी भक्ति मेरे लिये समीचीन मुक्ति को देने वाली हो।

पद्मपुराण के रचयिता रविषेणाचार्य ने लिखा है—

वंदनं यो जिनेन्द्राणां, त्रिकालं कुरुते नरः !
तस्य भावं विशुद्धस्य, सर्वं नश्यति दुष्कृतं ॥

जो पुरुष त्रिकाल जिनेन्द्रदेव की वन्दना नमस्कार करता है उसके परिणाम अत्यन्त निर्मल हो जाते है और विशुद्ध परिणामों के होने से उसके समस्त पाप नष्ट हो जाते है। इत्यादि।

यह तो हुआ श्री मज्जिनेन्द्र देवाधिदेव भक्ति का अनुपम माहात्म्य। अब प्रथमानुयोग के आधार पर कोटि कोटि दृष्टान्तों में से कतिपय पौराणिक

एवं ऐतिहासिक उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं जो भक्ति योग के मूर्तिमान प्रयोग बनकर सर्वथा सिद्ध और प्रसिद्ध हुए :—

१—मानस्तम्भ विराजित चैत्यभक्ति से महामिथ्यात्वी प्रकाण्ड विद्वान् इन्द्रभूति ब्राह्मण को सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति अर्थात् सही दिशा का बोध हुआ तथा साक्षात् भक्ति से गणधर पद की प्राप्ति के पश्चात् मुक्ति प्राप्ति।

२—स्वामी समन्तभद्र एक स्थान पर जिनेन्द्र भगवान से प्रार्थना करते हैं :—

सु श्रद्धा मम ते मते स्मृतिरपि त्वय्यर्चनं चापि ते ।
हस्तावंजलये कथाश्रुतिरतः कर्णोऽक्षि संप्रेक्षते ॥
सुस्तुत्यां व्यसनं शिरोनतिपरं सेवेदृशी येन ते ।
तेजस्वी सुजनोऽहमेव सुकृती ! तेनैव तेजः पते ॥

हे भगवन् ! आपके मत में अथवा आप ही के विषय में मेरी प्रगाढ़ श्रद्धा है, मेरी स्मृति भी आपको ही अपना विषय बनाये हुये है अर्थात् आपका स्मरण मेरी आत्मा में सदा बना रहता है। मैं पूजन भी आप का ही करता हूं। मेरे हाथ आपको ही प्रणामाञ्जलि करने के निमित्त हैं, मेरे कान आप की ही पुण्य-कथा को सुनने में तल्लीन रहते हैं, मेरी आंखें आपके ही अनुपम रूप को एकटक देखती हुई नहीं अघाती, मुझे जो व्यसन है वह भी आपकी ही गुणावली को स्तुतियों के रूप में रचने का है और मेरा मस्तक भी आप को ही प्रणाम करने में तत्पर रहता है इस प्रकार मेरी सेवा है सुश्रूषा है जिसे मैं निरन्तर किया करता हूं इसलिए हे तेजपते ! मैं तेजस्वी हूं। सुजन हूं और पुण्यवान हूँ। अर्थात् हे प्रभो ! जो कुछ भी मेरी आत्मा में अतिशय प्राप्त हुआ है वह सब आप की भक्ति का ही माहात्म्य है।

यही कारण है कि अर्हद्भक्ति के दृढ़ सम्यक्त्व ने आचार्य समन्तभद्र जी को भ० वीरप्रभु के तीर्थ शासन को वृद्धिगत करने वाला प्रधान आचार्य या भावी तीर्थंकर घोषित किया है। चन्द्रप्रभ की मूर्ति प्रकटाकर जैन शासन की अभूतपूर्व प्रभावना की। लौकिक और अलौकिक चमत्कार प्रकट किये।

३—मुनिवर्य श्री वादिराज जी ने जो एकीभाव स्तोत्र द्वारा भक्ति भावनोप्रदर्शित की उसके फल स्वरूप उनका कुष्ट युक्त शरीर कंचन काया बन गया जिससे महती प्रभावना हुई।

४—धनञ्जय कवि का बालक विषधर द्वारा डसे जाने पर भी अर्हद्भक्ति की तल्लीनता द्वारा निर्विष होगया जिसमें धर्म का अभ्युदय हुआ एवं प्रभावना हुई।

५—आचार्य कुंदकुंद की सम्यक् भक्ति से अम्बिका देवी द्वारा दिगम्बर धर्म की सनातनता की पुष्टि की घोषणा हुई।

६—आचार्य कुमुदचन्द्र की सर्वोत्कृष्ट भक्ति के प्रभाव से शिव मूर्ति के स्थान पर भ० पार्श्वनाथ के बिम्ब का प्रादुर्भाव हुआ।

७—तद्भव मोक्षगामी जीवन्धरकुमार की अर्हद् आराधना के प्रताप से श्वान की तिर्यञ्च पर्याय से मुक्ति वा देवगति की प्राप्ति हुई।

८—आचार्य मानतुंग जी की अटूट भक्ति के परिणाम स्वरूप ४८ कारा-वास के एक के बाद एक लगातार ४८ ताले बन्द मजबूत दरवाजे टूटते गये!

९—जिनेन्द्र भक्ति के माहात्म्य से राजर्षि भरत को अवधिज्ञान की प्राप्ति हुई पश्चात् वैराग्य होते ही केवलज्ञान की उपलब्धि हुई।

१०—आचार्य पूज्यपाद जी को जिनेन्द्र भक्ति के प्रसाद से आश्चर्यकारी ऋद्धियों की प्राप्ति हुई।

११—रावण की जिनेन्द्र भक्ति से प्रसन्न होकर धरणेन्द्र ने उसकी सेवा वा सराहना की।

१२—स्वामी विद्यानन्द जी मुनि (पात्रकेशरि) की जिनभक्ति के फल स्वरूप शासनदेवी पद्मावती द्वारा लिखित पार्श्वपणावलि पर संशोधित श्लोक दृष्टिगत हुआ।

इनके अतिरिक्त सीताजी की अग्नि-परीक्षा, द्रौपदी जी की दुश्शासन द्वारा चीर-हरण से लज्जा निवारण, अंजन चोर का कर्मों से छुटकारा, ग्वाले की पर्याय से सेठ सुदर्शन की पर्याय मे आकर तद्भव मोक्षगामी होना, लाक्षागृह से पंच पाण्डवों की मुक्ति का होना, जिनेन्द्र पूजा को गमनोद्यत एक कूप मण्डूक तिर्यञ्च का राजा श्रेणिक के हाथी द्वारा शरीर वियुक्त होने पर देव पद की प्राप्ति आदि सहस्रों उदाहरण जिनेन्द्र भक्ति मे तल्लीन होने के है।

यहाँ एक शंका होती है कि वर्तमान मे जिन भक्तों को अभ्युदय निश्रेयस मे से किसी भी एक की प्राप्ति नही हो रही है—उसके उत्तर स्वरूप कल्याण मन्दिरस्तोत्रकार आचार्य कुमुदचन्द्र जी कहते है—कि—

आकर्णितोऽपि महितोऽपि निरीक्षितोऽपि,
नूनं न चेतसि मया विधृतोऽसि भक्त्या।
जातोऽस्मि तेन जन-बान्धव दुःख पात्रं,
यस्मात्क्रिया प्रति फलन्ति न भावशून्याः।

हे जन बान्धव! पहिले किन्हीं जन्मों मे मैंने यदि आपका नाम भी सुना हो, आपकी पूजा भी की हो तथा आपका दर्शन भी किया हो तो भी यह

निश्चय है कि मैंने भक्ति भाव से आपको अपने हृदय में भी कभी भी धारण नहीं किया। इसीलिये तो अब तक इस संसार में मैं दुःखों का पात्र ही बना रहा, क्योंकि भाव रहित क्रियायें फलदायक नहीं होतीं। अस्तु—

भक्ति-भावना के संबंध में यहां इतना कहना ही पर्याप्त होगा।

भक्तामर स्तोत्र को जिनेन्द्र भक्ति संबंधी अन्यान्य स्तोत्रों की तुलना में निःसन्देह सब से अधिक प्रसिद्धि प्राप्त है। इसका कारण जो भी हो भाषा या भाव का चमत्कार अथवा अभ्युदय और निःश्रेयस की उपलब्धि सम्बन्धी चमत्कार।

प्रस्तुत ग्रन्थ "सचित्र भक्तामर रहस्य" के प्रथम खण्ड को हमने "सार्थक चित्रालोक" नाम दिया है, क्योंकि इस शीर्षक का प्रत्येक शब्द सार्थक है अथवा इसमें जो ५० ऐतिहासिक मुगलकालीन भाव-चित्र दिये हैं वे प्रत्येक श्लोक के शब्दों को अपनी मूकभाषा में स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त करते हैं। एक बारगी ही चित्र को देखकर पूरे श्लोक का भाव अपढ़ से अपढ़ व्यक्ति को भी भाषित हो जाता है। ये मूर्तिमान चित्र ऐसी सजीव मूर्तियां हैं जिनके दर्शन-मात्र से सम्यग्दर्शन तथा सम्याज्ञान की प्राप्ति होती है। शास्त्र स्वाध्याय जैसा परावलम्बी निमित्त ढूढ़ने की भी आवश्यकता वहां नहीं रहती। चित्र तो सार्थक हैं ही स्तोत्र का प्रत्येक श्लोक भी अर्थ सहित है। भाव और भाषा दोनों दृष्टियों से। व्याकरणीय व्याख्या से युक्त प्रत्येक शब्द का अर्थ इसमें है, प्रत्येक वाक्य का अन्वय इसमें है। मूल श्लोक और उसका पद्यानुवाद उसमें है। हिन्दी भावार्थ तो इसमें है ही और है नई विधा में लिखा हुआ श्लोक गत आध्यात्मिक विशद विवेचन भी। ध्यान रहे कि विवेचन लिखने में पूज्य वर्णी सहजानन्द जी महाराज तथा श्री कान जी स्वामी के प्रवचनों का आश्रय भी लिया गया है। अन्यान्य टीकाकारों के भाष्यों का तो सहायक ग्रंथों के रूप में भरपूर उपयोग किया गया है। इस भाँति प्रथम खंड को सार्थक एवं रोचक बनाने में हमने अगाध परिश्रम किया है। अन्तर्राष्ट्रीय भाषा अंग्रेजी के दो उपलब्ध अनुवादों का समावेश भी इस आलोक की अपूर्व निधि है।

द्वितीय खंड 'सत्य कथालोक' के सुष्ठु नाम से विभूषित है। इसको रखने से जहाँ स्तोत्र की प्रामाणिकता और प्रायोगिकता को बल मिलेगा वहाँ रोचकता की दृष्टि से भी ग्रन्थ की लोकप्रियता में वृद्धि होने की उत्तरोत्तर संभावना से इन्कार नहीं किया जा सकता। प्रत्येक श्लोक संबंधी कथाएँ सत्य घटनाएँ हैं या मनगढन्त रचनाएँ—इसका निर्णय हम अपने ऊपर न लेकर आपके समक्ष वे ग्रन्थ साक्षी स्वरूप रखना उचित समझते है जिनके आश्रय से हमने इन

कथाओं को आधुनिक वेषभूषा मे सुसज्जित करके उन समस्त कहानी प्रेमियो के समक्ष रखा गया है जो तथाकथित सत्य कथाओं के पढने के शौकीन है। पौराणिक तथा ऐतिहासिक पात्र और घटनाएं भले ही किन्ही उर्वरा मस्तिष्को की उपज हों परन्तु जो उनमे आधुनिक तथ्य है उनके प्रथमानुयोग को नकारा नही जा सकता। कथा ग्रंथों की साक्षी स्वरूप ग्रथ निम्नानुसार है :—

(१) स्व० कविवर पं० विनोदीलाल जी कृत भक्तामर कथा सार

(२) श्री शुभचन्द्र भट्टारक कृत संस्कृत भक्तामर कथा

(३) श्री रामलाल जी ब्रह्मचारी कृत भक्तामर कथा इत्यादि।

भावनात्मक खण्ड के बाद सब से अन्त मे "सरस अर्चनालोक" शीर्षक से हमने भक्तामर स्तोत्र का आराधनात्मक पाँचवां खण्ड रखा है। इसमे संस्कृत भक्तामर महाकाव्य संस्कृत पूजन-विधान मंडल को युक्तियुक्त विधि से सजोया गया है। अनुष्ठानकों के लिए यह खण्ड अत्यधिक उपादेय है। भक्तामर के माहात्म्य गीत को 'अर्चनालोक' मे रखकर इसे अत्यन्त सरस बनाया गया है। वैसे तो मेरे पास सुसंग्रहीत भक्तामर स्तोत्र पूजा-विधान के तीन पाठ है तथापि उनमें सब से अधिक प्राचीन श्री सोमसेनाचार्य प्रणीत पाठ को इसमे रखा गया है।

अब रहे शेष 'दिव्य मन्त्रालोक' और 'विविध यन्त्रालोक' जो साधना खण्ड के अन्तर्गत आते है। इनके विषय मे बहुत कुछ कहना आवश्यक है क्योंकि मंत्र, यन्त्र और तंत्र आज के बुद्धिजीवी युग मे अपना स्थान भी नही बना पा रहे है। श्रद्धा और भक्ति के आस्तिक युग मे इनका प्रभाव और प्रवचन अवश्य ही सर्वोपरि रहा होगा। यद्यपि आज भी यन्त्रों का युग है परन्तु यहा हमारा तात्पर्य मशीनी और कल-पुरजो वाले यंत्रो से नही है प्रत्युत मानसिक यन्त्रों से है जिसका सीधा संबध मन्त्रों, ऋद्धियो और सिद्धियो से है। ये यंत्र क्या है? सम्पूर्ण द्वादशाग वाणी को गुरु मन्त्रो और सूत्रो के आधार पर स्वरक्षित रखने वाले पिटारे। ये यंत्राकृतियां ऐसे सक्षिप्त चार्ट है जिन्हे देखने मात्र से आत्म स्मृति जागृत हो जाती है। यन्त्राकृतियां शब्द ब्रह्म की वे जीती जागती तस्वीरे है जिन्हे याद करने की जरूरत नही, बल्कि देखने भर से तत्सम्बन्धी ज्ञान हो जाता है। विधिपूर्वक इनकी सतत साधना करने से अवश्य सिद्धि प्राप्त होती है। यन्त्रों का सीधा सबध मन्त्रो से होता है और मन्त्रो की सेविकाएं ऋद्धियां होती है। अतएव आवश्यक है कि दिव्य मन्त्रालोक के विषय मे भी अच्छी तरह से विचार कर लिया जावे।

मन्त्र शब्द मन धातु मे ष्ट्रन—(त्र) प्रत्यय लगाने से बनता है। जिसका

व्युत्पत्यर्थ होता है—मन्यते आत्मादेशोऽनेन इति मंत्रः अर्थात् जिसके द्वारा आत्मा का आदेश—निजानुभव जाना जावे उसे मंत्र कहते हैं। णमोकार मंत्र जगत के यावत् मंत्रों का बीज मंत्र है उसीसे समस्त मंत्रों की उत्पत्ति हुई है। क्योंकि यह मंत्र शुद्धात्माओं की ओर इंगित करता है। णमोकार मंत्र में उच्चरित ध्वनियों से आत्मा में धनात्मक और ऋणात्मक दोनों प्रकार की विद्युत् शक्तियां उत्पन्न होती हैं। जिनकी चिनगारी से कर्म-कलंक भस्म हो जाता है। यही कारण है कि तीर्थंकर भगवान भी विरक्त होते समय इसी महामंत्र का उच्चारण करते हैं। यह मंत्र समस्त द्वादशांग वाणी का सार है। सम्पूर्ण मंत्रों की मूलभूत मातृकाएँ इसमें विद्यमान हैं। स्मरण, मोहन, उच्चाटन, वशीकरण, स्तम्भन आदि सभी कार्य इस मंत्र की साधना द्वारा साधक सिद्ध कर सकता है। वस्तुतः मूलरूप से तो यह मंत्र आत्म-साधक ही है। चूंकि णमोकार मंत्र के बीजाक्षरों से सभी मंत्रों की उत्पत्ति हुई है इसलिए भक्तामर के प्रत्येक शब्द में जो वर्णाक्षर हैं वे णमोकार मंत्र के बीजाक्षर हैं। कविवर दौलतरामजी की प्रभाती देखिए जिसमें कहा गया है कि—

प्रात काल मंत्र जपो णमोकार भाई।
मंत्र जंत्र तंत्र सब जाहितें बनाई॥

किसी भी मंत्र की साधना के लिए नव प्रकार की शुद्धियां आवश्यक हैं :—

१—द्रव्यशुद्धि, २—क्षेत्रशुद्धि, ३—कालशुद्धि, ४—भावशुद्धि, ५—आसन शुद्धि, ६—विनयशुद्धि, ७—मनशुद्धि, ८—वचनशुद्धि ९—कायशुद्धि।

मंत्रों की जाप्य विधियां तीन प्रकार की हैं :—

१—कमल-जाप्य, २—हस्ताङ्गुलि-जाप्य तथा ३—माला-जाप्य। मनोविज्ञान के अनुसार मनुष्य में जो १४ मूल प्रवृत्तियां होती है उनसे संचालित जीवन असभ्य और पाशविक होता है अतएव दमन विलियन मार्गान्तीकरण और शोधन द्वारा उन पर नियंत्रण रखा जाना आवश्यक है। मनुष्य में अनुकरण की प्रधान प्रवृत्ति पाई जाती है। इसी प्रवृत्ति के कारण पंच परमेष्ठी का आदर्श सामने रखकर उनके अनुकरण से व्यक्ति अपना विकास कर सकता है।

मंत्र निर्माण के लिए ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः हा ह सः क्लीं क्लूं द्रां द्रीं द्रूं द्रः श्रीं क्षीं क्ष्वीं क्लीं हूं अं फट्, वषट्, संवौषट्, घे घै यः ठः खः ह्ल ल्व्यूं पं वं यं झं तं थं दं आदि बीजाक्षरों की आवश्यकता होती है। इनमें देवताओं को उत्तेजित करने की शक्ति होती है। चेतना शक्ति (आत्म-शक्ति) को भी

इनसे स्फुरायमान किया जा सकता है।

जैन योगियों ने यम-नियम पूर्वक आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि द्वारा धर्म-ध्यान और शुक्लध्यान की प्राप्ति की है। इस भांति भक्तामर स्तोत्र में जितने भी मंत्र हैं वे सब शुद्धात्मा से निःसृत हैं और शुद्धात्मा की ओर इंगित करते हैं अतएव उनसे लौकिक सिद्धि मिलना कोई बड़ी बात नहीं है।

ध्यान का विषय तो जब तक वीतराग निर्विकल्प समाधि द्वारा अपनी शुद्धात्मा को नहीं बनाया जाता तब तक आत्म-मुक्ति संभव नहीं है।

सचित्र भक्तामर रहस्य के दिव्य मंत्रालोक में मंत्रों के साथ तत्संबंधी ऋद्धि-मंत्र भी दिये हैं। ये ऋद्धियाँ मंत्र साधकों के समक्ष अतिशय पुण्य फल वाली बनकर जाप्य करते समय सामने आती हैं और साधक को प्रलोभन देती हुई उसे अपने इष्ट आराध्य साध्य या उद्देश्य से विचलित करने को विवश करती हैं। परन्तु यदि मंत्र साधक इष्ट सिद्धि में सावधान है तो उसकी दृष्टि दूसरी ओर जाती ही नहीं है।

ऋद्धियों के मंत्र जाप्य द्वारा वह पुण्य से भी इन्कार करता है औ अपनी दृष्टि सम्यक् रूप से अपने प्रयोजन पर ही केन्द्रित रखता है। मंत्र का सम्बन्ध जहाँ मन और वचन के भावनात्मक ध्यान से है वहां ऋद्धि मंत्रों का सम्बन्ध ऋषियों मुनियों और आचार्यों से है जो कि चारित्र के साक्षात् अवतार होते हैं। उनके आगे ऋद्धि सिद्धियाँ किलोलें करती रहती हैं, परन्तु वे उनकी ओर तनिक भी ध्यान नहीं देते। जिस प्रकार सभी मंत्र णमोकार मंत्र से प्रसूत हैं उसी प्रकार सभी ऋद्धियां ६४ ऋद्धियों में गर्भित हैं। मंत्रों द्वारा आत्म दर्शन किया जाता है तो ऋद्धियों द्वारा आत्म-दर्शन की शक्ति जागृत की जाती है। मंत्रों में अर्हत् सिद्ध के ध्यान की मुख्यता है तो ऋद्धियों में आचार्य उपाध्याय और सर्व साधुओं के ध्यान की मुख्यता है। विशेष-विद्यानुवाद, ज्ञानार्णव, मंत्र शास्त्र, मोक्षशास्त्र आदि के अध्ययन से जाना जा सकता है। इस प्रकार मंत्रालोक को हमने दिव्य विशेषण से विभूषित किया है क्योंकि इन मंत्रों और ऋद्धि मंत्रों के जाप्य के अर्थ साधना के लिए देवगण भी ऋषि मुनियों की शरण में आते हैं। इनसे लौकिक दिव्यता तो प्राप्त होती ही है अलौकिक दिव्य दृष्टि, दिव्य ज्ञान और दिव्य चारित्र रूप मोक्ष लक्ष्मी भी प्राप्त होती है।

कुल मिलाकर 'सचित्र भक्तामर रहस्य' को यदि हम एक शोध ग्रन्थ की संज्ञा दें तो अत्युक्ति न होगी परन्तु शोध योग्य हमारी शैक्षिणक योग्यता न होने से हम उसके पात्र कदाचित् कभी भी न बन सकेंगे। यद्यपि इसमें हम

ने अपनी मौलिकता का भरपूर उपयोग किया है तो भी उद्धरण स्वरूप विविध ग्रन्थों का सहारा लेना श्रेयस्कर समझा गया अतः उन ग्रन्थकारों के हम चिर-ऋणी हैं।

ग्रन्थ का कलेवर विद्यमान से भी दूना हो जाता यदि हम इसमें अपनी अतिरिक्त संग्रहीत सामग्री का समावेश भी यथेच्छया करते। विदित हो कि हमारे पास लगभग ५२ प्राचीन एवं नवीन कवियों के हिन्दी पद्यानुवाद संकलित हैं। इसके अतिरिक्त अंग्रेजी, गुजराती, मराठी, उर्दू, कन्नड, बंगला, ब्रज, बुन्देली आदि प्रादेशिक और आंचलिक भाषाओं के पद्यानुवाद भी समानान्तर रूप से हमारे पास सुरक्षित हैं।

संस्कृत टीकाओं में दो आचार्यों की वृत्तियां और भाष्य भी हमारे पास मौजूद है, संस्कृत भाषा में पद्यानुवाद रूप में भक्तामर का कथा साहित्य तथा दो प्रकार के भक्तामर पूजा-पाठ और पं. विनोदीलालजी की ४०० पृष्ठों में लिखित सम्पूर्ण भक्तामर पद्य कथाएँ भी ऋद्धि-यन्त्र-मंत्र-साधन विधि-फल सहित मौजूद हैं जिनका उपयोग पृथक-२ स्वतंत्र ग्रन्थ में ही समावेशनीय हो सकता है जो कि अर्थाभाव के कारण प्रस्तुत ग्रन्थ मे नहीं दिया जा सका।

कमल कुमार जैन शास्त्री 'कुमुद'
व्यवस्थापक
श्री कुन्थुसागर स्वाध्याय सदन
खुरई (सागर) म० प्र०

मंगल-गीता

आशुकवि श्री फूलचन्द जी 'पुष्पेन्दु' द्वारा रचित
भक्तामर की मंगल-गीता के प्रथम श्लोक का
भावानुवाद नई विधा में प्रस्तुत

नत मस्तक सुरभक्तों के—
जिनवर पद अनुरक्तों के—
मुकुटों की झिलमिल मणियाँ—
मणियों की हीरक लड़ियाँ।

जगमग जगमग दमक उठीं—
प्रतिबिम्बित हो चमक उठीं—
आदीश्वर के चरणों से—
चरण-युगल की किरणों से।

युग - युग शरण प्रदाता हों—
पतितों के भव त्राता हों—
जो समुद्र में डूबे हैं—
जनम - मरण से ऊबे हैं।

उनके सारे कष्ट हरें,
पाप तिमिर को नष्ट करें।

आदिनाथ के श्रीचरणों में, सादर शीश झुकाता हूँ।
भक्तामर के अभिनन्दन की, मंगल-गीता गाता हूँ॥

—मुद्रणाधीन

सार्थक चित्रालोक

(प्रथम खण्ड)

ॐ अर्हम्

स्तोत्र-पाठ

(वसन्ततिलका वृत्तम्)

भक्तामर - प्रणतमौलि - मणिप्रभाणा—
मुद्योतकं दलित-पापतमो - वितानम् ।
सम्यक्प्रणम्य जिनपादयुगं युगादा—
वालम्बनं भवजले पततां जनानाम् ॥१॥

यः संस्तुतः सकलवाङ्-मयतत्त्वबोधा—
दुद्भूत-बुद्धि - पटुभिः सुरलोकनाथैः ।
स्तोत्रैर्जगत्त्रितयचित्त - हरैरुदारैः,
स्तोष्ये किलाहमपि तं प्रथमं जिनेन्द्रम् ॥२॥

बुद्ध्या विनाऽपि विबुधार्चितपादपीठ !
स्तोतुं समुद्यतमति र्विगतत्रपोऽहम् ।
बालं विहाय जल संस्थितमिन्दुबिम्ब—
मन्यः क इच्छति जनः सहसा ग्रहीतुम्? ॥३॥

वक्तुं गुणान् गुणसमुद्र ! शशाङ्ककान्तान्,
कस्ते क्षमः सुरगुरुप्रतिमोऽपि बुद्ध्या? ।
कल्पान्त - कालपवनोद्धत - नक्र-चक्रं,
को वा तरीतुमलमम्बु निधिं भुजाभ्याम् ॥४॥

सोऽहं तथापि तव भक्तिवशान्मुनीश !
कर्तुं स्तवं विगतशक्तिरपि प्रवृत्तः ।
प्रीत्यात्मवीर्यमविचार्य मृगी मृगेन्द्रं,
नाभ्येति किं निजशिशोः परिपालनार्थम् ॥५॥

अल्पश्रुतं श्रुतवतां परिहासधाम,
त्वद्भक्तिरेव मुखरीकुरुते बलान्माम् ।
यत्कोकिलः किल मधौ मधुरं विरौति,
तच्चारुचूतकलिका - निकरैकहेतुः ॥६॥

त्वत्संस्तवेन भव - सन्तति सन्निबद्धं,
पापं क्षणात् क्षय-मुपैति-शरीरभाजाम् ।
आक्रान्त - लोक - मलिनील मशेषमाशु ।
सूर्यांशुभिन्नमिव शार्वर - मन्धकारम् ॥७॥

मत्वेति नाथ ! तव संस्तवनं मयेद—
मारभ्यते तनुधियाऽपि तव प्रभावात् ।
चेतो हरिष्यति सतां नलिनीदलेषु,
मुक्ताफलद्युतिमुपैति ननूद - बिन्दुः ॥८॥

आस्तां तव स्तवनमस्तसमस्त - दोषं,
त्वत्सङ्कथाऽपि जगतां दुरितानि हन्ति ।
दूरे सहस्रकिरणः कुरुते प्रभैव,
पद्माकरेषु जलजानि विकासभाञ्जि ॥९॥

नात्यद्भुतं भुवन-भूषण ! भूतनाथ !
भूतैर्गुणैर्भुवि भवन्तमभिष्टुवन्तः ।
तुल्या भवन्ति भवतो ननु तेन किं वा,
भूत्याश्रितं य इह नात्मसमं करोति ? ॥१०॥

दृष्ट्वा भवन्तमनिमेषविलोकनीयं,
नान्यत्र तोषमुपयाति जनस्य चक्षुः ।
पीत्वा पयः शशिकरद्युति दुग्धसिन्धोः,
क्षारं जलं जलनिधे रसितुं क इच्छेत्? ॥११॥

यैः शान्तरागरुचिभिः परमाणुभिस्त्वं,
निर्मापितस्त्रिभुवनैक — ललामभूत !
तावन्त एव खलु तेऽप्यणवःपृथिव्यां,
यत्ते समानमपरं न हि रूपमस्ति ॥१२॥

वक्त्रं क्व ते सुर-नरोरग - नेत्रहारि,
निःशेष - निर्जित-जगत्त्रितयोपमानम् ।
बिम्बं कलङ्क - मलिनं क्वनिशाकरस्य,
यद् वासरे भवति पाण्डुपलाशकल्पम् ॥१३॥

सम्पूर्ण - मण्डल - शशाङ्क - कलाकलाप—
शुभ्रा गुणास्त्रिभुवनं तव लङ्घयन्ति ।
ये संश्रितास्त्रिजगदीश्वर ! नाथमेकं,
कस्तान् निवारयति संचरतो यथेष्टम्स ॥१४॥

चित्रं किमत्र यदि ते त्रिदशाङ्गनाभि—
र्नीतं मनागपि मनो न विकारमार्गम् ।
कल्पान्त - काल - मरुता चलिताचलेन,
किं मन्दराद्रिशिखरं चलितं कदाचित्? ॥१५॥

निर्धूम - वर्तिरपवर्जित - तैलपूरः,
कृत्स्नं जगत्त्रयमिदं प्रकटीकरोषि ।
गम्यो न जातु मरुतां चलिताचलानां,
दीपोऽपरस्त्वमसि नाथ ! जगत्प्रकाशः ॥१६॥

नास्तं कदाचिदुपयासि न राहुगम्यः,
स्पष्टीकरोषि - सहसा युगपज्जगन्ति ।
नाम्भोधरोदर - निरुद्ध - महाप्रभावः,
सूर्यातिशायिमहिमाऽसि मुनीन्द्र! लोके ॥१७॥

नित्योदयं दलित - मोह - महान्धकारं,
गम्यं न राहुवदनस्य न वारिदानाम् ।
विभ्राजते तव मुखाब्जमनल्प-कान्ति,
विद्योतयज्जगदपूर्व - शशाङ्क - बिम्बम् ॥१८॥

किं शर्वरीषु शशिनाऽह्नि विवस्वता वा!
युष्मन्मुखेन्दु दलितेषु तमःसु नाथ !
निष्पन्नशालिवनशालिनि जीवलोके,
कार्यं कियज्जलधरै र्जलभार नम्रैः ? ॥१९॥

ज्ञान यथा त्वयि विभाति कृतावकाशं,
नैवं तथा हरिहरादिषु नायकेषु ।
तेजः स्फुरन्मणिषु याति यथामहत्त्वं,
नैवं तु काचशकले - किरणाकुलेऽपि ॥२०॥

मन्ये वरं हरिहरादय एव दृष्टा,
दृष्टेषु येषु हृदयं त्वयि तोषमेति ।
किं वीक्षितेन भवता भुवि येन नान्यः
कश्चिन्मनो हरति नाथ! भवान्तरेऽपि ॥२१॥

स्त्रीणां शतानि शतशो जनयन्ति पुत्रान्,
नान्या सुतं त्वदुपमं जननी प्रसूता ।
सर्वा दिशो दधति भानि सहस्ररश्मिं,
प्राच्येव दिग्जनयति स्फुरदंशुजालम् ॥२२॥

त्वामामनन्ति मुनयः परमं पुमांस—
मादित्यवर्णममलं तमसः परस्तात् ।
त्वामेव सम्यगुपलभ्य जयन्ति मृत्युं,
नान्यः शिवः शिवपदस्य मुनीन्द्र! पन्थाः ॥२३॥

त्वामव्ययं - विभुमचिन्त्य - मसंख्यमाद्यं,
ब्रह्माण - मीश्वर-मनन्त मनङ्गकेतुम् ।
योगीश्वरं विदित - योग - मनेक - मेकं,
ज्ञानस्वरूपममलं प्रवदन्ति सन्तः ॥२४॥

बुद्धस्त्वमेव विबुधार्चितबुद्धिबोधात्—
त्वं शङ्करोऽसि भुवनत्रय-शङ्करत्वात् ।
धातासि धीर ! शिवमार्गविधेर्विधानात्,
व्यक्तं त्वमेव भगवन् ! पुरुषोत्तमोऽसि ॥२५॥

तुभ्यं नमस्त्रिभुवनार्ति - हराय नाथ !
तुभ्यं नमः क्षितितलामलभूषणाय ।
तुभ्यं नमस्त्रिजगतः परमेश्वराय,
तुभ्यं नमो जिन ! भवोदधि-शोषणाय ॥२६॥

को विस्मयोऽत्र यदि नाम गुणैरशेषै—
स्त्वं संश्रितो निरवकाशतया मुनीश !
दोषैरुपात्त - विविधाश्रय - जात - गर्वैः
स्वप्नान्तरेऽपि न कदाचिदपीक्षितोऽसि ॥२७॥

उच्चैर - शोकतरु - संश्रित - मुन्मयूख—
माभाति रूपममलं भवतो नितान्तम् ।
स्पष्टोल्लसत्किरणमस्त - तमो - वितानं,
बिम्बं रवेरिव पयोधर पार्श्ववर्ति ॥२८॥

सिंहासने मणिमयूखशिखाविचित्रे,
विभ्राजते तव वपुः कनकावदातम् ।
बिम्बं वियद् - विलसदंशुलतावितानं,
तुङ्गोदयाद्रिशिरसीव सहस्ररश्मेः ॥२९॥

कुन्दावदात - चलचामर - चारु - शोभं,
विभ्राजते तव वपुः कलधौतकान्तम् ।
उद्यच्छशाङ्क - शुचिनिर्झर - वारिधार—
मुच्चैस्तटं सुरगिरेरिव शातकौम्भम् ॥३०॥

छत्रत्रयं तव विभाति शशाङ्ककान्त—
मुच्चैःस्थितं स्थगितभानुकरप्रतापम् ।
मुक्ताफल - प्रकर - जाल - विवृद्ध-शोभं,
प्रख्यापयत् त्रिजगतः परमेश्वरत्वम् ॥३१॥

गम्भीरतार - रवपूरित - दिग्विभाग—
स्त्रैलोक्यलोक - शुभसङ्गम - भूतिदक्षः ।
सद्धर्मराजजय - घोषण - घोषकः सन्,
खे दुन्दुभिर्ध्वनति ते यशसः प्रवादी ॥३२॥

मन्दार - सुन्दर - नमेरु - सुपारिजात—
सन्तानकादि - कुसुमोत्कर - वृष्टिरुद्धा ।
गन्धोदबिन्दुशुभ - मन्दमरुत्प्रपाता,
दिव्या दिवः पतति ते वचसां ततिर्वा ॥३३॥

शुम्भत्प्रभा-वलय भूरि - विभा विभोस्ते,
लोकत्रये द्युतिमतां द्युतिमाक्षिपन्ती ।
प्रोद्यद्दिवाकर निरन्तर भूरि संख्या—
दीप्त्या जयत्यपि निशामपि सोमसौम्याम् ॥३४॥

स्वर्गापवर्ग - गममार्ग - विमार्गणेष्टः,
सद्धर्म - तत्त्व - कथनैक-पटुस्त्रिलोक्याः ।
दिव्यध्वनि र्भवति ते विशदार्थसर्व —
भाषास्वभाव-परिणाम-गुणैः प्रयोज्यः ॥३५॥

उन्निद्रहेमनवपङ्कज - पुञ्जकान्ति,
पर्युल्लसन्नखमयूख - शिखाभिरामौ ।
पादौ पदानि तव यत्र जिनेन्द्र ! धत्तः,
पद्मानि तत्र विबुधाः परिकल्पयन्ति ॥३६॥

इत्थं यथा तव विभूतिरभूज्जिनेन्द्र !
धर्मोपदेशनविधौ न तथा परस्य ।
यादृक् प्रभा दिनकृतः प्रहतान्धकारा,
तादृक् कुतो ग्रहगणस्य विकासिनोऽपि? ॥३७॥

श्च्योतन्मदाविल - विलोल - कपोलमूल —
मत्तभ्रमद् भ्रमर - नाद - विवृद्ध-कोपम् ।
ऐरावताभमिभमुद्धत - मापतन्तं,
दृष्ट्वा भयं भवति नो भवदाश्रितानाम् ॥३८॥

भिन्नेभकुम्भ-गलदुज्ज्वल - शोणिताक्त —
मुक्ताफल - प्रकर - भूषित - भूमि भागः ।
बद्धक्रमः क्रमगतं हरिणाधिपोऽपिः
नाक्रामति क्रमयुगाचलसंश्रितं ते ॥३९॥

कल्पान्तकाल-पवनोद्धत - वह्निकल्पं,
दावानलं ज्वलित मुज्ज्वलमुत्स्फुलिङ्गम् ।
विश्वं जिघत्सुमिव सम्मुखमापतन्तं,
त्वन्नामकीर्तनजलं शमयत्यशेषम् ॥४०॥

रक्तेक्षणं समद - कोकिल - कंठ - नीलं,
क्रोधोद्धतं फणिनमुत्फणमापतन्तम्।
आक्रामति क्रमयुगेन निरस्तशङ्क—
स्त्वन्नाम-नागदमनी हृदि यस्य पुंसः ॥४१॥

वल्गत्तुरङ्ग - गजगर्जित - भीमनाद—
माजौ बलं बलवतामपि भूपतीनाम्।
उद्यद्दिवाकरमयूख - शिखापविद्धं,
त्वत्कीर्तनात्तम इवाशुभिदामुपैति ॥४२॥

कुन्ताग्रभिन्न - गजशोणित - वारिवाह—
वेगावतार - तरणातुर - योधभीमे।
युद्धे जयं विजितदुर्जयजेयपक्षा—
स्त्वत्पादपङ्कजवनाश्रयिणो लभन्ते ॥४३॥

अम्भोनिधौ क्षुभितभीषण-नक्र - चक्र—
पाठीनपीठ - भयदोल्बण - वाडवाग्नौ।
रङ्गत्तरङ्ग शिखरस्थित - यानपात्रा—
स्त्रासं विहाय भवतः स्मरणाद् व्रजन्ति ॥४४॥

उद्भूतभीषण - जलोदर - भारभुग्नाः
शोच्यां दशामुपगताश्च्युतजीविताशाः।
त्वत्पाद पङ्कज रजोऽमृत दिग्धदेहा,
मर्त्या भवन्ति मकरध्वजतुल्यरूपाः ॥४५॥

आपादकण्ठ - मुरुशृङ्खल वेष्टिताङ्गा,
गाढं बृहन्निगड कोटि निघृष्टजङ्घाः।
त्वन्नाममन्त्रमनिशं मनुजाः स्मरन्तः,
सद्यः स्वयं विगतबन्धभया भवन्ति ॥४६॥

मत्तद्विपेन्द्र - मृगराज - दवानला-हि,
संग्राम - वारिधि - महोदर-बन्धनोत्थम् ।
तस्याशु नाशमुपयाति भयं भियेव,
यस्तावकं स्तवमिमं मतिमानधीते ॥४७॥

स्तोत्रस्रजं तव जिनेन्द्र ! गुणै-र्निबद्धां,
भक्त्या मया रुचिर वर्णविचित्र-पुष्पाम् ।
धत्ते जनो य इह कण्ठ गतामजस्रं
तं 'मानतुङ्ग' मवशा समुपैति लक्ष्मीः ॥४८॥

Having duly bowed down to the feet of Jina, which, at the beginning of the yuga, was the prop of men drowned in the ocean of worldlines, and which illumine the lustre of the gems, of the poostrated heads of the devoted gods, and which dispel the vast gloom of sins. 1.

× × ×

English Translation:—Duly and honourable bowing down at the lotus-like feet of Shree Jindeva (आदिनाथ), which illuminates the luster of jewels of the crowns of devout gods, bent down (before Adinath in obeisance), destroys the great or spreading darkness of sin and supports, in the beginning of the age (कर्मयुग), persons falling down into this ocean of world. I

× × ×

I shall indeed pay homage to that First Jinedra, Who with beautiful orisons captivating the minds of all the three worlds, has been worshipped by the lords of the gods endowed with profound wisdom born of all the Shastras. 2.

× × ×

This is indeed strange that I am bent on eulogizing the first Jinendra who praised and worshipped by the rich and stotras, magnetizing the hearts (of the persons) of the three fold world, (composed) by the lords of gods who are proficient in talent developed by the knowledge of the true and essential principles of the Supreme Dwadashangi (द्वादशांगी) 2

× × ×

सम्यक् नमन

भक्त अमर नत मुकुट सु-मणियों, की सु-प्रभा का जो भासक ।
पाप रूप अति सघन तिमिर का, ज्ञान-दिवाकर-सा नाशक ॥
भव-जल पतित जनों को जिसने, दिया आदि में अवलम्बन ।
उनके चरण-कमल का करते, सम्यक् बारम्बार नमन ॥१॥

आचार्य-प्रतिज्ञा
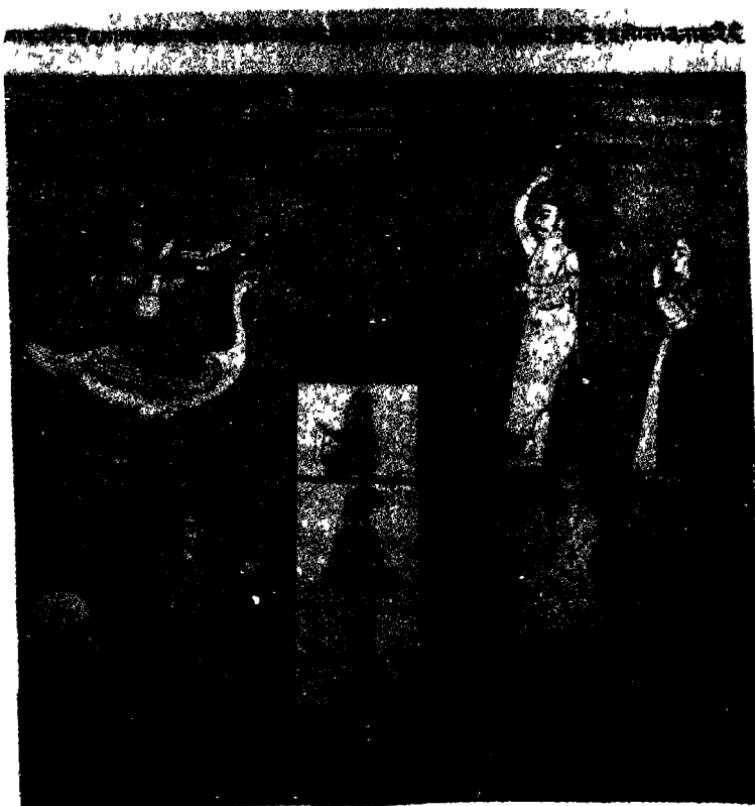
सकल वाङ्मय तत्त्वबोध से, उद्भव पटुतर धी-धारी।
उसी इन्द्र की स्तुति से है, वन्दित जग-जन मन-हारी॥
अति आश्चर्य कि स्तुति करता, उसी प्रथम जिनस्वामी की।
जगनामी सुखधामी तद्भव, शिवगामी अभिरामी की॥२॥

सचित्र-भक्तामर-रहस्य

मूल श्लोक (वसंततिलकावृत्तम्)

सर्वविघ्नविनाशक

भक्तामर - प्रणत-मौलि - मणि-प्रभाणा—
मुद्योतकं दलित - पापतमो - वितानम् ।
सम्यक् प्रणम्य जिनपादयुगं युगादा—
वालम्बनं भवजले[1] पततां जनानाम् ॥१॥

यः संस्तुतः सकलवाङ्मयतत्त्वबोधा—
दुद्भूत - बुद्धि-पटुभिः सुरलोकनाथैः ।
स्तोत्रैर्जगत्त्रितय - चित्त हरैरुदारैः,
स्तोष्ये किलाहमपि तं प्रथमं जिनेन्द्रम् ॥२॥

[युग्मम्[2]]

अन्वय:

भक्तामरप्रणतमौलिमणिप्रभाणाम् उद्योतकम् दलितपापतमोवितानम् युगादौ भवजले पतताम् जनानाम् आलम्बनम् जिनपादयुगं सम्यक् प्रणम्य ॥१॥

---

१. 'भवनिधौ' ऐसा भी पाठ है ।

२. संस्कृत में कहीं-कहीं एक से अधिक अनेक श्लोकों का इकट्ठा अन्वय होता है, जहाँ दो श्लोकों का एकत्र अन्वय हो, वहाँ उसे युग्म कहते हैं । यहाँ भी युग्म है ।

सकलवाङ्मयतत्त्वबोधात् उद्भूतबुद्धिपटुभिः सुरलोकनाथैः जगत्त्रितय-चित्तहरैः उदारैः स्तोत्रैः यः संस्तुतः तं प्रथमम् जिनेन्द्रम् किल अहं अपि स्तोष्ये ॥२॥

शब्दार्थः

भक्तामरप्रणतमौलिमणिप्रभाणाम्—भक्त देवों के विशेष रूप से झुके हुए मुकुटों की मणियों की कान्ति के।

विशेषार्थ :—जो इष्टदेव की विशेष प्रकार से भक्ति करता है, वह **भक्त** कहलाता है। यहाँ इष्टदेव से तात्पर्य श्री वीतराग जिनेन्द्र देव से है। ऐसे इष्टदेव की भक्ति करने वाले जो **अमर** अर्थात् देव हैं, वे हुए **भक्त देव**। **नत** का अर्थ है झुके हुए, **प्रणत** विशेष रूप से झुके हुए। भक्ति में भाव विभोर होते समय इसी प्रकार नत मस्तक होने के प्रसंग आते हैं। **मौलि** अर्थात् मुकुट, **मणि** का अर्थ है—चन्द्रकांत तुल्य मणि। देवों के मुकुटों में इस प्रकार की मणियाँ जड़ी होती हैं। जिनकी..... ...। **प्रभाणाम्**—कान्ति की। यह पद षष्ठी विभक्ति के बहु वचन में है।

उद्द्योतकम्—उद्योत (प्रकाश) को करने वाला।

विशेषार्थ :—'**उद्**' उपसर्ग के साथ '**द्युति-दीप्तौ**' धातु से **उद्योत** शब्द सिद्ध हुआ है। वह उसी प्रभा या प्रकाश के अर्थ को दर्शाता है। '**उद्द्योतयतीति उद्द्योतकम्**' जो उद्योत को करता है, वह उद्योतक अर्थात् उद्योत को करने वाला। यह पद '**जिनपादयुगं**' का विशेषण होने के कारण द्वितीया विभक्ति में आया है।

दलितपापतमोवितानम्—पापरूपी तमस् अर्थात् अन्धकार के विस्तार को समूह को नाश करने वाला।

विशेषार्थ :—**पाप** रूपी **तमस्**-अन्धकार, वही हुआ **पापतमः**, उसका **वितान** अर्थात् समूह, वही हुआ **पापतमोवितान**। उसको **दलित** किया है अर्थात् नाश किया है जिसने ऐसा वह **दलित पापतमोवितान** अर्थात् पापरूपी अन्धकार के समूह को नाश करने वाला। यह पद भी **जिनपादयुगं** का विशेषण होने से द्वितीया विभक्ति में आया है।

युगादौ—युग के आदि में—चतुर्थ आरे के प्रारम्भ में।

विशेषार्थ :—लौकिक भाषा में युग शब्द से सत्य, त्रेता, द्वापर और कलि ऐसे काल के चार सुदीर्घ परिणामों का संकेत प्राप्त होता है, तथा जैन खगोल-ज्योतिष में ५ वर्ष के समय को युग की संज्ञा दी गई है; परन्तु यहाँ युग शब्द

से वर्तमान अवसर्पिणी काल का तीसरा सुखमा-दुखमा नाम का आरे के अन्तिम भाग और चौथे आरे के आरम्भ भाग को समझना चाहिये—कि जिसमें प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभदेव (आदिनाथ) भगवान उत्पन्न हुए थे।

इतिहासकारों ने संस्कृत युग को आदिकाल माना है, क्योंकि मानव संस्कृति के अनुरूप सर्व विद्या कलाओं असि, मसि, कृषि, शिल्प, वाणिज्य का उद्भव इसी काल में हुआ है।

भवजले—संसार रूपी सागर के अथाह जल में।

विशेषार्थ :—**भव** रूपी **जल** अर्थात् **भवजल**, यहाँ **भव** शब्द से जन्म-जरा-मरण रूप संसार समझना चाहिये, उसका अथाह जल वही **भव जल** है। उसके विषय में यह पद सप्तमी के एक वचन में आया है।

पतताम्—पड़े हुए-गिरते हुए।

जनानाम्—मनुष्यों का। उपरोक्त दोनों पद षष्ठी के बहु वचन में हैं।

आलम्बनम्—आलंबन रूप-आधारभूत।

जिनपादयुगम्—जिनेश्वर देव के चरण युगल में।

जिन अर्थात् जिनेश्वर (तीर्थंकर) देव के **पाद**-पग-चरण का **युग**—युग्म (युगल)। उनके

सम्यक्—भली भाँति भक्ति पूर्वक, मन-वचन-काय के प्रणिधान पूर्वक।

प्रणम्य—प्रणाम करके।

सकलवाङ्मयतत्त्वबोधात्—समस्त शास्त्र के तत्त्वज्ञान से।

विशेषार्थ :—**सकल**-समस्त ऐसे ही **वाङ्मय** से अर्थात् सकल वाङ्मय से। **वाङ्मय** अर्थात् शास्त्र, उससे उत्पन्न **तत्त्वबोध** अर्थात् तत्त्वरूपी बोध याने तत्त्वज्ञान। उससे यह पद पंचमी हेत्वर्थ मे आया है।

उद्भूतबुद्धिपटुभि :—उत्पन्न हुई बुद्धि से चतुर—ऐसा।

विशेषार्थ :—**उद्भूत**—उत्पन्न हुई **बुद्धि** मे **पटु**—चतुर=**उद्भूतबुद्धिपटु**, उसके द्वारा—**सुरलोकनाथैः** पद जो कि आगे आ रहा है उसका विशेषण होने से यह पद भी तृतीया के बहुवचन में है।

सुरलोकनाथैः—देवेन्द्रों द्वारा।

विशेषार्थ :—**सुष्ठु राजन्ते इति सुराः**। जो सब प्रकार से शोभायमान हैं वे **देव**—**सुर**, उनका **लोक** वह **सुरलोक** अर्थात् देवलोक अथवा **स्वर्ग**। उसका **नाथ** अर्थात् अधिपति वही हुआ **सुरलोकनाथ** अर्थात् देवेन्द्र।

जगत् त्रितयचित्त हरैः—तीनों जगत के चित्त को हरण करने वाला ऐसा।

विशेषार्थ :—**'त्रयोऽवयवा अस्य त्रितयं'**—तीन हैं अवयव जिसमें ऐसा वह

त्रितय, जगतां त्रितयं—जगत्त्रितयं अर्थात् तीन जगत, उसका **चित्त** वही हुआ **जगत्त्रितय चित्त,** उसका हरण करने वाला, वही हुआ **जगत् त्रितय चित्तहर**—उनके द्वारा। यह पद **स्तोत्रैः** शब्द का विशेषण होने से तृतीया के बहुवचन में आया है। यहां तीन जगत से तात्पर्य तीन लोक है। अर्थात् उर्ध्व लोक, मध्यलोक, पाताल लोक का निर्देश किया गया है। तीन लोक का चित्त याने तीनों लोकों में रहने वाले सुर नर असुर के चित्त; तात्पर्य यह कि जिन्होंने सुर नर और असुरों के चित्त को आकर्षित किया है, ऐसे—

उदारैः—**महार्थैः** महा अर्थ वाले—उत्कृष्ट गम्भीर अर्थ वाले। यह पद **स्तोत्रैः** का विशेषण होने से तृतीया के बहु वचन में प्रयुक्त हुआ है।

स्तोत्रैः—स्तोत्रों—स्तवनों के द्वारा।

यः—जो

संस्तुतः—भलीभांति स्तवन के पात्र हुए

तम्—उन

प्रथमम्—प्रथम।

विशेषार्थ :—यहां प्रथम शब्द से चौबीस तीर्थङ्करों में से पहिले तीर्थङ्कर को समझना चाहिए। चौबीस तीर्थङ्करों में प्रथम श्री ऋषभदेव हुए जो कि नाभिराय कुलकर तथा मरुदेवी के पुत्र थे। उन्हें ही युगादि देव आदिनाथ भी कहा जाता है।

जिनेन्द्रम्—जिनेन्द्र को—तीर्थङ्कर को।

विशेषार्थ :—**जिनः** अर्थात् सामान्य केवली, उनमें भी श्रेष्ठ, अष्ट प्रातिहार्य समवशरण आदि महान् विभूतियों से सम्पन्न तीर्थङ्कर नाम की पुण्यतम् प्रकृति के धारक जो हैं वे ही जिनेन्द्र देव हैं।

तम् प्रथमं जिनेन्द्रम् ये तीनों शब्द द्वितीया के एक वचन में व्यवहृत हुए हैं।

किल—निश्चय से।

अहम्—मैं (मानतुङ्गाचार्य)

अपि—भी

स्तोष्ये—स्तवन करूंगा।

भावार्थः

हे तेजस्विन्!

भक्तिवन्त देवताओं के विनम्र मुकुटों की मणियों को जगमगाने वाले, पापरूपी अन्धकार के समूह का नाश करने वाले तथा संसार-सागर में गिरे हुए-

पड़े हुए प्राणियों के आधारभूत युगादि देव श्री जिनेन्द्र भगवान के चरण युगल को मन-वचन-काय के प्रणिधान पूर्वक सम्यक् नमस्कार करके, समस्त शास्त्रों के तत्त्वज्ञान से जिन्हें बुद्धि कौशल की सम्प्राप्ति हुई है, ऐसे देवेन्द्रों ने तीनों लोकों के चित्त को हरण करने वाले, महान् गंभीर आशय वाले स्तोत्रों के द्वारा जिनकी स्तुति की है, उन्हीं युग के आदि में उत्पन्न प्रथम जिनेन्द्र देव की वन्दना मैं (मानतुंगाचार्य) भी करूँगा। ऐसा स्तुतिकार का संकल्प है।

विवेचन भाव पक्ष

लोहे की जंजीरों द्वारा जकड़ाया गया है समस्त शरीर जिनका ऐसे वे श्री मानतुंगाचार्य अन्धकार पूर्ण पाताल तुल्य काल कोठरी में समासीन अपने इष्टदेव श्री आदिनाथ भगवान का स्तोत्र रचने के लिए उद्यत हैं। उस समय भाव मंगल की प्राप्ति के लिए वे मन-वचन-काय के प्रणिधान पूर्वक उनको नमस्कार करते हैं और फिर विशद अर्थ वाले गंभीर पदों द्वारा उनकी स्तुति करने का संकल्प करते हैं।

"स्तोष्ये किलाहमपि तं प्रथमं जिनेन्द्रम्"

इन शब्दों द्वारा उनका संकल्प व्यक्त होता है।

मंगल दो प्रकार के हैं एक द्रव्य मंगल दूसरा भाव मंगल। उसमें अष्ट द्रव्य तो द्रव्य मंगल रूप है और श्री जिनेश्वर देव का स्मरण वन्दन भाव मंगल स्वरूप है। उद्देश्य की सिद्धि तथा विघ्नों के निवारणार्थ ऐसे भाव मंगल की प्राप्ति आवश्यक है। यही कारण है कि प्रत्येक जिनभक्त किसी भी सूत्र सिद्धान्त अथवा काव्य की रचना करते समय सर्वप्रथम मंगलमय पंच परमेष्ठी का स्मरण करके उन्हें मन-वचन-काय के प्रणिधान पूर्वक नमस्कार करते हैं।

अंजुलि बद्ध दोनों हाथ मस्तक से लगाकर पंचांग पूर्वक नमन क्रिया होती है। किन्तु यदि उसमें श्रद्धा आस्था आदर बहुमान की लगन तथा भक्ति भावना न हो तो वह नमस्कार द्रव्य नमस्कार कहलाता है और तब वह उद्देश्य की सिद्धि तथा विघ्न निवारण का निमित्त नहीं बनता। इसी से स्तुति कार ने मन वचन काय के योग से भक्ति भावना पूर्वक श्री आदिनाथ भगवान को नमस्कार किया है।

जिनागमों में स्पष्ट उल्लेख है कि अरिहंत परमेष्ठी मंगल रूप है, सिद्ध

भगवंत मंगल रूप हैं, परम पद में स्थित साधु संघ मंगल स्वरूप है एवं केवली जिनेश्वरों द्वारा प्रणीत धर्म महा मंगल मय तो है ही किन्तु उनके प्रति किये गये भाव नमस्कार भी महामांगलिक है।

स्तोत्र कर्ता आचार्य मानतुग जी जिन आदिनाथ भगवान के युगल चरणाम्बुजों में नमस्कार करते है वे चरण-कमल कैसे है? इसकी व्याख्या उन्होंने निम्नलिखित तीन विशेषणों द्वारा स्पष्ट की हैं।

प्रथम तो उन्होंने नत मस्तक भक्त देवों को श्री चरणों में नमस्कार करते हुए दर्शाया है जिसके फलस्वरूप मस्तक के मुकुट मणियों की कांति इतनी अधिक जगमगाने लगती है कि एक प्रकार का अलौकिक आलोक चतुर्दिक् फैल जाता है अथवा श्री जिनेश्वर देव के पद-नख इतने अधिक तेजवन्त है कि उनसे निःसृत प्रखर रश्मियों के कारण नतमस्तक मुकुट की मणियां अत्यधिक कान्ति से झिलमिलाने लगती है। नख-प्रकाश के इस परावर्तन से एक अद्भुत तेजोमय वातावरण का निर्माण होता है। श्री जिनेश्वर देव के सानिध्य मे एक कोटि देवता निरन्तर उनकी सेवा भक्ति करते रहते है। यहा भक्त देवो से तात्पर्य इसी कोटि के देवों से है अथवा अन्य सम्यक्त्वी देव भी भक्ति वश प्रभु के पास आकर अत्यन्त विनयपूर्वक नमस्कार करते है; उनको भी भक्त देव समझना चाहिये।

द्वितीयतः——श्री जिन चरण युगल पाप-तिमिर के पुंज को नाश करने वाले है। इसका अर्थ यह है कि नमस्कार करते ही हृदय मे स्थित पापान्धकार का पलायन अति शीघ्र हो जाता है। मन को पवित्र करने के लिए जिन-चरण की सेवा समान अन्य कोई सुन्दर सुलभ साधन नहीं है।

तृतीयतः—ये चरण युगल ससार रूपी सागर मे डूबे हुए प्राणियों के लिए आलम्बन रूप है अर्थात् जो व्यक्ति भक्ति पूर्वक इनकी चरण शरण में आते है तो उनको किसी प्रकार के भव-भ्रमण का भय नही रहता। अन्य शब्दों मे इस प्रकार कह सकते है कि चरण युगल भव-सागर पार करने के लिए सुदृढ सुन्दर नौका तुल्य हैं। उनका आश्रय लेने से भक्त जन ससार-समुद्र को सरलता से पार कर जाते है और अक्षय अनन्त सुखों के अधिकारी होते है।

यहां **"युगादौ"** शब्द के द्वारा युग की आदि मे अवतरित आदिनाथ भगवान की ओर अथवा युग शब्द के श्लेष का विश्लेषण करने से वहां आदिनाथ के युगल श्री चरणों के ओर भी सकेत मिलता है।

इन विशेषणों से स्तोत्र कर्ता आचार्यश्री यह भी कहना चाहते है कि जिनको अचिन्त्य शक्ति प्राप्त है ऐसे देव भी जब श्री जिनेश्वर देव को परम

भक्ति से नित्य नमस्कार करते हैं तो फिर हमारी क्या गिनती ? हम जैसी भव भीरु आत्माओं को तो उनकी प्रणामादिक के द्वारा निरन्तर ही भक्ति करनी चाहिए। मैं जो यहां श्री आदिनाथ भगवान के युगल चरणों में सम्यक् नमन कर रहा हूं वह भक्त देव देवेन्द्रों का अनुकरण मात्र है। उत्तम अनुकरण करना गतानुगतिकता नहीं प्रत्युत् विशिष्ट पुरुषों द्वारा प्रवर्तित एक प्रशंसनीय आचार है। "महाजनो येन गतः स पन्थाः" आदि उक्तियां इसके प्रमाण हैं।

भक्त परम पद का इच्छुक होता है और वह परम पद (अमर पद) क्या है ? परम पद प्राप्त किये हुए अरहंत देवों की भक्ति करना ही है। इस भक्ति में प्रणाम या नमस्कार का स्थान पहला है यह विस्मरण नहीं करना चाहिए। अब दूसरे पद पर आइये। इस पद में स्तोत्र कर्ता ने "स्तोष्ये किलाहमपि तं प्रथमं जिनेन्द्रम्" इन शब्दों में स्तोत्र का अभिधेय (अभिप्राय) निरूपित किया है। अर्थात् इस स्तोत्र में अपने इष्ट देव प्रथम तीर्थङ्कर श्री आदिनाथ भगवान की स्तुति की गई है !

ये ऋषभदेव भगवान देवाधिदेव हैं। देव तथा देवियां भी उनका स्तवन करते हैं। इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिए उन्होंने "यः संस्तुतः—" आदि पद रखे हैं। देव देवेन्द्र मनगढ़न्त कल्पनाओं के साथ स्तुति नहीं करते बल्कि सकल शास्त्रों का नवनीत जो तत्त्वार्थ है; उसका पारायण करने से जो नैपुण्य प्राप्त हुआ है उस प्रतिभा के द्वारा ही जिनेन्द्र देव की स्तुति करते हैं और उसमें भी गंभीर अर्थों वाले स्तोत्रों का प्रयोग करते हैं। भावार्थ यह है कि मैं भी उन देवों के अनुकरण स्वरूप श्री आदिनाथ जिनेन्द्रदेव की स्तुति करने के लिए इस स्तोत्र की रचना कर रहा हूं।

गुणों की दृष्टि से सभी तीर्थङ्कर भगवन्त समान होते हैं अतः यह स्तुति अन्य तीर्थङ्करों पर भी चरितार्थ होती है। कोई तीर्थङ्कर अधिक प्रभावशाली या शक्तिशाली हो और कोई कम, इस मान्यता का जैनधर्म में कोई स्थान नहीं है। अर्थात् किन्हीं भी तीर्थङ्कर को निमित्तभूत मानकर स्तुति की जा सकती है और उस स्तुति में सभी तीर्थङ्करों के प्रति की गई स्तुति गर्भित हो जाती है।

तीर्थङ्कर भगवन्त चौंतीस विशिष्ट अतिशयों से मण्डित होते हैं। जिनका वर्गीकरण चार आधारभूत अतिशयों में किया जा सकता है—(१) ज्ञानातिशय (२) वचनातिशय, (३) पूजातिशय, (४) अपायापगमातिशय। इनमें सर्वज्ञता ज्ञानातिशय है। दिव्यध्वनि वचनातिशय है। शतेन्द्रों द्वारा पूजा पूजातिशय है। ईतिभीति रहित सुभिक्ष के सद्भावपूर्ण वातावरण का होना ही अपायापगमातिशय कहलाता है। ये चारों अतिशय प्रथम छन्द में सूचित किये गये हैं।

"**भक्तामर प्रणत मौलि मणि प्रभाणा उद्योतकम्**" यह पद पूजातिशय का सूचक है। "**दलितपापतमोवितानम्**" अपायापगमतिशय की ओर संकेत करता है : क्योंकि अपाय ही पाप का परिणाम है। "**आलम्बनं भवजले पततां जनानाम्**" इस पद से ज्ञानातिशय और वचनातिशय का निर्देशन होता है। क्योंकि ज्ञानी के सद्‌वाक्य ही भक्तजनों के लिए आलम्बन रूप बन सकते हैं।

यहाँ कोई यह प्रश्न कर सकता है कि ऊपर तो जिन चरणों को संसार-समुद्र में डूबे हुए मनुष्यों के लिए आलम्बन स्वरूप कहा है और फिर यहाँ ज्ञान और वचन को आलम्बन स्वरूप बताया जा रहा है—ऐसा क्यों ? ··· तो इसके समाधान स्वरूप जिन चरण में—यथाख्यात चरित्र के धारी जिनेन्द्र भगवान को ही लिया जा सकता है, क्योंकि वे पूर्ण सर्वज्ञ और वीतराग होते हैं उनकी सातिशय हितोपदेशी वाणी के द्वारा ही धर्म की देशना होती है इसलिए इसमें कोई विरोध नहीं आता है।

कलापक्ष

आचार्य श्री मानतुङ्ग जी ने इस भक्तामर स्तोत्र की संरचना के लिए 'वसंततिलका' वृत्त को अपनाया है जो कि संस्कृत भाषा का एक अति ललित छन्द है। जिसका कि दूसरा नाम 'मधु माधवी' छन्द भी है। इस कर्णप्रिय छन्द का लक्षण काव्य शास्त्र में "तभजा जगौगा" माना गया है। अर्थात् इसमें क्रमशः तगण, भगण, जगण और अन्त में गुरु होता है। इस प्रकार चौदह अक्षरों से इसका निर्माण होता है। लघु-गुरु की संकेत लिपि निम्न तालिका से जानी जा सकती है :—

S S I	S I I	I S I	I S I	S S
गुरु गुरु लघु	गु० ल० ल०	ल० गु० ल०	ल० गु० ल०	गु० गु०
तगण	भगण	जगण	जगण	गुरु० गुरु०

भक्ताम	र प्रण	तमौलि	मणि प्र	भाणां
गु० गु० ल०	गुरु ल०ल०	ल० गु० ल०	ल० गु [illegible]	गु० गु०

मूल श्लोक (सर्व सिद्धि दायक)

बुद्धया विनाऽपि विबुधार्चितपादपीठ' !
स्तोतुं समुद्यतमतिर्विगतत्रपोऽहम् ।
बालं विहाय जलसंस्थितमिन्दुबिम्ब—
मन्यः क इच्छति जनः सहसा ग्रहीतुम् ॥३॥

स्तोत्रकार की लघुता

स्तुति को तैयार हुआ हूं, मै निर्बुद्धि छोड़ि के लाज ।
विज्ञ जनों से अर्चित हे प्रभु ! मंद बुद्धि की रखना लाज ॥
जल में पड़े चन्द्र मंडल को, बालक बिना कौन मतिमान ।
सहसा उसे पकड़ने वाली, प्रबलेच्छा करता गतिमान ॥३॥

१ 'विबुधार्चितपादपीठम्' ऐसा भी पाठ है ।

अन्वय

विबुधार्चितपादपीठ ! विगतत्रपः अहम् बुद्ध्या विना अपि त्वां स्तोतुं समुद्यतमतिः (अस्मि)। जलसंस्थितम् इन्दुबिम्बम् बालं विहाय अन्यः कः जनः जनः सहसा ग्रहीतुम् इच्छति ? ॥

शब्दार्थ

विबुधार्चितपादपीठ ! —सुरेन्द्रों द्वारा समर्चित है पद-सिंहासन जिनका ऐसे हे जिनेश्वर देव !

विशेषार्थ—विबुध अर्थात् देव उनके द्वारा **अर्चित**-पूजित अतः **विबुधार्चित,** ऐसा वह पादपीठ अर्थात् पग रखने का आसन, वही हुआ **विबुधार्चितपादपीठ।** यह पद जिनेन्द्र प्रभु का विशेषण होते हुए भी यहाँ सम्बोधन के रूप में प्रयुक्त हुआ है। देव गण जब जिनेन्द्रदेव के चरणों की पूजा करते है, तब उनके पादपीठ की पूजा भी स्वयमेव हो जाती है।

विगतत्रपः—लज्जा रहित, निर्लज्ज, मर्यादा विहीन।

विशेषार्थ—विगत—विशेषतापूर्वक गई है जिसकी **त्रपा**-लज्जा-शर्म-हया वही हुआ **विगतत्रपः** (बहुव्रीहि समास)।

अहम्—मैं, मानतुंगाचार्य।

बुद्ध्या विना अपि बुद्धि विहीन होने पर भी बुद्धि अर्थात् ज्ञानशक्ति-प्रज्ञा।

स्तोतुम्—(आपकी) स्तुति करने के लिए।

नोट—यहाँ पर भी **त्वां** पद को अध्याहार से लिया गया है।

समुद्यतमति—तत्पर हुई है बुद्धि जिसकी ऐसा वह।

विशेषार्थ—समुद्यत—सम्पूर्ण रूप से उद्यत है जिसकी मति अर्थात् बुद्धि वही हुआ **समुद्यतमति।**

जलसंस्थितम्—जल मे पड़े हुए।

विशेषार्थ—जले—पानी में, **संस्थित**—पड़ा हुआ वही हुआ **जल संस्थित** (सप्तमी तत्पुरुष)। यह पद **इन्दुबिम्बम्** का विशेषण होने से द्वितीया विभक्ति मे आया है।

इन्दुबिम्बम्—चन्द्र के प्रतिबिम्ब को-चन्द्रमा की प्रतिच्छाया को।

विशेषार्थ—इन्दु—चन्द्रमा, उसका **बिम्ब** अर्थात् प्रतिबिम्ब वही हुआ **इन्दुबिम्ब,** उसकी अर्थात् चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब को।

बालम् विहाय—बालक को छोड़कर, बालक बिना।

अन्यः कः जनः—दूसरा कौन मनुष्य ?

सहसा—बिना विचारे (तत्काल—जल्दी से।

ग्रहीतुम्—पकड़ने के लिए—ग्रहण करने के लिए। (तुमन्त प्रत्यय)।

इच्छति—इच्छा करता है—चाहता है ! अर्थात् कोई भी नहीं चाहता।

भावार्थ

हे सुर गण पूजित पादपीठ !

बुद्धिहीन होने पर भी जो मैं आपकी स्तुति करने के लिए तत्पर हुआ हूँ, यह मेरी निर्लज्जता एवं धृष्टता ही है भला, जल में दृश्यमान चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब को पकड़ने का साहस एक नादान अबोध बालक के अतिरिक्त और कौन कर सकता है ? अर्थात् कोई नहीं।

विवेचन

स्तोत्र रचना की प्रतिज्ञा कर चुकने के पश्चात् मुनिवर श्री मानतुगाचार्य कहते हैं—कि हे जिनेन्द्र देव ! आप परमपूज्य देवाधिदेव हैं तभी तो देवगण आपके पावन चरणों की भक्तिपूर्वक अर्चना करते हैं। यही नहीं वरन् आपके पादपीठ अर्थात् पद विन्यास के आसन को भी पूजते हैं। कहाँ वे कहाँ हम ? आपकी स्तुति हम किस प्रकार करें ? तद्रूप बुद्धि हमारे पास तो है नही। लोक व्यवहार तो ऐसा है कि जिस कार्य में अपनी बुद्धि की पहुँच हो वही करना सर्वथा योग्य है। जो कार्य शक्ति के बिना किया जाता है वह बीच में ही छोड़ना पड़ता है। अतः उसके हास्यास्पद होने का अवसर भी आता है। परन्तु आपकी स्तुति करने का अदम्य उत्साह हमारे हृदय में इतना प्रबल है कि अपनी शक्ति की मर्यादा तोड़ कर भी मैं इस बृहत्तर कार्य के करने को तत्पर हुआ हूं :

आगे के पदों में अपने विधान का समर्थन करने के लिए जिन-जिन उपमानों का प्रयोग वे यहाँ करते हैं, उनके दृष्टान्त निम्न भाँति हैं।

जल में चन्द्रमा का लुभावना प्रतिबिम्ब दिखाई देता है, परन्तु ऐसी सुन्दर वस्तु को पकड़ने का प्रयत्न कोई भी बुद्धिमान मनुष्य नहीं करता, क्योंकि उसमें उसे सफलता मिलने का विश्वास ही नहीं होता। हाँ, नादान और अबोध बालक अवश्य ही उस प्रतिबिम्ब को पकड़ने का असफल प्रयास करता है।

आपकी स्तुति के लिए मेरी तत्परता ठीक बालक के प्रयत्न की तरह ही है। अर्थात् मात्र बाल चेष्टा है।

इसी पद मे आचार्य श्री का कर्त्तृत्व बुद्धि रहित अपनी लघुता का भी

प्रदर्शन पाया जाता है। यद्यपि वे एक समर्थ और वर्चस्वी प्रतिभा सम्पन्न चारित्र्यनिष्ठ विद्वान् सुकवि हैं तथापि अपनी गिनती अबोध बालकों में ही करते हैं। निश्चयत: जो महान् होते हैं वे कभी भी बड़े बोल नहीं बोलते। क्योंकि :—

"लघुता से प्रभुता मिले प्रभुता से प्रभु दूर" लोकोक्ति प्रसिद्ध है।

Shameless I am, O Lord, as I, though devoid of wisdom, have decided to eulogise you, whose feet have been worshipped by the gods. Who, but an infant, suddenly wishes to grasp the disc of the moon reflected in water ? 3

× × ×

I am immodest and impudent. (as) I through deficient in poetic genius, am intent on eulogizing you-you whose foot stool (throne) was worshipped and honoured by gods. Who else than a child wants to catch hold of a shadow of the moon (seen) in water ? 3

× × ×

मूल श्लोक (जल-जन्तु भय मोचक)

वक्तुं गुणान् गुण - समुद्र ! शशाङ्ककान्तान्,
कस्ते क्षमः सुरगुरु - प्रतिमोऽपि बुद्धया ।
कल्पान्त - काल - पवनोद्धत - नक्र - चक्रं,
को वा तरीतुमलमम्बुनिधिं भुजाभ्याम् ॥४॥

जिनेश्वर के गुणों की महानता

हे जिन चन्द्रकान्त से बढ़कर, तव गुण विपुल अमल अति श्वेत ।
कह न सके नर हे गुण सागर! सुरगुरु के सम बुद्धि समेत ॥
मक्र, नक्र चक्रादि जन्तु युत, प्रलय पवन से बढ़ा अपार ।
कौन भुजाओं से समुद्र के, हो सकता है परले पार ? ॥४॥

अन्वय

गुण-समुद्र ! बुद्धया सुरगुरुप्रतिमः अपि कः ते शशाङ्ककान्तान् गुणान् वक्तुम् क्षमः ? वा कल्पान्तकालपवनोद्धतनक्रचक्रम् अम्बुनिधिं भुजाभ्याम् तरीतुं कः अलम् ?

शब्दार्थ

गुण-समुद्र !—हे गुणों के समुद्र—हे गुणसागर।

विशेषार्थः—गुणों के समुद्र—गुण-समुद्र यहां गुण शब्द से तात्पर्य ज्ञान, दर्शन चारित्रादि आत्मा के अनन्त गुणों से समझना चाहिए।

बुद्धया—बुद्धि के द्वारा।

सुरगुरु प्रतिमः—बृहस्पति के समान।

सुरगुरु—बृहस्पति, उनके **प्रतिम**—समान, वही हुआ **सुरगुरु प्रतिमः**।

अपि—भी।

कः—कौन मनुष्य ?

ते—तुम्हारे, आपके।

शशाङ्ककान्तान्—चन्द्रमा तुल्य उज्ज्वल—ऐसा

विशेषार्थः—शशाङ्क—चन्द्रमा, उस जैसी **कान्त**—कान्ति वाला उज्ज्वल वही हुआ **शशाङ्ककान्त**। यह पद भी **गुणान्** का विशेषण होने से द्वितीया के बहुवचन में प्रयुक्त हुआ है।

गुणान्—गुणों को।

वक्तुम्—कहने के लिए—कहने में।

क्षमः—समर्थ है ?

यहां **अस्ति** पद अध्याहार से ग्रहण करने योग्य है।

वा—अथवा।

कल्पान्तकाल पवनोद्धतनक्रचक्रम्—प्रलय काल के तूफानी तेज थपेड़ों से उछल रहे हैं मगरमच्छ घड़ियाल आदि भयंकर जल-जन्तु जिसमें ऐसे।

विशेषार्थ—कल्प—युग, उसका **अन्त** कल्पान्त, निमित्त हो उसमें जो **काल**, वही हुआ **कल्पान्तकाल** अर्थात् प्रलयकाल, उस प्रलयकाल की प्रचण्ड-तेज आंधी से उछल रहा है मगरमच्छ घड़ियाल आदि जलचरों का समुदाय, वही हुआ **कल्पान्तकाल पवनोद्धतनक्रचक्र**, उसको। यह पद अम्बुनिधि का विशेषण होने से द्वितीया के एक वचन में आया है।

शास्त्रोक्त विधान है कि जब प्रलय काल होता है तब भयंकर आंधी चलती

है और इससे बड़े बड़े समुद्रों में उत्ताल तरंगें उठती हैं जिससे कि उसके अथाह जल में रहने वाले मगरमच्छ घड़ियाल आदि जलचरों का समूह ऊपर आ-आकर उछलने-कूदने लगता है और फिर समुद्र का वह अतल-जल पृथ्वी पर सर्वत्र फैल कर प्रलयङ्कारी दृश्य उपस्थित कर देता है।

अम्बुनिधिम्—जल-राशि—समुद्र को

विशेषार्थ—अम्बु—जल, उसका **निधि**—भण्डार, वही हुआ **अम्बुनिधि** अर्थात् समुद्र !

भुजाभ्याम्—दोनों भुजाओं से।

तरीतुम्—तैरने के लिए—तैरने में।

कः—कौन मनुष्य ?

अलम्—समर्थ है ?

भावार्थ

हे गुणनिधे !

आप गुणों से परिपूर्ण हुए है, आपके अनंत गुण चन्द्रमा के तुल्य निर्मल है। उनका वर्णन करने में वृहस्पति जैसा बुद्धिमान सुर गुरु भी समर्थ नहीं है। तब फिर किसकी शक्ति है जो आपके सम्पूर्ण गुणों का वर्णन कर सके ? अर्थात् किसी में भी ऐसी शक्ति नहीं है। उदाहरणार्थ—प्रलय काल के पवन से उद्वेलित ऐसे समुद्र को जिसमे मगरमच्छ घड़ियाल आदि भयंकर जलचर जन्तु उथल पुथल होकर उछल रहे हों कौन व्यक्ति अपनी दोनों भुजाओं से तैर कर पार करने में समर्थ है ? अर्थात् कोई भी नहीं।

विवेचन

स्तोत्र रचना में तत्पर आचार्य श्री कहते हैं कि हे आदीश्वर देव! आप तो गुणों के महासागर सदृश शान्त है अर्थात् आप अनन्त गुणों से परिपूर्ण हैं और फिर प्रत्येक गुण चन्द्रमा की भाँति उज्ज्वल है। इन सब गुणों की यथार्थ वन्दना वृहस्पति तुल्य प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति भी जब नहीं कर सकता तब फिर भला मेरी क्या सामर्थ्य जो आपके गुणों का वर्णन कर सकू ?

आपके यथार्थ गुणों का वर्णन करने के लिए कितना ही प्रयास करें किन्तु नहीं कर सकते। विशेष स्पष्टीकरण करते हुए वह कहते हैं कि जहाँ प्रलय काल की पवन जैसी आंधी चल रही हो और मगरमच्छ घड़ियाल आदि जल-चर प्राणी जिसमें उछल रहे हों ऐसे महासागर को दोनों भुजाओं से तर कर

सकने में कौन-सा मनुष्य समर्थ हो सकता है ? तात्पर्य यह कि ऐसा कोई नहीं कर सकता।

इसी भाँति कोई मनुष्य कितना ही बुद्धिमान हो, विद्वान हो, महापण्डित की ख्याति से विभूषित हो तो भी आपके गुणों का यथावत् वर्णन नहीं कर सकता।

यहाँ यह समझने योग्य वस्तु है कि गुण अनंत हैं और वाणी क्रमवर्ती है तथा गुण चैतन्यमयी हैं तथा वाणी जड़ शब्दमयी है इसलिए वाणी द्वारा जिनेश्वरदेव के सब गुणों का यथावत् वर्णन किसी भी प्रकार नहीं हो सकता। फिर तीर्थङ्कर भगवन्त के एक ही गुण का वर्णन करना होता तो वह भी वाणी के द्वारा संभव नहीं था क्योंकि शब्दशक्ति मर्यादित है अतएव सम्पूर्ण गुणों का वर्णन वाणी में नहीं आ सकता।

Lore thou art the very occean of virtue who though vying in wisdom with the preceptor on the gods, can descride thine excellences spotless like the moon ? Whoever can cross with hands the ocean, full of alligators lashed to fury by the winds of the Doomsday. 4

× × ×

Who is able to describe your merits, as clear and shinning as the light of the moon, even though he may equal Vrihaspati-in talent ? Who is able to swim an ocean full of propoises and whates, tossed upwards by the tempest of deluge ? 4

× × ×

मूल श्लोक (अक्षि [नेत्र] रोग संहारक)

सोऽहं तथापि तव भक्तिवशान्मुनीश !
कर्तुं स्तवं विगतशक्तिरपि प्रवृत्तः ।
प्रीत्याऽऽत्मवीर्यमविचार्य मृगी[1] मृगेन्द्रं,
नाभ्येति किं निजशिशोः परिपालनार्थम् ।।५।।

भक्ति-प्रवणता

वह मैं हूं कुछ शक्ति न रखकर, भक्ति प्रेरणा से लाचार ।
करता हूं स्तुति प्रभु तेरी, जिसे न पौर्वापर्य विचार ।।
निज शिशु की रक्षार्थ आत्मबल, बिना बिचारे क्या न मृगी ?
जाती है मृग-पति के आगे, प्रेम रंग में हुई रंगी ।।५।।

---

१. मृगो—इति पाठान्तरम् ।

अन्वयः

मुनीश ! सः अहम् तथापि भक्तिवशात् विगतशक्तिः अपि तव स्तवं कर्तुं प्रवृत्तः मृगः प्रीत्या आत्मवीर्यम् अविचार्य निजशिशोः परिपालनार्थम् किम् मृगेन्द्रम् न अभ्येति ?

शब्दार्थः

मुनीश—*हे मुनीश्वर ऋषभदेव—हे मुनीन्द्र आदिदेव !*

विशेषार्थ :—**मुनि**—साधु, उनके **ईश**—स्वामी—ईश्वर वे **मुनीश**, श्री जिनेश्वर देव साधु संघ के स्वामी होते हैं, अतः उनको इस प्रकार के विशेषण से प्रगट किया है। यहां **मुनीश** पद से श्री ऋषभदेव भगवान को संबोधित किया है।

सः—वह असमर्थ—अशक्त—सामर्थ्यहीन।

अहम्—मैं मानतुंग।

तथापि—फिर भी।

भक्तिवशात्—भक्ति के कारण—भक्ति के लिए।

विगत शक्तिः—शक्ति हीन—शक्ति रहित।

विशेषार्थ : **वि**—विशेष रूप से, **गत**—चली गई है, **शक्ति**—(बल, ताकत, एनर्जी) जिसकी ऐसा वह **विगतशक्ति** अर्थात् शक्ति विहीन।

अपि—होते हुए भी।

तव स्तवं कर्तुम्—तुम्हारे गुण कीर्तन को करने के लिए।

प्रवृत्तः—तत्पर हूं, सन्नद्ध हूं !

मृगी—हरिणी।

प्रीत्या—प्रीति से, स्नेहातिरेक से।

आत्मवीर्यम्—अपने सामर्थ्य को।

विशेषार्थ—**आत्म**—अपना, **वीर्य**—शक्ति, वही हुआ **आत्मवीर्य**, उसको (यह पद द्वितीया के एक वचन में आया है।)

अविचार्य—बिना विचारे।

निजशिशोः—अपने बच्चे की।

विशेषार्थ—**निज**—अपना **शिशु**—बालक, वही हुआ **निज शिशु**, उसका यह पद षष्ठी के एक वचन में प्रयुक्त हुआ है।

परिपालनार्थम्—रक्षा करने के लिए।

किम्—क्या ?

मृगेन्द्रं न अभ्येति—सिंह का सामना नहीं करती ? अर्थात् अवश्य करती है।

विशेषार्थ :—**मृग**—पशु, उनका **इन्द्र**—राजा, वही हुआ **मृगेन्द्र** अर्थात् पशुओं का राजा।

भावार्थः

हे यतीश्वर ! युगादिदेव ! !

एक तो आप में चन्द्रमा के समान आल्हादक अमृतमय शीतल-शान्त और उज्ज्वल कान्ति वाले अनन्त गुण हैं; दूसरे मेरी बुद्धि अत्यन्त अल्प है; तीसरे बाल चेष्टाओं से युक्त हूँ। इन सब असमर्थताओं के होते हुए भी जो मैं आपके गुण रूपी समुद्र को पार करने का असफल प्रयास कर रहा हूँ (अर्थात् आपकी स्तुति करने के लिए तैयार हो रहा हूँ) उसमें एक मात्र आपकी भक्ति की प्रेरणा ही मूल रूप से विद्यमान है। जैसे अपने शिशु (मृग शावक) पर झपटते हुए विकराल सिंह को देखकर प्रीति और वात्सल्य से प्रेरित हरिणी उसको बचाने के लिए अपनी शक्ति की परवाह न करके क्या उस मृगराज का सामना नहीं करती ? अर्थात् अवश्य करती है।

हरिणी अपनी शक्ति को शिशु वात्सल्य के कारण भूल जाती है और मैं (मानतुंग) अपनी शक्ति को भक्ति के कारण भूल रहा हूँ।

विवेचन

अभी तक आचार्य श्री मानतुंग मुनि ने भक्तामर के प्रथम छंद में मंगलाचरण पूर्वक आदिनाथ भगवान को नमन किया और उसके पश्चात् क्रमशः दूसरे, तीसरे तथा चौथे छन्द में उन्होंने अपनी लघुता, अल्पज्ञता एवं असमर्थता को एक कोटि मे रखा तो दूसरी कोटि में श्री आदिनाथ भगवान के गुणों की प्रचुरता, अनन्तज्ञान की प्रभुता तथा अनन्तशक्तिमत्ता को रखा। ये दोनों कोटियाँ परस्पर में सर्वथा विपरीत हैं अथवा इतनी अधिक असम्भव हैं जितनी कि किसी सरिता के दो तटों का मिलना। तथापि इस असम्भवता को जोड़ने का प्रयत्न अपने काव्य वैभव एवं भक्ति के बल पर करने के लिए वे तत्पर हुए हैं। अर्थात् भक्ति के माध्यम से अशक्ति भी शक्ति बन कर मुक्ति का मार्ग प्रशस्त कर रही है। इसके लिए आचार्य श्री ने एक बहुत ही सुन्दर दृष्टान्त प्रस्तुत किया है—

वात्सल्य भक्ति, प्रेम और ममता का एक सशक्त प्रतीक माना जाता है।

मानव में ही नहीं प्रत्युत तिर्यञ्च पशुओं में भी यह वात्सल्य भावना दृष्टिगत होती है और उसका ज्वलन्त उदाहरण उस समय देखा जाता है कि जब किसी हरिणी का नन्हा सा शावक (वत्स) शेर के चंगुल में आ जाता है तब यदि ऐसे समय में हरिणी वहाँ उपस्थित हो तो वह मूक बन कर अपनी ममता भरी आँखों से उसका वध कतई नहीं देख सकती। यद्यपि वह जानती है कि सिंह का मुकाबला करना उसकी शक्ति के बाहर है तथापि वात्सल्य एवं प्रेम की जबरदस्त भावना उसे सिंह का सामना करने के लिए प्रेरित करती है। भले ही उसमें उसे सफलता मिले या नहीं, किन्तु कर्त्तव्य से विमुख नहीं होती। इसी दृष्टान्त के समानान्तर कवि श्री ने अपने को लघु, अशक्त एवं अल्पज्ञता की कोटि में रख कर भी उत्कृष्ट भक्त सिद्ध किया है अर्थात् इस भक्ति की प्रबलता ने उपर्युक्त तीनों प्रकार की निर्बलताओं पर विजय प्राप्त की है और इस प्रकार भक्ति रस से परिपूर्ण यह सम्पूर्ण काव्य भक्तामर के नाम को इसी छन्द में सार्थक कर देता है।

Though devoid of power yet urged by devotion, O Great Sage, I am determined to eulogise you. Does not a deer, not taking into account its own might, face a lion to protect its young-one out of affection ? 5

O, great sage ! (Through I am quite deficient in poetic talent) yet I have unnertaken to compose this Stotra in your praise, being prompted by my devotion to you. Does not a doe, being encouraged by love for her fawn, ran at the lion to deliver her young one (from the lion's clutches) without thinking of her own power ? 5

मूल श्लोक (सरस्वती भगवती विद्या प्रसारक)

अल्पश्रुतं श्रुतवतां परिहास - धाम,
त्वद्भक्तिरेव मुखरीकुरुते बलान्माम्।
यत्कोकिलः किल मधौ मधुरं विरौति,
तच्चारुचूतकलिका[1] निकरंकहेतुः ॥६॥

स्तोत्र रचना का मूल कारण—भक्ति

अल्पश्रुत हूं श्रुतवानों से, हास्य कराने का ही धाम।
करती है वाचाल मुझे प्रभु, भक्ति आपकी आठों याम॥
करती मधुर गान पिक मधु में, जग जन मन हर अति अभिराम।
उसमें हेतु सरस फल फूलों के युत हरे-भरे तरु-आम॥६॥

१. तच्चारुचाम्र इति पाठान्तरम्।

अन्वयः

अल्पश्रुतम् (अतएव) श्रुतवताम् परिहासधाम् माम् त्वद्भक्तिः एवं बलात् मुखरीकुरुते, किल यत् कोकिलः मधौ मधुरं विरौति, तत् चारुचूत-कलिकानिकरैकहेतुः।

शब्दार्थः

अल्पश्रुतम्—अल्पज्ञ, अल्पज्ञानी, अल्पश्रुताभ्यासी।

विशेषार्थ :—**अल्प**—थोड़ा है, **श्रुत**—शास्त्रज्ञान जिसको ऐसा वह **अल्पश्रुत**। जैन परिभाषा मे शास्त्रों को **श्रुत** कहा जाता है, क्योंकि वह गुरुओं के मुख से सुनकर ही अवधारण किया जाता है।

अतएव—इसलिए। अल्पश्रुत का परिणाम जो कि श्रुतवताम् परिहास-धाम के रूप में आगे आ रहा है, बतलाने के लिए अतएव शब्द को अध्याहार से यहाँ ग्रहण किया गया है।

श्रुतवताम्—विद्वानों के।

विशेषार्थ :—जिन्होंने श्रुत अर्थात् शास्त्रों को भलीभाँति देखा, सुना, समझा और भाव भासित किया है वे **श्रुतवत्** अर्थात् विद्वान् हुए। यह पद षष्ठी के बहुवचन के रूप में यहाँ प्रयुक्त हुआ है।

परिहासधाम—उपहास का पात्र, हँसी का स्थान।

विशेषार्थ :—**परिहास**—उपहास—हँसी, उसका **धाम**—स्थान—ठिकाना। वह हुआ **परिहासधाम**। यह पद माम् का विशेषण होने से द्वितीया के बहु वचन बनने पर भी सामासिक शब्द के रूप में प्रयुक्त हुआ है।

माम्—मुझको।

त्वद्भक्तिः एव—आपकी भक्ति ही।

बलात्—बलपूर्वक, जबरन।

मुखरीकुरुते—वाचाल कर रही है, मुखर कर रही है।

किल—निश्चयतः-निश्चय से, सचमुच में।

यत्—जो।

कोकिलः—कोयल।

मधौ—मधु ऋतु में, बसन्त काल में।

(**मधु**—वसन्त ऋतु।)

मधुरं—मधुर स्वर से, सुरीले स्वर से।

विरौति—कुहुकती है, कुहू-कुहू करती है, कूजती है।

तत्—वह, सो।

चारुचूतकलिकानिकरकहेतुः—सुन्दर आम्रवृक्षों के मौर (बौर, मंजरी, कोंपल) का समूह ही एक मात्र कारण है।

विशेषार्थ :—**चारु**—मनोहर, सुन्दर; **चूत**—आम्रवृक्ष। उसकी **कलिका**—मंजरी। सो वह हुआ **चारुचूतकलिका**। उसका **निकर**—समूह, वही हुआ **चारुचूतकलिकानिकर**। वही है एक मात्र हेतु जिसमें ऐसा वह **चारुचूतकलिकानिकरैकहेतुः**।

भावार्थः

आचार्यश्री स्तुति रचना का कारण प्रकट करते हुए उसमें अपने कर्तृत्वपने का निषेध करते हैं। वे कहते हैं कि हे आदिनाथ भगवन्! मैं अल्पज्ञ हूँ, शास्त्रों का विशेष जानकार नहीं हूँ; तथापि स्तुति करने को तैयार हुआ हूँ। ऐसा करने से निश्चय ही मैं विद्वानों की हँसी का पात्र बनूंगा। मुझमें आपके गुणगान करने की शक्ति तो है नहीं, परन्तु भक्ति अवश्य ही बलवती है जो कि मुझे जबरन स्तुति करने के लिए वाचाल कर रही है—विवश कर रही है।"

जैसे कि कोयल में यदि स्वतः बोलने की शक्ति होती तो वह वसन्त ऋतु के अतिरिक्त अन्य ऋतुओं में भी बोलती हुई सुनाई देती, परन्तु वह तो तभीमीठी वाणी बोलती है; जब कि वसन्त[1] ऋतु में आम्रवृक्षों की मंजरियाँ लहलहा उठती हैं अर्थात् आमों के बौर ही उसके बोलने के प्रेरणा केन्द्र हैं। उसी भाँति आपकी गुण-मंजरी ही एक मात्र मुझ अल्पज्ञ की स्तुति का प्रेरणा केन्द्र बनी हुई है।

विवेचन

हमारे ज्ञान का जितना भी अल्पाधिक विकास है, वह मतिज्ञानावरण एवं श्रुतज्ञानावरण के क्षयोपशम की तारतम्यता के अनुसार ही व्यक्त है। श्री मानतुंगाचार्यजी अपनी लघुता प्रकट करते हुए कहते हैं कि—"मुझ में मतिज्ञान का क्षयोपशम तो अल्प है ही साथ ही श्रुतज्ञान का विकास भी अत्यन्त अल्प है।"

तीसरे छन्द में आया हुआ "बुद्धया विनापि" पद जहाँ उनकी मतिज्ञान संबंधी अल्पज्ञता की ओर संकेत करता है, वहाँ इसी छंद में आया हुआ "अल्प-

---

१. चैत और बैसाख ये दो महीने वसन्त ऋतु के है।

श्रुतं" पद उनके श्रुतज्ञान की अल्पता को भी सूचित करता है। पुनश्च श्रुतवतां परिहासधाम पद ऐसा सूचित करता है कि कहाँ तो श्रुतधर महर्षि गण और कहाँ मैं ? तात्पर्य यह कि उनकी तुलना में तो मैं सर्वथा नगण्य हूँ और हो सकता है कि मेरी अल्पज्ञता ऐसे विद्वज्जनों के लिए उपहास का विषय बने।

इतना सब कुछ होते हुए भी उनकी भक्ति में इतनी शक्ति है कि वह जबरन अभिव्यक्ति के द्वार को खोल रही है, अर्थात् स्तोत्रकार को जबरन वाचाल बना रही है—बोलने के लिए विवश कर रही है।

दृष्टान्त द्वारा इसी विषय को स्पष्ट करते हुए वे आगे कहते हैं कि मेरे काव्य में जो भी प्रसाद या माधुर्य गुण परिलक्षित हो रहा है वह सब श्री जिनेश्वर देव की भक्ति का ही प्रताप है।

वसंत ऋतु में कोयल मधुर स्वर में कुहुकती है क्योंकि उसके सामने आम्रवृक्षों के रसदार मंजरियों के गुच्छे होते हैं। स्वाभाविक है कि जब अपने सामने कोई अत्यन्त प्रिय वस्तु (जैसे कि रसदार आमों का मौर) हो तो स्वर में अपने आप मधुरता आ जाती है। ठीक उसी प्रकार आपकी भक्ति के विचार मात्र से ही मेरी वाणी में इतनी मधुरता आ रही है।

Though my learning is poor, and I am the butt of ridicule to the learned, yet it is my devotion towards You, which forces me to be vocal. The only cause of the cuckoo's sweet song in the spring-time is indeed the charming mango buds. 6.

× × ×

My devotion to you only perforce causes me to compose this eulogy, me who is conversant with only scanty knowledge and (consequently) an object of ridicule (in the eyes) of those who are well versed with and proficient in the sacred sciace; (for) a collection of mango sprouts is instrumental in making the cuckoos coo in the spring season. 6.

× × ×

मूल श्लोक (सर्व दुरित संकट क्षुद्रोपद्रवनिवारक)

त्वत्संस्तवेन भव - सन्तति - सन्निबद्धं,
पापं क्षणात् क्षय-मुपैति-शरीरभाजाम् ।
आक्रान्त - लोक - मलिनील - मशेषमाशु ।
सूर्यांशुभिन्नमिव शार्वर - मन्धकारम् ।।७।।

जिनस्तवन से पापक्षय

जिनवर की स्तुति करने से, चिर संचित भविजन के पाप ।
पल भर में भग जाते निश्चित, इधर-उधर अपने ही आप ।।
सकल लोक में व्याप्त रात्रि का, भ्रमर सरीखा काला ध्वान्त ।
प्रातः रवि की उग्र-किरण लख, हो जाता क्षण में प्राणान्त ।।७।।

अन्वयः

त्वत्संस्तवेन शरीरभाजाम् भवसन्ततिसन्निबद्धम् पापम् आक्रान्तलोकम् अलिनीलम् सूर्यांशुभिन्नम् शार्वरम् अन्धकारम् इव, अशेषम् क्षणात् क्षयम् उपैति ।

शब्दार्थः

त्वत्संस्तवेन—आपके स्तवन से ।

विशेषार्थ :—**त्वत्**—आपके । **संस्तव**—सारभूत स्तवन । वही हुआ **त्वत्संस्तव**, उसके द्वारा । जिस स्तवन में प्रभु के सद्भूत गुणों का कीर्तन हो उसे संस्तव समझना चाहिए ।

शरीरभाजाम्—देहधारी जीवों का—प्राणियों का ।

भवसन्ततिसन्निबद्धम्—परम्परागत भवभवान्तरों से—बंधा हुआ ।

विशेषार्थ :—**भव**—जन्म जरा मृत्यु उसकी **सन्तति**—परम्परा, वही हुआ **भवसन्तति** उसमें **सन्निबद्धम्**—बंधा हुआ—जकड़ा हुआ वही हुआ **भवसन्ततिसन्निबद्धम्** । यह पद आगे आने वाले **पापम्** का विशेषण है ।

पापम्—पापकर्म—दुष्कर्म ।

आक्रान्तलोकम्—समस्त लोक में फैले हुए—संसार भर में व्याप्त ।

विशेषार्थ:—**आक्रान्त**—आवृत । **लोक** पर्यन्त, घिरा हुआ वही हुआ **आक्रान्त लोक** ।

अलिनीलम्—भ्रमर के समान काला ।

विशेषार्थ—**अलि**—भ्रमर, उसके समान **नील** वही हुआ **अलिनील** अर्थात् काला । अभिधानचिन्तामणि आदि कोष ग्रन्थों में नील को श्याम शब्द का पर्यायवाची कहा गया है ।

सूर्यांशुभिन्नम्—सूर्य की किरणों से छिन्न-भिन्न (लुप्त) किया हुआ ।

विशेषार्थ :—**सूर्य**—रवि, उसकी **अंशु**—किरणें वही हुआ **सूर्यांशु** । उनके द्वारा **भिन्नम्**—भेदा हुआ वही हुआ **सूर्यांशुभिन्नम्** ।

शार्वरम्—रात्रि विषयक—रात्रि में होने वाले ।

विशेषार्थ—**शर्वरी**—रात्रि । उस पर से **शार्वर** विशेषण बना ।

अन्धकारम्—अन्धकार के ।

इव—समान ।

अशेषम्—सब का सब ।

न शेष यथा स्यात्तथा अशेषम् । (अव्ययी भाव समास) ।

क्षणात्—पल भर में—क्षण भर में—जल्दी से जल्दी ।

क्षयम्—विनाश को ।

उपैति—प्राप्त हो जाता है ।

भावार्थः

हे प्रभो! जिस प्रकार भ्रमर समूह के समान रात्रि का सघन काला अन्धकार सूर्य की किरणों का स्पर्श पाते ही पूर्णरूपेण नष्ट हो जाता है । उसी प्रकार आपके कीर्तन से जीवधारियों के जन्म-जन्मान्तरों से उपार्जित एवं बद्ध पाप कर्म तत्काल ही समूल नष्ट हो जाते हैं ।

विवेचन

इस छन्द में भगवत् भक्ति का फल आचार्यश्री के द्वारा निरूपित किया गया है—

संसारी जीव निरन्तर मिथ्यात्व अविरति प्रमाद कषाय और योगों के द्वार से पापाश्रव करके कर्म बन्धन में बधता रहता है । कर्म बन्धनों से जन्म जन्मान्तरों तक चतुर्गतियों में परिभ्रमण करता रहता है । जहाँ उसे जन्म जरा मरण रोग शोक आदि नाना प्रकार की आधि-व्याधि और उपाधियों से त्रस्त होना पड़ता है, कर्म बन्धन से मुक्ति का सबसे सुगम-सरल साधन केवल भगवत् भक्ति ही है ।

जिनेश्वर देव के गुणों के स्मरण से प्रशस्त राग के कारण शुभाश्रव शुभ-बन्ध का स्थिति और अनुभाग बढ़ता जाता है औरअशुभाश्रव अशुभबन्ध का स्थिति अनुभाग क्रमशः कम हो जाता है यहाँ तक कि उत्कट भक्ति से आबद्ध सम्पूर्ण कर्म क्षय को प्राप्त होते है । कहा भी है—

> **जन्म-जन्म कृतं पापं, दर्शनेन विनश्यति ।**
> **न चिरं तिष्ठते पापं, छिद्र हस्ते यथोदकम् ॥**

जिस प्रकार सूर्य की किरण में रात्रि का सघन काला अन्धकार पौ फटते ही विलीन हो जाता है उसी प्रकार आपके दर्शन स्मरण रूपी सम्यक्त्व की किरण से मिथ्यात्व रूपी अन्धकार क्षण भर में नष्ट हो जाता है ।

मानव हृदय में जब अपने आदर्श के गुणों का आलोक भर जाता है तो फिर कल्मष रूपी अन्धकार वहाँ कैसे ठहर सकता है ? भला कहीं एक म्यान में दो तलवारें रह सकती हैं—अर्थात् कभी नहीं ।

मिथ्यात्व तो तभी तक था जब तक कि हृदय में जिनेन्द्र भक्ति का प्रखर प्रकाश नहीं था। मानव हृदय में श्री जिनेन्द्रदेव के गुणों का प्रकाश होते ही उसमें छुपे बैठे हुए समस्त सांसारिक पाप कर्म तुरन्त ही समाप्त हो जाते हैं और इसीलिए ही भक्त आत्मा आत्म विभोर हो निरन्तर सोचता है कि--

अनन्तानन्त संसार सन्ततिच्छेदकारणम् ।
जिनराजपदाम्भोज - स्मरणं शरणं मम ॥

अर्थात् श्री जिनराज के चरण कमलों का स्मरण अनन्तानन्त संसार की परम्परा को नाश करने वाला है। भगवन् ! आप मुझे अपनी शरण में लेलो।

As the black-bee-like darkness of the night, over-spreading the universe, is dispelled instantaneously by the rays of the sun, so is the sin of men, accumulated through cycles of births, dispelled by the eulogies offered to you. 7.

As the rays of the sun quickly and easily disperse the total darkness of night which, being as dark and black as bees, pervaded throughout the whole world : similarly the continuous sins and crimes of all the living beings (which reference to this worldly succession) are easily destroyed by your praise. 7.

मूल श्लोक (सर्वारिष्ट योग निवारक)

मत्वेति नाथ ! तव संस्तवनं मयेद—
मारभ्यते तनुधियाऽपि तव प्रभावात्[1] ।
चेतो हरिष्यति सतां नलिनीदलेषु,
मुक्ताफलद्युतिमुपैति ननूद - बिन्दुः ॥८॥

स्तुति की प्रस्तावना

मैं मति-हीन-दीन प्रभु तेरी, शुरू करूं स्तुति अघ-हान ।
प्रभु-प्रभाव ही चित्त हरेगा, सन्तों का निश्चय से मान ॥
जैसे कमल-पत्र पर जल कण, मोती जैसे आभावान ।
दिपते हैं फिर छिपते हैं, असली मोती में हे भगवान ! ॥८॥

१. प्रसादात् इति पाठान्तरम् ।

अन्वयः

इति मत्वा नाथ ! तनुधिया अपि मया, इदं तव संस्तवनम् आरभ्यते, तव प्रभावात् सताम् चेतः हरिष्यति ननु उदबिन्दुः नलिनीदलेषु मुक्ताफल-द्युतिम् उपैति ।

शब्दार्थः

इति मत्वा—ऐसा मानकर ।

विशेष सूचना :—सातवें छन्द में आचार्यश्री ने यह दर्शाया था कि "प्राणियों के अनेक जन्मों में उपार्जित किये हुए पाप कर्म श्री जिनेन्द्र देव के सम्यक् स्तवन करने से तत्काल सम्पूर्णतया नष्ट हो जाते हैं ।" इस प्रसंग को आठवें छन्द के साथ जोड़ने के लिए यहाँ प्रस्तुत छन्द में इति शब्द का प्रयोग किया गया है ।

नाथ !—हे नाथ ! हे स्वामिन् !

तनुधिया अपि—मन्द बुद्धि वाला होने पर भी ।

विशेषार्थ :—**तनु**—स्वल्प, मन्द है, **धी**—बुद्धि जिसकी ऐसा वह **तनुधी** । यह पद **मया** का विशेषण होने से तृतीया के एक वचन में आया है । **अपि**—फिर भी । तात्पर्य यह कि मन्द बुद्धि वाला होने पर भी ।

मया—मेरे द्वारा ।

इदं—यह ।

तव—आपका, तुम्हारा ।

संस्तवनम्—स्तोत्र, संस्तवन ।

विशेषार्थ :—**सं**—समीचीन । **स्तवन**—गुण कीर्तन, वही हुआ **संस्तवनं**—अर्थात् सम्यक् स्तोत्र ।

आरभ्यते—प्रारम्भ किया जा रहा है (कर्मणि प्रयोग) ।

तव प्रभावात्—आपके प्रभाव से (पंचमी) ।

सतां—सत्पुरुषों के, सज्जन[1] पुरुषों के ।

चेतः हरिष्यति—चित्त को हरण करेगा ।

ननु—निश्चय से ।

उदबिन्दुः—जल की बूंद ।

---

१. दुर्जनों को तो अच्छे से अच्छा भी काव्य बुरा लगता है, इसलिए यहाँ पर सज्जन विशेषण दिया है ।

विशेषार्थ :—**उद्**—पानी, उसकी **बिन्दुः**—बूंद, टीप। वही हुआ **उदबिन्दु**। पानी वाचक **'उदक'** शब्द का यहाँ सामासिक रूप में **उद्** आदेश हुआ है।

नलिनीदलेषु—कमलिनी के पत्तों पर।

विशेषार्थ :—**नलिनी**—कमलिनी, उसका **दल**—पत्ते, वह हुआ **नलिनीदल**, उनपर (सप्तमी बहु वचनान्त)।

मुक्ताफलद्युतिम्—मोती की कान्ति को।

विशेषार्थ :—**मुक्ताफल**—मोती, उसकी **द्युति**—कान्ति, वही हुआ **मुक्ताफलद्युति**, उसको।

उपैति—प्राप्त करती है।

भावार्थः

हे प्रभावक प्रभो !

जिस प्रकार कमलिनी के पत्ते पर पड़ा हुआ ओस-बिन्दु उस पत्ते के स्वभाव एवं प्रभाव से मोती के समान आभा बिखेर कर दर्शकों के चित्त को आल्हादित करता है, उसी प्रकार मुझ मंदबुद्धि के द्वारा किया हुआ यह स्तवन भी आपके प्रताप, प्रभाव एवं प्रसाद से सज्जन पुरुषों के चित्त को प्रफुल्लित करेगा।

विवेचन

श्री मानतुंगाचार्य जी श्री जिनेन्द्र गुण कीर्तन को समस्त पाप कर्मों का उन्मूलक सिद्ध करने के बाद पुनः उसकी अतिशय महिमा का दूसरा पक्ष प्रस्तुत करते हुए कहते हैं—कि मन्द बुद्धि वाला होने पर भी मेरे द्वारा यह स्तवन कार्य क्यों प्रारंभ किया जा रहा है जब कि बहुश्रुत विद्वानों द्वारा इसके उपहासास्पद होने की पूरी पूरी संभावना है ? उत्तरस्वरूप वे स्वयं कहते हैं कि इसकी पृष्ठभूमि में एक सुदृढ़ आत्मविश्वास हिलोरें ले रहा है और वह आत्मविश्वास है श्री जिनेन्द्र देव का प्रताप, प्रभाव एवं प्रसाद। क्योंकि वे ही तो इस स्तवन रूपी शरीर की आत्मा हैं। गुण गायन भले ही मंदबुद्धि के द्वारा किया जा रहा हो परन्तु चूंकि उसमें आपके गुणों की ही पुट आद्यंत विद्यमान है तो आश्चर्य नहीं कि मेरा यह लघु स्तोत्र भी महान् चमत्कारी बन कर सत्पुरुषों के हृदय को प्रफुल्लित करने में समर्थ होगा।

ओस की बूंद का भी भला कोई मूल्य होता है ? परन्तु वही बूंद जब कमलिनी के पत्र पर पड़ जाती है तब स्वभावतः ही वह मोती का रूप धारण

करके दर्शकों के मन को मोहित करती है। आखिर उस पानी की बूंद को मोती की आभा देने में किसका हाथ है ? कमलिनी के पत्ते का ही क्या यह स्वाभाविक प्रभाव नहीं है ? अर्थात् अवश्य है। उसी भाँति स्तुति में गर्भित सारा चमत्कार आपके ही परम प्रसाद का परिणाम है। इसमें मेरा कुछ नहीं।

इस छंद में मुनिवर्य ने पुनः अपनी कर्तृत्वहीनता एवं अपने इष्टदेव की अचिन्त्य गुरुता का उल्लेख किया है। यही तो उनकी महानता है। कहा भी है—

बड़े बड़ाई न करें, बड़े न बोलें बोल।
हीरा मुख तें ना कहे, लाख हमारो मोल॥

आध्यात्मिक ध्वनि

भव्य जीवों के वचन रूपी जल-कण मिथ्यात्व-मल मैल के हटते ही गुणानुवाद रूपी पत्ते भी उस पानी पर फैले हुए हैं ! हे भगवन् ! मेरी आत्मा पर कर्मों के आवरण हैं ! उसमें यथार्थ स्वरूप होना असम्भव है, तब भी पौद्गलिक शब्दों से मेरे द्वारा जो स्तवन हो रहा है, वह संतों को तो सन्तुष्ट करेगा ही। दूसरे शब्दों में कहा जाए तो ऐसा भी अर्थ ध्वनित होता है कि सम्पूर्ण सिद्धि तो स्वयं रत्नत्रय स्वरूप मोक्षमार्ग पर चलने से ही होती है, परन्तु उसका प्रारम्भ तो सम्यक् दर्शन से ही होता है, अर्थात् यदि मोक्ष न होगा तो सम्यग्दर्शन की प्राप्ति तो होगी ही।

Thinking thus O Lord, I though of little intelligence, begin this eulogy (in praise of you), which will, through Your magnanimity, captivate the minds of the righteous, water drops, indeed, assume the lustre of pearls on louts leaves. 8.

× × ×

Having believed (your this eulogy as a means of destroying all sins) thus I, (though) possessed of only scanty genius, begin this composition. This, being favoured by you, will captivate the hearts of good ones. Indeed the drops of water, being in contact with the leaves of lotuses, bear resemblance to the luster of pearls. 8.

× × ×

मूल श्लोक (सप्तभय संहारक अभीप्सित फल दायकं)

आस्तां तव स्तवनमस्तसमस्त - दोषं,
त्वत्संकथाऽपि जगतां दुरितानि हन्ति ।
दूरे सहस्रकिरणः कुरुते प्रभैव,
पद्माकरेषु जलजानि विकासभाञ्जि ॥९॥

पापहारिणी-जिनवर-गाथा
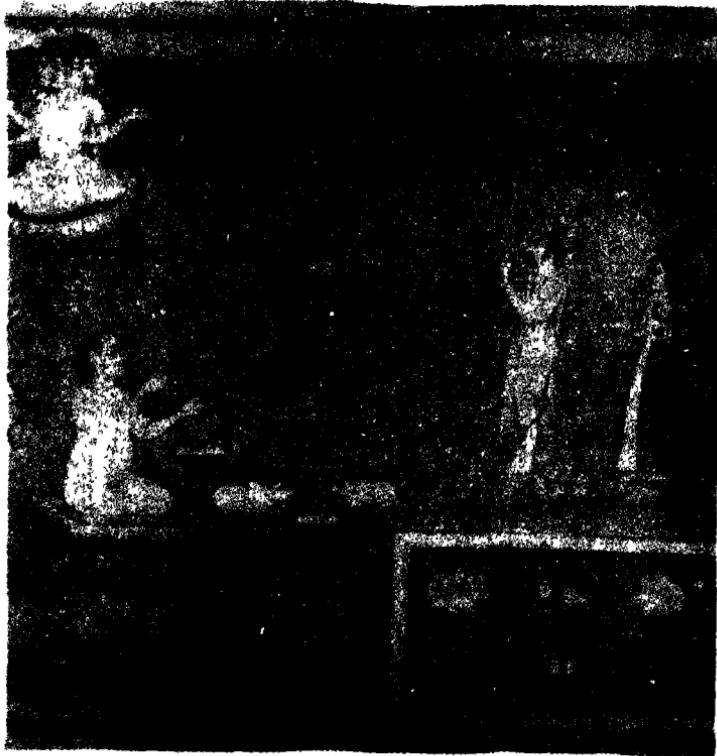
दूर रहे स्तोत्र आपका, जो कि सर्वथा है निर्दोष ।
पुण्य कथा ही किन्तु आपकी, हर लेती है कल्मष-कोष ॥
प्रभा प्रफुल्लित करती रहती, सर के कमलों को भरपूर ।
फेंका करता सूर्य किरण को, आप रहा करता है दूर ॥९॥

अन्वयः

तव अस्तसमस्तदोषम् स्तवनम् दूरे आस्ताम् त्वत्संकथा अपि जगताम् दुरितानि हन्ति सहस्रकिरणः दूरे (अस्ति तस्य) प्रभा एव पद्माकरेषु विकासभाञ्जि कुरुते ॥

शब्दार्थः

तव—आपका—तुम्हारा।

अस्तसमस्तदोषं—निर्दोष—समस्त दोषों से रहित।

विशेषार्थः—**अस्त**—ध्वस्त, **तिरहित** अर्थात्—दूर हुए है जिस में से **समस्त**—समग्र, **दोष**—अवगुण याने निर्दोष—अर्थात् समस्त दोष रहित।

स्तवनम्—गुणों का कीर्तन—स्तवन—स्तुति।

दूरे आस्ताम्—दूर रहे।

त्वत्संकथा—आपकी सद्वार्ता—आपकी चरित्रचर्चा।

अपि—भी।

'जगताम्—समस्त संसारी जीवों के।

विशेषार्थः—**'जगतां** अर्थात् **जगन्निवासिलोकानाम्'** (यहा आधार मे आधेय का उपचार है)

दुरितानि—पापों को, अपराधों को।

हन्ति—हनन करती है, नष्ट करती है।

सहस्रकिरणः—सूर्य।

विशेषार्थः—**सहस्र**—हजार है **किरण**—रश्मि, जिसमे ऐसा वह **सहस्रकिरण** अर्थात् सूर्य, दिनकर, सहस्ररश्मि।

दूरे—दूर।

(अस्ति)—(है)।

(तस्य)—(उसकी)।

प्रभा एव—कान्ति ही।

पद्माकरेषु—सरोवरों में।

विशेषार्थः—**पद्म**—कमल, उसका **आकर**—समूह जिसमे हो उसे कहा जाता है **पद्माकर**।

जलजानि—कमलों को।

विशेषार्थः—**जल** मे पैदा हो, उत्पन्न हो वह **जलज** अर्थात् कमल।

विकासभाञ्जि—विकसित, प्रफुल्लित।

कुरुते—कर देती है।

भावार्थः

हे चरित्रनायक !

सम्पूर्ण दोषों से रहित आपका पवित्र कीर्तन तो बहुत दूर की बात है, मात्र आपकी चरित्र-चर्चा ही जब प्राणियों के पापों को समूल नष्ट कर देती है तब स्तवन की अचिन्त्य शक्ति का तो कहना ही क्या।

सूर्यागमन के पूर्व ही जब उसकी प्रभापुंज मात्र से सरोवरों के कमल खिल खिल उठते हैं तब सूर्योदय होने पर तो उसकी किरणों के स्पर्श से वे खिलेंगे ही खिलेंगे, इसमें सन्देह नहीं; अर्थात् सूर्य सुदूरवर्ती होने पर भी अपने किरणों के माध्यम से सरोवरों के कमलों को विकसित कर देता है।

विवेचन

अभी तक स्तुतिकार उपरोक्त पद्यों में जिनेश्वर देव के स्तवन की अचिन्त्य महिमा का गुणगान गाते रहे हैं। इस छन्द में वे उनके चरित्र कथन की महिमा दिग्दर्शित कराते हुए कहते हैं—कि आपका प्रशस्ति गायन तो बहुत बड़ी बात है क्योंकि उसका महत्व तो स्वयं सिद्ध है परन्तु आपकी केवल चर्चा ही इतनी प्रभावक है कि उससे प्राणियों के पाप ध्वस्त हो जाते हैं। इसी विषय को अधिक स्पष्ट करते हुए वे एक दृष्टान्त रूपक प्रस्तुत करते हैं—कि सूर्य पृथ्वी की धरातल से कोसों दूर अपने स्थान पर अवस्थित है तो भी अपनी प्रभा से सरोवरों के कमलों को खिला देता है अर्थात् आपकी चर्चा तो सूर्य की प्रभा की तरह है और आपका स्तवन साक्षात् रविमंडल ही है।

इस श्लोक की छायावादी व्याख्या करने से एक दूसरा भी अर्थ ध्वनित होता है कि—हे आदीश्वर देव ! आपको इस कर्मभूमि में आये हुए पूरा कल्पकाल व्यतीत हो गया परन्तु काल की वह दूरी अथवा विरह का अन्तराल आपकी चर्चा से समीपतम लगने लगता है कि जिसको सुनकर श्रोताओं के हृदय-कमल आज भी खिल उठते हैं। अर्थात् जब भक्त अपने हृदय-कमल में आपका आह्वान करता है तो उस क्षण विरह काल का नहीं बल्कि सामीप्य का ही भान होता है। फिर जो भक्त आपके गुणों का स्तवन करता है वह आपके समान समस्त दोषों से रहित पवित्र व्यक्तित्व प्राप्त कर ले इसमें सन्देह ही क्या ?

सारांश यह कि जब अंश में ही इतना अधिक प्रताप है तो अंशी के महत्व का तो कहना ही क्या !

आध्यात्मिक-ध्वनि

स्वाभाविक आत्मा में शरीर, शब्दादिक का अत्यंताभाव है। अतः उनके माध्यम से, संयोग से चैतन्यमुर्ति आत्मा का यथार्थ वर्णन नहीं हो सकता। जड़ शब्द वाचक बन सकते हैं, वाच्य नहीं। अतः केवल कथा वार्ता ही हो सकती है। यह कथा वार्ता ही दृढ़ आवरणों को भेद डालती है। फलस्वरूप आपकी प्रभा झलकने लगती है। क्या हमारे लिए यही पर्याप्त नहीं है ? इससे मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी कषायें तो नष्ट हो जाती हैं, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान कषायें भी नीरस हो जाती हैं। चैतन्य कमल सम्यक्त्व-सूर्य के उदय में प्रफुल्लित हो उठते हैं। देखिये एकीभाव स्तोत्रकर्ता मुनिश्री वादिराज जी के स्तोत्र का सुन्दर भावानुवाद :—

जड़ शब्दों की प्रवृत्ति और है, निज स्वरूप चिन्मय कुछ और।
ऐसे पहुँच सकेंगे तुम तक, वाक्य हमारे हे सिरमौर ! ॥
भले न पहुँचे भक्ति-सुधा में, पगे हुए भीने उद्गार।
भव्यों को तो बन जायेंगे, कल्पवृक्ष वांछित दातार ॥

जड़ शब्दों की प्रवृत्ति और है, निज स्वरूप चिन्मय कुछ और।

Let alone Thy eulog, which destroys all blemishes; even the mere mention of Thy name destroys the sins of the world. After all the sun is far away, still his more light makes the lotuses bloom in the tank. 9.

× × ×

Although the sun be away, his rays are strong enough to bloom sun lotuses in the pond; similarly not to talk of your faultless praise the account (of your doings) only will prove destructive to the evils of the living beings. 9.

× × ×

मूल श्लोक (उन्मत्त कूकर विष-निवारक)

नात्यद्भुतं[1] भुवन-भूषण ! भूतनाथ !
भूतैर्गुणैर्भुवि भवन्तमभिष्टुवन्तः ।
तुल्या भवन्ति भवतो ननु तेन किं वा,
भूत्याश्रितं य इह नात्मसमं करोति ? ॥१०॥

भक्ति से भगवत प्राप्ति
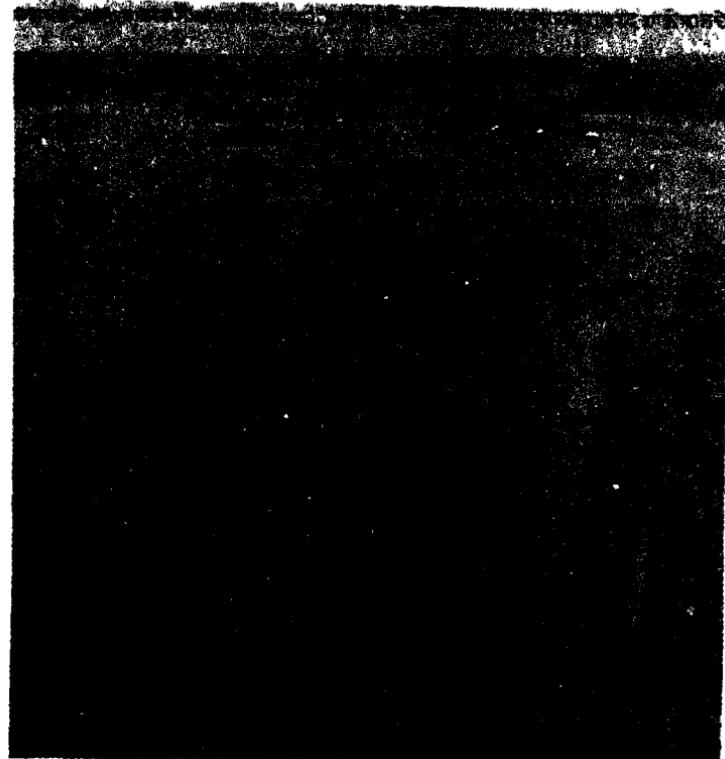
त्रिभुवन तिलक जगत्पति हे प्रभु ! सद् गुरुओं के हे गुरुवर्य ।
सद्भक्तों को निज सम करते, इसमें नहीं अधिक आश्चर्य ॥
स्वाश्रित जन को निज सम करते, धनी लोग धन धरनी से ।
नहीं करें तो उन्हें लाभ क्या ? उन धनिकों की करनी से ॥१०॥

---

१. "अत्यद्भुतं" भी पाठ है, जो भवन्तम् का विशेषण है ।

अन्वयः

भुवनभूषण ! भूतनाथ ! भूतैः गुणैः भवन्तम् अभिष्टुवन्तः भुवि भवतः तुल्याः भवन्ति (इति) अति अद्भुतम् न वा ननु तेन किम् य इह आश्रितम् भूत्या आत्मसमम् न करोति ।

शब्दार्थः

भुवनभूषण—हे विश्व के शृंगार !

विशेषार्थ :—भुवन—लोक, जगत, विश्व, उसके **भूषण**—मंडन, अलंकार, शृंगार, वही हुआ भुवनभूषण ।

यह पद संबोधन में लिया गया है । इस संबोधन के पश्चात् आने वाला शब्द 'भूतनाथ' भी इसी विभक्ति में प्रयुक्त हुआ है ।

भूतनाथ ! हे जगन्नाथ—हे प्राणियों के स्वामिन् !

विशेषार्थ :—**भूत**—प्राणी । उनके **नाथ**—स्वामी, वही हुए **भूतनाथ** । लौकिक शास्त्रों में भूतनाथ शब्द शंकर जी के अर्थ में भी प्रसिद्ध है ।

भूतैः—वास्तविक, प्रभूत, विपुल, विद्यमान ।

विशेषार्थ :—'भूतैः जातैः विद्यमानैः' (गु० टी०) ।

गुणैः—गुणों के द्वारा ।

नोट :—भूतैः तथा गुणैः दोनों शब्द तृतीया बहुवचनान्त है ।

भवन्तम्—आपको ।

अभिष्टुवन्तः—भजने वाले भव्य पुरुष ।

भुवि—पृथ्वी पर, भूतल-तल पर । (सप्तमी एक वचन)

भवतः—आपके ।

तुल्या—सदृश , समान ।

भवन्ति—हो जाते है ।

(**इति**) —(**यह**) इति शब्द यहां पर अध्याहार से ग्रहण किया गया है ।

अति—अधिक, बहुत ।

अद्भुतम्—आश्चर्यजनक, विचित्र, विलक्षण ।

न—नहीं है ।

वा—अथवा ।

ननु—निश्चय से (अव्यय पद)

तेन—उस (मालिक अथवा स्वामी से)

किम्—क्या ।

(प्रयोजनमस्ति)—(लाभ है)
यः—जो (मालिक)।
इह—इस लोक में।
आश्रितम्—अपने अधीन सेवक को
भूत्या—विभूति से, धन-सम्पत्ति से, ऐश्वर्य से। (तृतीया एक वचन)
आत्मसमम्—अपने समान।
न—नहीं।
करोमि—करता है।

भावार्थः

हे त्रैलोक्यतिलक! जगन्नाथ!

विद्यमान विपुल एवं वास्तविक गुणों के द्वारा आपकी स्तुति करने वाले भव्य-पुरुष निःसन्देह आप के ही तुल्य प्रभुता को प्राप्त कर लेते हैं इसमे आश्चर्य करने योग्य कुछ भी नहीं है। क्योंकि जो विश्व के वैभव सम्पन्न श्रीमान् है यदि वे अपने आश्रित सेवकों को अपने जैसा ही समृद्धिशाली नहीं बना लेते तो उनके धनिक होने से लाभ ही क्या है?

विवेचन

'अरिहंता लोगुत्तमा'—अरिहंत इस लोक के सबसे अधिक उत्तम पुरुष है—सर्वोत्तम है इसलिए उन्हें भुवनभूषण कहना युक्ति संगत ही है। यहाँ लोक शब्द में तीनों लोक गर्भित है और उत्तम शब्द का भाव भूषण शब्द में व्यक्त होता है। यही कारण है कि आचार्यों ने तीर्थङ्कर भगवन्तों को लोकोत्तम विशेषण से संबोधित किया है। भुवनभूषण पद में अनुप्रास जन्य लालित्य होने से स्तुतिकर्त्ता ने इस छंद में इसे प्रयुक्त किया है।

उपरोक्त विशेषण के समानान्तर ही जो 'भूतनाथ' शब्द सबोधन में आया है उसमें भी श्लेष की निराली छटा है क्योंकि भूतनाथ के लौकिक अर्थ "महादेव" तथा "प्राणियों के नाथ"—ये दोनों होते हैं। भव-भ्रमण से प्राणियों की रक्षा करने वाले होने से वे भूतनाथ है तथा उनसे महान् दूसरा कोई देव नहीं। क्योंकि चतुर्निकाय के देवेन्द्र उनकी वन्दना करते है—अर्चना करते हैं इसलिए भूतनाथ शब्द भी सार्थक ही है। जिन्हें लौकिकजन महादेव शिवशंकर के नाम से पूजते है वे यथार्थ में कैलाशपित वृषभेश्वर ही है।

स्तवनकर्त्ता आचार्य कहते है कि हे भुवन भूषण भूतनाथ! आप में

विद्यमान वास्तविक, विपुल गुणों का कीर्तन करने वाले भव्य भक्त यदि आप जैसे ही प्रभु बन जाते हैं तो इसमें आश्चर्य करने की कोई बात नहीं ! क्योंकि इस लोक में जो धनीमानी श्रीमान् हैं वे भी अपने आश्रित सेवकों को विपुल आर्थिक सहायता देकर अपने ही समान समृद्धिशाली बना लेते है। यहां पर आचार्यश्री ने जहां तीर्थङ्कर भगवन्तों के शासन में साम्यवाद की झलक दिखलाई है वहाँ दूसरी ओर उन धनिक शासकों पर भी कटाक्ष किया है कि जो अपने आश्रित अधीन सेवकों को अपने समान समृद्धिशाली नहीं बनाते तो फिर उनके विपुल वैभवशाली होने का क्या लाभ ? अथवा उनकी समृद्धि से क्या प्रयोजन ?

जैन-शासन में साम्यवाद और समाजवाद की जितनी प्रतिष्ठा पाई जाती है उतनी अन्यत्र नहीं; यदि वर्तमान युग उसका अनुकरण करे तो विश्व की सारी समस्याएं ही समाप्त हो जावें।

तात्पर्य यह कि जो भक्त जिनेन्द्र प्रभु का गायन करता है वह कभी अनाथ बन कर संसार-सागर में गोते नहीं खाता बल्कि अपने प्रभु के समान ही अक्षय पद को प्राप्त कर लेता है।

इस छंद में एक अन्य भाव की छाया का भी यहाँ प्रतिभास मिलता है :— वह यह कि—हे जिनेश्वरदेव जो मैं यहां आपका प्रशस्त कीर्तन कर रहा हूं वह नियम से कालान्तर में सिद्ध पद को प्राप्त करायेगा।

O ornament of the world ! O Lord of beings ! No wonder that those, adoring You with (Thy) real qualities, become equal to you. What is the use of that (master), who does not make his subordinates equal to himself by (the gifts of) wealth. 10

× × ×

O, ornament of the world and Lord of the living ! It is no wonder if he, who properly and duly praises you in this world, may attain equality with you. What is the use of the master if he does not make his dependent equal to himself in wealth and fortune ? 10

× × ×

मूल श्लोक (आकर्षक एवं वांछा पूरक)

दृष्ट्वा भवन्तमनिमेषविलोकनीयं,
नान्यत्र तोषमुपयाति जनस्य चक्षुः।
पीत्वा पयः शशिकरद्युति दुग्धसिन्धोः,
क्षारं जलं जलनिधे रसितुं क इच्छेत्? ॥११॥

परम दर्शनीय परमात्मा
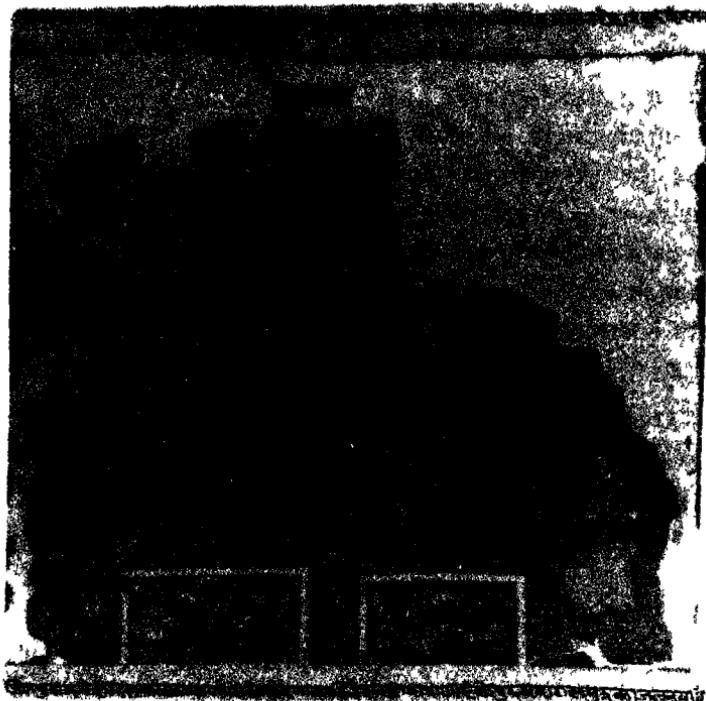
हे अनिमेष विलोकनीय प्रभु, तुम्हे देखकर परम पवित्र।
तोषित होते कभी नही हैं, नयन मानवों के अन्यत्र॥
चन्द्र-किरण सम उज्ज्वल निर्मल, क्षीरोदधि का कर जलपान।
कालोदधि का खारा पानी, पीना चाहे कौन पुमान? ॥११॥

अन्वय:

अनिमेषविलोकनीयम् भवन्तम् दृष्ट्वा जनस्य चक्षु: अन्यत्र तोषं न उपयाति। दुग्धसिन्धोः शशिकरद्युति पयः पीत्वा कः जलनिधेः क्षारं जलम् रसितुं इच्छेत् ?

शब्दार्थ:

अनिमेषविलोकनीयम— बिना पलक झुकाए हुए देखने योग्य अर्थात् टक-टकी लगाकर दर्शन करने योग्य।

विशेषार्थ :— **निमेष**—आंख की पलकें, उससे रहित वही हुआ **अनिमेष**, उसके द्वारा **विलोकनीय**—दर्शनीय अर्थात् देखने योग्य। वही हुआ **अनिमेष-विलोकनीय**।

तात्पर्य यह कि आंख के परदे झुकाए बिना (टिमकार रहित) नेत्रों से निरन्तर दर्शन करने योग्य। यह पद आगे आने वाले भवन्तम् का विशेषण होने से द्वितीयान्त एक वचन में आया है।

भवन्तम्—आपको—श्री जिनेन्द्रदेव को।

दृष्ट्वा—देख करके। (**क्त्वान्त प्रत्यय**)

जनस्य—मनुष्य का।

चक्षु:— नेत्र।

अन्यत्र—और कहीं पर—अन्य किसी ठौर पर (क्रिया विशेषण अव्यय)

तोषम्—सन्तोष को, परितोष को। (द्वितीयान्त एक वचन)

न—नहीं।

उपयाति—प्राप्त करता है—पाता है।

दुग्धसिन्धोः—क्षीर सागर के।

शशिकरद्युति—चन्द्रमा की किरण के समान कांति वाली धवल—शुभ्र।

विशेषार्थ :—**शशि**—चन्द्र, उसकी **कर**—किरण, उसकी **द्युति**—कान्ति है जिसमें वह हुआ **शशिकरद्युति**—यह पद आगे आने वाले **पयः** का विशेषण है। इससे द्वितीया के एक वचन में प्रयुक्त हुआ है।

पयः—जल, क्षीर, दुग्ध को।

पीत्वा—पीकर। (ल्यबन्त)

कः—कौन (पुरुष) ?

जलनिधेः—(लवण) समुद्र के। दरिया के।

क्षारम्—खारे।

जलम्— पानी को।

रसितुम्—चखने के लिए। (तुमन्त)

विशेषार्थ :—यहां **जलनिधेः अशितुं** की सन्धि कर के **जलनिधेरशितुं** पद भी बोला जा सकता है। परन्तु **अशितुम्** का अर्थ "खाने के लिए" होता है। अत: वह यहां ग्राह्य नहीं है।

इच्छेत्—इच्छा करेगा ! (विध्यर्थ अन्यपुरुष एक वचन)

भावार्थः

हे परम दर्शनीय जिनेन्द्र देव !

आप इतने अधिक लावण्यमयी हैं कि निरन्तर टकटकी लगाकर टिमकार रहित नेत्रों से दर्शन करने के योग्य हैं। अर्थात् जो पुरुष आपको एक बार भी अच्छी तरह देख लेता है उसकी आंखों में आप ऐसे समा जाते हैं कि वह फिर अन्य किसी देव को देख कर सन्तुष्ट नहीं होता। जिस प्रकार चन्द्रमा की शुभ्र किरणों की कान्ति के समान धवल क्षीर सागर का मधुर जल पी चुकने के पश्चात् ऐसा कौन पुरुष होगा जो लवण समुद्र के खारे पानी को चखने की इच्छा करेगा ? अर्थात् कोई नहीं।

विवेचनः

स्तुतिकर्ता ने पिछले पद्यों में क्रमश: श्री जिनेन्द्रदेव की स्तुति तथा चरित्र चर्चा की महिमा का गुणगान किया अब इस पद्य द्वारा वे भगवत् दर्शन का महत्व प्रतिपादित कर रहे है—

मानतुंगाचार्य कहते हैं कि हे देवाधिदेव। आप इतने अधिक स्वरूपवान् है कि जिसकी आंखों में आप एक बार भी समा जाते हैं वह निरन्तर ही आप को टकटकी लगाकर देखता ही रह जाता है—उसके पलक तक भी नहीं झपकते फिर अन्य देवी देवताओं की ओर देखने का तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता। अर्थात् जो एक बार भी आपके दर्शन कर लेता है उसके चक्षुओं को जगत के अन्य पदार्थों के देखने से संतोष प्राप्त नहीं होता। क्षीर सागर के सुस्वादु मधुर निर्मल शीतल दुग्धोपम जल को पी चुकने के बाद ऐसा कौन पुरुष होगा जो लवण समुद्र के खारे पानी को पीने की इच्छा करेगा ? अर्थात् कोई नहीं।

इस छंद में यहां उपमालंकार की छटा देखने योग्य है। क्षीर सागर की उपमा वीतरागदेव से दी गई है और लवण समुद्र की उपमा सरागी देवों से दी गई है।

कैसा है वीतराग देव का स्वरूप ? प्रशम रस से परिपूर्ण है और मुख-

कमल अतीव हर्षोत्फुल्ल है। दृष्टि नासाग्र है। गोद कामिनी के संग से रहित है—सूनी है। युगल कर अस्त्रों-शस्त्रों से विहीन है तथा दिगम्बर मुद्रा कृत्रिम वस्त्राभूषणों से रहित स्वाभाविक यथाजात बालक की तरह निर्दोष निर्विकार है। जब कि सरागी देवी देवताओं का स्वरूप वीतरागी देव से सर्वथा विपरीत होता है। इसीलिए कहा गया है :—

वीतराग मुखं दृष्ट्वा, पद्मराग समप्रभं।
जन्म जन्म कृतं पापं, दर्शनेन विनश्यति॥

ऐसी प्रशान्त भव्य वीतराग मुद्रा का अवलोकन करने के बाद विलासी विकृत मुद्रा को देखकर कौन भला मानुष प्रसन्न होगा? तीनों लोकों में सर्वोत्कृष्ट दर्शनीय तत्त्व यदि कोई है तो एक मात्र वीतराग परमात्मा ही हैं।

Having (once) seen You, fit to be seen with winkless eyes or by Gods, the eyes of man do not find satisfaction elsewhere. Having drunk the moon-white milk of the milky ocean, who desires to drink the saltish water of the sea ? 11.

× × ×

The eyes of a man, after having seen you, who is to be looked at with twinkless and fixed gaze, get no satisfaction elsewhere. Who likes to drink the salty water of an ocean after he tasted water of the milky sea as shining and clear as the moon ? 11.

× × ×

मूल श्लोक (हस्तिमद विदारक-वांछित रूप प्रदायक)

यैः शान्तरागरुचिभिः परमाणुभिस्त्वं,
निर्मापितस्त्रिभुवनैक — ललामभूत !
तावन्त एव खलु तेऽप्यणवः पृथिव्यां,
यत्ते समानमपरं न हि रूपमस्ति ॥१२॥

लोकातिशय जिन स्वरूप सौन्दर्य

जिन जितने जैसे अणुओं से, निर्मापित प्रभु तेरी देह ।
थे उतने वैसे अणु जग में, शान्त-रागमय निःसन्देह ॥
हे त्रिभुवन के शिरोभाग के, अद्वितीय आभूषण रूप ।
इसीलिए तो आप सरीखा, नहीं दूसरों का है रूप ॥१२॥

अन्वयः

त्रिभुवनैक ललामभूत ! शान्तरागरुचिभिः यैः परमाणुभिः त्वम् निर्मापितः ते अणवः अपि खलु तावन्तः एव (आसन्) यत् पृथिव्याम् ते समानम् अपरम् रूपम् नहि अस्ति ॥

शब्दार्थः

त्रिभुवनैक ललामभूत ! —हे अद्वितीय त्रैलोक्य शिरोमणि—हे तीन लोक के अनुपम अलंकार रूप (भगवान् !)।

विशेषार्थः—**त्रि**—तीन, **भुवन**—लोक का समुदाय वही हुआ **त्रिभुवन** उसमें **एक**—अद्वितीय-अनुपम ऐसा **ललामभूत**—अलंकाररूप-शिरोभूषणरूप। वही हुआ **त्रिभुवनैक - ललामभूत**। यह पद जिनदेव के संबोधन रूप में लिया गया है। **ललाम** शब्द का सामान्य अर्थ सुन्दर श्रेष्ठ रमणीय है, परन्तु विशेष अर्थ में **"शिरः पुरोन्यस्त मस्तकाभरणं ललाममुच्यते"** अर्थात् सिर से आगे मस्तक के आभरण को ललाम कहते हैं।

शान्तराग रुचिभिः—मोह, ममता, राग आदि के शान्त (क्षय) होने से प्रशम रस की कान्ति प्रकट हुई है जिसमें ऐसे—वीतरण-भावना के उत्पादक।

विशेषार्थः—**शान्त**—क्षय हो गया है **राग**—मोह ममता जिनकी वे हुए **शान्तराग** उसकी **रुचि**—कान्ति-से युक्त वही हुआ **शान्तराग रुचि** अर्थात् जिसके मुख मण्डल पर प्रशम रस की कान्ति दैदीप्यमान है, ऐसा। यह पद परमाणुभिः का विशेषण होने से तृतीया के बहु वचन में प्रयुक्त हुआ है।

यैः परमाणुभिः—जिन परमाणुओं से।

विशेषार्थः—**'परमाश्च ते अणवः परमाणवः'** जो अणु अत्यन्त सूक्ष्म है अर्थात् पुद्गल द्रव्य का वह अविभागी सूक्ष्म प्रतिच्छेद जिसका कि अन्य विभाग न होता हो वह परमाणु कहलाता है, उन परमाणुओं के द्वारा। यह पद तृतीया के बहुवचन में प्रयुक्त हुआ है।

त्वम्—तुम।

निर्मापितः—निर्मापित किये गए हो—बनाये गए हो।

ते—वे।

अणवः—परमाणु।

अपि—भी।

खलु—निश्चय से।

तावन्त—उतने ।

एव—ही ।

(आसन)—थे । (अध्याहार से ग्रहीत)

यत्—क्योंकि ।

पृथिव्याम्—समस्त पृथ्वी तल पर ।

ते—तुम्हारे ।

समानम्—सदृश-समान ।

अपरम्—कोई दूसरा ।

रूपम्—रूप-सौन्दर्य ।

न हि—नहीं ।

अस्ति—है ।

भावार्थः

हे त्रैलोक्य मण्डन वीतराग देव !

आपके परमौदारिक शरीर का निर्माण प्रशान्त रस के जिन राग रहित दैदीप्यमान परमाणुओं से हुआ है वे कुल परमाणु निश्चित रूप से उतनी ही संख्या में थे यही कारण है कि इस भूमण्डल पर आप जैसा सुन्दर रूप अन्य किसी में दृष्टिगोचर नहीं होता ।

विवेचन

पिछले छंद में स्तुतिकार ने सामान्य रूप से अरिहंत प्रभु के सौंदर्य की अपूर्वता का वर्णन किया था । प्रस्तुत छंद में उनकी दिव्य देह की सुन्दरता का वर्णन विशेष रूप से कर रहे है । साथ ही उनके इस अद्वितीय सौन्दर्य प्राप्ति का क्या कारण है वह भी इसमें परिलक्षित होता है । यही नहीं बल्कि उनके इस अपेक्षित कथन से अन्य देवों का सराग सौन्दर्य स्वयमेव धुंधला पड़ जाता है ।

आचार्यश्री कहते हैं कि हे नाथ ! आप तीनों लोकों के शृङ्गार हैं, आपकी दिव्य देह अद्वितीय सौन्दर्य से परिपूर्ण है । आपके मुख मण्डल से प्रशान्त रस से उत्पन्न तेज झलक रहा है; चूंकि आपका अन्तर समरस से अभिभूत है इसलिए आपका बाह्य परमौदारिक शरीर भी उतना ही दैदीप्यमान हो रहा है और इस प्रकार आप शान्त रस की साक्षात मूर्ति हैं । मुख मुद्रा पर झिलमिलाने वाली शान्ति एवं वीतरागता का कारण क्या है ? उसका उत्तर देते हुए वे कहते हैं कि जिन पुद्‌गल परमाणुओं से आपकी इस दिव्य देह का

निर्माण हुआ है वे कुल परमाणु राग रहित थे और संख्या में भी उतने ही थे जितने कि आपके शरीर में विद्यमान हैं। अगर उनमें से कुछ भी परमाणु शेष रहे होते तो आप जैसी शान्ति की मूर्ति अन्यत्र भी दिखलाई देती, परन्तु ऐसा तो है ही नहीं। तात्पर्य यह कि आपका रूप एक अनोखा, अनुपम और निराला ही है जिसकी तुलना विश्व में किसी भी वस्तु से नहीं की जा सकती।

O supreme ornament of all the three worlds! As many indeed in this world where the atoms possessed of the lustre of non-attachment, that went to the composition of Your body and that is why no other form like that of Yours exists on this earth. 12.

× × ×

The only ornament of three worlds! The peaceful and splendid atoms, with which your bodily frame has been constructed, were as many as were required for the purpose, as there is none equal to you in luster & beauty. 12.

× × ×

मूल श्लोक (लक्ष्मी सुख-प्रदायक, स्व शरीर-रक्षक)

वक्त्रं क्व ते सुर-नरोरग - नेत्रहारि,
नि:शेष - निर्जित-जगत्त्रितयोपमानम् ।
बिम्बं कलङ्क - मलिनं क्व निशाकरस्य,
यद्वासरे भवति पाण्डुपलाशकल्पम् ॥१३॥

निरुपम जिन मुख-मण्डल

कहां आपका मुख अति सुन्दर, सुर नर उरग नेत्र हारी ।
जिसने जीत लिये सब जग के, जितने थे उपमाधारी ॥
कहां कलंकी बंक चन्द्रमा, रंक समान कीट सा दीन ।
जो पलाश-सा फीका पड़ता, दिन में हो करके छवि-छीन ॥१३॥

अन्वयः

(भगवन्) सुरनरोरगनेत्रहारि निःशेषनिर्जितजगत्त्रितयोपमानम् ते वक्त्रम् क्व ? कलङ्कमलिनम् निशाकरस्य (तत्) बिम्बम् क्व ? यत् वासरे पाण्डुपलाशकल्पम् (भवति) ।

शब्दार्थः

सुरनरोरगनेत्रहारि—देव, मनुष्य और भवनवासी नागकुमार जाति के देवेन्द्र (धरणेन्द्र) आदि के नेत्रों को हरण करने वाला ।

विशेषार्थ :—**सुर**—देव, **नर**—मनुष्य और **उरग**—भवनवासी देव उनके **नेत्र**—लोचन, उनको हरण करने वाला वही हुआ **सुरनरोरगनेत्रहारि** अर्थात् अतीव अनुपम सुन्दर ।

निःशेषनिर्जितजगत्त्रितयोपमानम्—सम्पूर्ण रूप से तीनों लोकों के उपमानों को जीतने वाला अर्थात् उपमा रहित ।

विशेषार्थ :—**निःशेष**—सम्पूर्ण रूप से, **निर्जित**—जीत लिए है, जिसने **जगत्त्रितय**—तीनों लोकों के **उपमान**—वही हुआ **निःशेषनिर्जितजगत्त्रितयोपमानम्** । वह वस्तु जिसके साथ उपमेय की तुलना की जावे उसे उपमान कहते है । यथा चन्द्र कमल दर्पण आदि ।

ते—तुम्हारा ।

वक्त्रम्—मुख, आनन ।

क्व—क्या, कहाँ ?

विशेष—यहाँ यह अव्यय दो वस्तुओं के बीच का अन्तर बतलाने के लिए प्रयुक्त किया गया है ।

कलङ्कमलिनम्—काले-काले धब्बे से मलीन ।

विशेषार्थ :—**कलङ्क**—दाग या धब्बा, उससे **मलिन**—मैला, वही हुआ **कलङ्कमलिन** । यह पद **बिम्ब** का विशेषण होने से प्रथमा के एक वचन में आया है । कलङ्क यद्यपि कालिमा को कहते है, तथापि विशेष रूप से उसका प्रयोग चन्द्रमा के विद्यमान काले धब्बे के लिए किया जाता है ।

निशाकरस्य—चन्द्रमा का ।

विशेषार्थ :—**निशा**—रात्रि, उसका **आकर**—भण्डार, वही हुआ **निशाकर** अर्थात् चन्द्रमा । **निशांकरोतीति निशाकरः तस्य निशाकरस्य** ।

बिम्बं—मण्डल, बिम्ब ।

क्व—कहाँ, क्या ?

यत्—जो (बिम्ब)।

वासरे—दिन में।

पाण्डुपलाशकल्पम्—जीर्ण-शीर्ण हुए टेसू (ढाक) के पत्र के समान फीका।

विशेषार्थ :—**पाण्डु**—जीर्ण-शीर्ण फीका, ऐसा **पलाश**—किंशुक पत्र (टेसू, ढाक, छेवला) उसके **कल्पम्**—समान, वही हुआ **पाण्डुपलाशकल्पम्** अर्थात् **जीर्ण पत्र तुल्यम्**। पहिले पत्ते का रंग हरा होता है किन्तु जब वह जीर्ण हो जाता है तब उसका रंग पीला अर्थात् फीका पड़ जाता है।

(**भवति**)—(होता है)।

भावार्थः

हे सौन्दर्य सिन्धो !

जिसने देव, मनुष्य और भवनवासी देव देवेन्द्रों के नयनों का हरण कर लिया है और जिसके आगे तीनों जगत् के सारे उपमान फीके पड़ गये हैं ऐसे आपके अद्वितीय मुख-मण्डल की, तुलना चन्द्र-मण्डल से नहीं की जा सकती क्योंकि एक तो चन्द्रमा कलङ्की है, दूसरे वह दिन में जीर्ण पत्र की तरह निस्तेज, फीका और पीला पड़ जाता है।

विवेचन

स्तुतिकार देवाधिदेव जिनेश्वर प्रभु के अनुपम रूप सौन्दर्य का वर्णन करने के पश्चात् अब प्रस्तुत छंद में उनके मुख की सुन्दरता की उपमा के लिए उपमानों की खोज कर रहे हैं। अन्यान्य कवियों के समान वे चन्द्रमा को उपमान मान सकते थे परन्तु यहां पर आचार्यश्री उसकी निस्तेजता का सहेतुक वर्णन करते हुए कहते हैं कि—

हे परम तेजस्विन् !

आपका अतीव सुन्दर दैदीप्यमान मुख देवताओं, मनुष्यों, विद्याधरों एवं धरणेन्द्रों के भी लोचनों को हरण करने वाला है। आपके उस अनुपम मुख ने सम्पूर्णतया तीनों लोकों के सभी उपमानों पर विजय प्राप्त कर ली है अर्थात् त्रिभुवन की सारी उपमाएँ उसकी तुलना मे निस्तेज और फीकी पड़ गई हैं। बहुधा कविगण मुख का उपमान चन्द्रमा को ही बनाया करते हैं परन्तु वस्तुत: चन्द्रमा सुन्दर होते हुए भी कलङ्की माना जाता है। सुदूरवर्ती चन्द्रमा के काले धब्बे को यहां से बखूबी देखा जा सकता है। ऐसे कलङ्की चन्द्रमा को आपके अनपमेय मुख की तुलना में कदापि नहीं रखा जा सकता। इसलिए

आचार्यश्री कहते हैं कि कहाँ तो कालिमा के कारण मैला चन्द्रमा और कहाँ आपका अनुपम मुख मण्डल—यही नहीं कि चन्द्रमा कलङ्की है परन्तु दिन में वही चन्द्रमा ऐसा निस्तेज हो जाता है जैसे कि जीर्ण पलास का पत्र फीका पड़ जाता है। परन्तु जिनेश्वर देव का मुख तो अहोरात्रि तेजस्वी और कान्तिमान रहता है। कवि ने यहाँ विशेष रूप से श्लोक में वक्त्र शब्द का ही उपयोग क्यों किया ? मुख आनन वदन आस्य आदि पर्याय वाची शब्दों का क्यों नहीं ? स्पष्ट है कि 'वक्त्र' शब्द बोलने वाले उपादान के लिए प्रयुक्त होता है। तीर्थङ्कर केवली अवस्था मे अपनी दिव्यध्वनि खिराते है अतः श्लोक में वक्त्र शब्द का ही उपयोग किया गया है।

Where is Thy face attracts the eyes of gods, men, and divine serpents, and which has thoroughly surpassed all the standards of comparison in all the three worlds. That spotted moon-disc which by *the day time* becomes pale and lustreless like the white, dry leaf, stands no comparison ! 13.

How can there be drawn a comparison between your mouth and the moon ? The later is snained with dark spots and looks pale as well in the day like the Palash leaves, while your mouth, which focuses the eyes of men, gods and Nagas, surpass all (the objects of) comparison in this threefold world. 13.

मूल श्लोक (आधि-व्याधि नाशक)

सम्पूर्ण - मण्डल - शशाङ्क - कलाकलाप—
शुभ्रा गुणास्त्रिभुवनं तव लङ्घयन्ति।
ये संश्रितास्त्रिजगदीश्वर! नाथमेकं,
कस्तान् निवारयति संचरतो यथेष्टम्? ॥१४॥

लोक व्यापी गुणों की स्वच्छन्दता

[illegible]

तव गुण पूर्ण शशाङ्क कान्तिमय, कला कलाओं से बढ़के।
तीन लोक में व्याप रहे हैं, जोकि स्वच्छता से चढ़के॥
विचरें चाहे जहाँ कि जिनको, जगन्नाथ का एकाधार।
कौन माई का जाया रखता, उन्हें रोकने का अधिकार॥१४॥

अन्वयः

त्रिजगदीश्वर ! सम्पूर्णमण्डलशशाङ्ककलाकलापशुभ्राः तव गुणाः त्रिभुवनम् लङ्घयन्ति ये एकम् नाथम् संश्रिताः यथेष्टम् संचरतः तान् कः निवारयति ?

शब्दार्थः

त्रिजगदीश्वर !—तीनों लोकों के स्वामी।

विशेषार्थः— **त्रिजगत्**—तीनों जगत का समूह, उसके **ईश्वर**—नाथ, वही हुए **त्रिजगदीश्वर**—यह पद संबोधन विभक्ति में प्रयुक्त हुआ है।

सम्पूर्णमण्डलशशाङ्ककलाकलापशुभ्राः—पूर्णमासी के चन्द्र-मण्डल की कलाओं के सदृश समुज्ज्वल।

विशेषार्थः— **सम्पूर्ण**—पूर्णरूप से ऐसा **मण्डल**—गोलाकार उससे युक्त **शशाङ्क**—चन्द्रमा, वही हुआ **सम्पूर्णमण्डलशशाङ्क**; उसकी **कला**—अंश उसका **कलाप**—समूह वही हुआ **सम्पूर्णमण्डलशशाङ्ककलाकलाप**। उसके समान ही **शुभ्र**—धवल, उज्ज्वल, वही हुआ **सम्पूर्णमण्डलशशाङ्ककलाकलापशुभ्र**। यह पद आगे आने वाले गुणाः शब्द का विशेषण होने से प्रथमा के बहु वचन में आया है।

तव गुणाः—आप के गुण।

विशेष—यहाँ गुण शब्द से क्षमा, समता, वैराग्य आदि अनन्त सद्गुणों को ग्रहण करना चाहिए।

त्रिभुवनम्—तीनों लोकों को।

लङ्घयन्ति—उलघन करते हैं अर्थात् त्रिभुवन में व्याप्त हैं।

ये—जो।

एकम्—एक अर्थात् अद्वितीय।

नाथम्—त्रिभुवन के स्वामी को।

विशेष—यहां **नाथ** शब्द से अद्वितीय सामर्थ्य वाले स्वामी को समझना चाहिये।

संश्रिताः—आश्रय करके रहने वाले।

यथेष्टम्—स्वेच्छानुसार अर्थात् अपनी इच्छा के अनुसार।

संचरतः—सम्पूर्ण लोक में विचरण करने से।

तान्—उनको।

कः—कौन (पुरुष)।

निवारयति—निवारण कर सकता है अर्थात् रोक सकता है? कोई भी नहीं।

भावार्थः

हे त्रिलोकी नाथ !

आपकी उज्ज्वल गुणावली पूर्णिमा के चन्द्रमण्डल की कलाओं सदृश धवल है। आपके अनन्त गुण तीनों लोकों में व्याप्त हो रहे हैं। कारण स्पष्ट है कि आप के उन गुणों ने जब तीन लोक के नाथ का एकमेव सहारा ले लिया हो तब उन्हें सर्वत्र स्वेच्छा पूर्वक विचरण करने से भला कौन रोक सकता है ? अर्थात् कोई भी नहीं। वस्तुत: आपके अनंत गुण तीनों लोकों में व्याप्त होकर आप की ही प्रभावना कर रहे हैं।

विवेचनः

हे जगदीश्वर !

अरिहंत देव की सच्ची भक्ति शरीराश्रित नहीं होती, बल्कि आत्माश्रित होती है। तदनुसार श्री मानतुंगाचार्य जी, इस छंद में जिनेश्वर देव के ज्ञानादिक अनंत गुणों का कीर्तन करते हुए यह प्रकट करते हैं कि तीनों लोक आपके ही गुणों से सम्पूर्णतया व्याप्त हैं अर्थात् आपका गुण-सौरभ तीनों लोकों में अपनी सुरभित महक छोड़ रहा है। आगे वे उन गुणों के लोकाकाश भर व्याप्त होने का सहेतुक कारण निरूपित करते हैं—

जैसे कोई महान् सम्राट् के सम्बन्धी जन या बन्धु बान्धव उसके बल पर बे रोक टोक मन माने रूप से चाहे जहां घूमने के लिए स्वतंत्र हैं और उन्हें रोकने का साहस कोई नहीं करता। आचार्य श्री कहते हैं कि हे नाथ ! आपके अनन्त गुण केवल आप तक ही सीमित नहीं हैं, बल्कि वे तो तीनों लोकों में विपुलता से व्याप्त हो रहे हैं। जिस प्रकार चन्द्रमा की शुभ्र कलाएं दोज से लेकर पूर्णमासी पर्यन्त क्रमश: विकसित होती रहती हैं उसी प्रकार आपके उज्ज्वल धवल गुण पूर्णमासी के चन्द्रमा के समान पूर्ण रूप से विकसित हो चुके हैं। जिस प्रकार से चन्द्रमा की ज्योत्स्ना से लोक का कोना-कोना व्याप्त हो जाता है उसी भांति आपके निर्मल गुणों से त्रैलोक्य व्याप्त हो गया है। उनकी इस व्याप्ति का कारण स्पष्ट है, कि उन गुणों ने अन्य किसी देव का सहारा नहीं लिया, बल्कि आपकी वीतरागता को ही एकमात्र अपना नाथ स्वीकार किया है। तात्पर्य यह है कि श्री जिनेश्वर देव के गुणों की चर्चा तीनों कालों तथा तीनों लोकों में होती ही रहती है। उस चर्चा को अथवा उनके द्वारा प्रणीत तत्त्वों को रोकने का साहस अथवा खंडन करने का दुस्साहस आज तक किसी को भी नहीं हुआ।

The virtues, which are bright like the collection of digits of full-moon, bestride the three worlds. Who can resist them while moving at will, having taken resort to that supreme Lord Who is the sole overlord of all the three worlds. 14.

O Lord of the three worlds ! your merits, as shining and white as the silvery rays of the full-moon, extend over all the three worlds, for who can prevent them from moving (in the world) at will, being supported by the singular and matchless patron like you ? 14.

मूल श्लोक (सन्मान-सौभाग्य संवर्द्धक)

चित्रं किमत्र यदि ते त्रिदशाङ्गनाभि—
र्नीतं मनागपि मनो न विकारमार्गम् ।
कल्पान्त - काल - मरुता चलिताचलेन,
किं मन्दराद्रिशिखरं चलितं कदाचित् ? ॥१५॥

निर्विकार मानस्तत्व

मदकी छकी अमर ललनायें, प्रभु के मन में तनिक विकार ।
कर न सकी आश्चर्य कौनसा, रह जाती हैं मन को मार ॥
गिरि गिर जाते प्रलय पवन से, तो फिर क्या वह मेरु शिखर ।
हिल सकता है रंचमात्र भी, पाकर झंझावात प्रखर ॥१५॥

अन्वय:

(भगवन् !) यदि ते मनः त्रिदशाङ्गनाभिः मनाक् अपि विकारमार्गं न नीतम् अत्र किम् चित्रम् चलिताचलेन कल्पान्तकालमरुता किम् मन्दराद्रिशिखरम् कदाचित् चलितम् ? (अपितु न चलितम्)

शब्दार्थ:

(भगवन् !)—(हे प्रभो !)

यदि—अगर।

ते—तुम्हारा।

मनः—मन।

त्रिदशाङ्गनाभिः—देवाङ्गनाओं के द्वारा अर्थात् देवलोक की अप्सराओं द्वारा।

विशेषार्थ :—त्रिदश—देव, उनकी अङ्गना—वधू, वही हुआ देवाङ्गना उनके द्वारा वही हुआ त्रिदशाङ्गनाभिः। यह पद तृतीयान्त बहुवचन में प्रयुक्त हुआ है।

मनाक् अपि—जरा भी, थोड़ा भी।

विकारमार्गम्—बुरे भाव की ओर, विकार मार्ग की ओर अर्थात् वैभाविक परिणति की ओर।

न नीतं—खींचकर नहीं लाया गया।

अत्र किम् चित्रम्—तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ?

चलिताचलेन—पहाड़ों को चलायमान कर देने वाली।

विशेषार्थ :—चलित—कम्पित—विचलित, अचल—पहाड़ वही हुआ चलिताचल उसके द्वारा यह पद तृतीया के एकवचन में आया है।

कल्पान्तकालमरुता—प्रलय काल की पवन द्वारा।

विशेषार्थ :—कल्पान्तकाल—प्रलयकाल, उसकी जो मरुत—आंधी वही हुआ कल्पान्तकाल मरुत उसके द्वारा।

किम्—क्या ?

मन्दराद्रिशिखरम्—सुमेरु पर्वत की चोटी।

विशेषार्थ :—मन्दर—अद्रि=मन्दराद्रि, मन्दर—सुमेरु, अद्रि—पर्वत उसकी शिखर वही हुआ मन्दराद्रि शिखर उसको।

कदाचित्—कभी भी।

चलितम्—चलायमान की गई है।

(अपितु न चलितम्—अर्थात् कभी नहीं।

भावार्थः

हे तपोधन !

आपकी शुक्ल ध्यान मण्डित तेजोमय मूर्ति को डिगाने में स्वर्ग की लावण्यमयी अनुपम अप्सरायें भी सफल नहीं हो सकीं अर्थात् आपके ध्यान को भंग नहीं कर सकी और न आपकी स्वाभाविक परिणति को वैभाविक परिणति की ओर रंच मात्र भी खींच सकीं। इसमें आश्चर्य करने की कोई बात नहीं है। क्योंकि कल्पान्तकाल अर्थात् प्रलयकाल की तेज आंधी छोटे-मोटे पर्वतों को भले ही कम्पायमान कर दे परन्तु क्या सुमेरु जैसे विशालकाय पर्वत की चोटी को भी हिलाने की शक्ति उसमें है ? अर्थात् कभी नहीं।

विवेचन

मुनी श्री मानतुंग जी जिनेश्वर देव के अतिशय रूप-सौन्दर्य एवं अनन्त गुणों का यशोगान करने के उपरान्त उनकी यथाख्यात चारित्र निष्ठा का वर्णन करते हुए कहते है कि

हे चारित्र चूड़ामणि !

आपने सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान पूर्वक सम्यक्चारित्र की उस पूर्णता को प्राप्त कर लिया है जिसमें कि मोह ममता राग-द्वेष काषायिक और नो काषायिक आदि विकारी भावों का लेश मात्र भी अंश नहीं रहा। अर्थात् आपने अपने पूर्ण शुद्ध स्वभाव की प्राप्ति करली है और इस प्रकार से पर वस्तुओं का कुटिल प्रभाव आप पर किंचित मात्र भी नहीं होता, आपका अन्तर बाह्य परम वीतराग और निर्विकार है। आप ऐसे योगी और शुक्ल ध्यानी है कि जिन्हें विचलित करने में कोई भी समर्थ नही है। यह तो सभी जानते है कि विषय वासना ने तीनों लोकों पर विजय प्राप्त की है। महान सुभट और शूरवीर भी काम के वशीभूत होते देखे गये है। परन्तु आप एक ऐसे अद्वितीय महावीर है, जिन्होंने कि उस काम रूपी शत्रु पर विजय प्राप्त की है जिसने तीनों लोकों को पराजित कर दिया था। तथाकथित ईश्वर नामधारी देवों और महादेवों के नाम भी इस प्रसंग में लिए जा सकते हैं क्योंकि जिन्होंने अपनी तपस्या द्वारा इन्द्रासनों को भी कम्पायमान कर दिया परन्तु एक काम-वासना के वशीभूत होकर उन्होंने भी रंभा मेनका और तिलोत्तमा के आगे अपने घुटने टेक दिये। यही नहीं बल्कि अब भी उनके देवत्व का अस्तित्व सपत्नीक रूप में ही पूजनीय माना जाता है यह विडम्बना नहीं तो और क्या है ? इसका एक ही कारण समझ में आता है कि उन्होंने मूल में ही महामोह पर विजय

प्राप्त नहीं की, इसीलिए वे राग मिश्रित वासना के गुलाम रह कर अप्सराओं पर मोहित होते रहे परन्तु हे वीतराग देव ! आपने तो अपने पुरुषार्थ से प्रारम्भ में ही दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय नाम के कर्मों के सम्राट् का क्षय कर दिया। जिनका क्षय होने से घातिया कर्म की ४७ प्रकृतियां भी धराशायी हो गईं।

इस छंद में उत्प्रेक्षालंकार द्वारा स्तुति कर्ता भगवान का चारित्र गान करते हुए कहते हैं कि इसमें कोई बड़े आश्चर्य की बात नहीं कि यदि तेरह प्रकार की देवाङ्गनाएँ, अप्सराएँ, परिएँ अपने लावण्य, उन्माद और विविध हाव-भाव द्वारा आपको रिझाने में समर्थ नहीं हुईं। अपने विकारी भावों द्वारा आपके निर्विकार स्वभाव पर कुछ भी कुप्रभाव न डाल सकीं क्योंकि आपका मन तो ऐसा अचल सुमेरु पर्वत है जिसको कि कम्पायमान करने में सामान्य हवा तो क्या बल्कि प्रलयकाल की तेज आंधी भी समर्थ नहीं है। आप अन्य देवी देवताओं की भांति छोटे मोटे पहाड़ तो हैं नहीं कि जिनको मामूली हवा भी डगमगा देती है—

वस्तुतः आप तो सुमेरु की तरह धीर वीर गंभीर अचल परिषह और दुस्सह परिषह विजेता हैं।

No wonder that Your mind was not in the least perturbed even by the celestial damsels. Is the peak of Mandaramountain ever shaken by the mountain-shaking winds of Doomsday ? 15.

× × ×

It is no wonder if the celestial nymphs could not rouse, even in the least the carnal passions in your heart. Can the peak of Sumeru mountain be possibly moved by the tempest of deluge, which had already shaken the other mountains ? 15.

× × ×

मूल श्लोक (सर्व विजय दायक)

निर्धूम - वर्तिरपवर्जित - तैलपूरः,
कृत्स्नं जगत्त्रयमिदं प्रकटीकरोषि।
गम्यो न जातु मरुतां चलिताचलानां,
दीपोऽपरस्त्वमसि नाथ! जगत्प्रकाशः ॥१६॥

मृण्मय दीपक बनाम चिन्मय दीपक

धूम न बत्ती तैल बिना ही, प्रकट दिखाते तीनों लोक।
गिरि के शिखर उड़ाने वाली, बुझा न सकती मारुत झोक॥
तिस पर सदा प्रकाशित रहते, गिनते नहीं कभी दिन रात।
ऐसे अनुपम आप दीप हो, स्वपरप्रकाशक जग विख्यात॥१६॥

अन्वय:

(नाथ!) त्वम् निर्धूमवर्तिः अपवर्जिततैलपूरः कृत्स्नम् इदं जगत्त्रयं प्रकटीकरोषि चलिताचलानाम् मरुताम् जातु गम्यो न (अथ च) जगत्प्रकाशः (अतएव) अपरः दीपः असि।

शब्दार्थ:

(नाथ! —हे स्वामिन्!)

त्वम्—आप।

निर्धूमवर्तिः—धुवां और वर्तिका (बाती) से रहित।

विशेषार्थ :—निर्—निर्गत अर्थात् निकल गया है जिसमें से धूम—धुवां और वर्ति—बाती वही हुआ निर्धूमवर्ति अर्थात् धुवां तथा बाती से रहित।

अपवर्जिततैलपूरः—लबालब तेल से रहित।

विशेषार्थ :—अपवर्जित—त्याग कर दिया है जिसने तैल—तेल उसका पूर—पूर्णता, समूह वही हुआ अपवर्जित तैलपूरः।

कृत्स्नं – समस्त।

इदं – यह।

जगत्त्रयम्—तीनों लोकों की।

प्रकटीकरोषि—प्रकट कर रहे हो, आलोकित कर रहे हो।

चलिताचलानाम्—पहाड़ों को डाँवाडोल करने वाली।

विशेषार्थ :—चलित—चलायमान करती है अर्थात् डगमग कर देती है जो अचल—पहाड़ को वही हुआ चलिताचलः उनके यह पद मरुताम् का विशेषण होने से षष्ठी बहुवचन में प्रयुक्त हुआ है।

मरुताम्—हवाओं के (षष्ठी बहुवचन)

जातु—कदाचित्, कभी भी।

न गम्यः— प्रभावित होने योग्य नहीं हो, अर्थात् प्रवेश पाने के योग्य नहीं हो।

अथच—और (अध्याहार से ग्रहीत)।

जगत्प्रकाशः—विश्व भर में प्रकाश पहुंचाते हो।

अतएव—(इसलिए) (अध्याहार से ग्रहीत)

अपर :—अपूर्व।

दीप :—दीपक।

असि—हो।

भावार्थ:

हे परमज्योति !

आप ऐसे कैवल्यज्ञान रूपी अपूर्व दीपक हो जिसमें से कर्म-कालिमा का धुवाँ निकल चुका है, जो बाती के निमित्त बिना निरपेक्ष रूप से प्रज्ज्वलित है। जिसका राग रूपी स्नेह (तैल) पूर्णतया समाप्त हो गया है और जिसे पर्वतों को भी हिला देने वाली पर निमित्तक हवाएँ बुझाने में समर्थ नहीं है। इस प्रकार आप तीनों लोकों के स्वपर प्रकाशक अभूतपूर्व नमस्करणीय चिन्मय दीपक हो न कि अन्य देवी देवताओं के समान मृण्मय दीपक हो जिसे कि सामान्य हवा के झोंके भी बुझा देते हैं।

विवेचन:

प्राय: सभी भाषा के कवियों ने दीपक, कमल, दर्पण, सूर्य, चन्द्रमा आदि उपमानों को अपने सरस काव्य के अलंकार बनाकर प्रस्तुत किये है परन्तु भक्त कवि आचार्य मानतुंग जी ने उपरोक्त उपमानों को भी अपने अनुपमेय आराध्य देव की उपासना में निरर्थक ठहराया है। उदाहरण के लिए दीपक से यदि जिनेन्द्र देव की उपमा दी जाती है तो वह भी सदोष प्रतीत होती है क्योंकि एक तो दीपक मृण्मय अर्थात् मिट्टी का बना हुआ होता है दूसरे वह बिना बर्तिका (बाती) के प्रज्ज्वलित होने में असमर्थ है। तीसरे जब तक वह उसमें तैल है तब तक उसका जीवन है। चौथे हवा के सामान्य झोंकों से उसकी जीवन ज्योति कम्पित होती रहती है और कभी कभी तो उसकी गिनती की श्वासें उन्हीं झोंकों के द्वारा लूट ली जाती हैं। दीपक न केवल स्नेह (तैल) का ही भक्षण करता है। अपितु अन्धकार को भी अपना ग्रास बनाता है, यही कारण है कि वह जो कुछ भक्षण करता है उसी को उत्पन्न करता है। कहा भी है :—

दीपो भक्षयते ध्वान्तं, कज्जलं च प्रसूयते।

वस्तुत. उसका धुवाँ कलंक युक्त होता है। इतने अधिक दोषों से सहित होते हुए भला जिनेन्द्रदेव का उपमान वह कैसे ठहर सकता है क्योंकि जिनेन्द्र देव तो चिन्मय हैं। अर्थात् चैतन्य स्वरूप सर्वज्ञ हैं। स्नेह अर्थात् राग से रहित परम वीतराग है। उनके ज्ञान ध्यान और तप से कर्मेन्धन जल कर भस्म बन गया और जिसके भस्म हो चुकने का प्रमाण कर्म कलंक रूपी धुवें के रूप में व्यक्त हो रहा है। दीपक को यद्यपि स्वपर प्रकाशक कहा जाता है तथापि दीपक तले अंधेरा होने से उसकी यह विशेषता भी खंडित हो जाती है।

हे ज्ञानपुंज ! आप एक अद्वितीय अपूर्व दीपक हैं जिसमें क्षायिक कैवल्य ज्ञान की शास्वत अखंड ज्योति प्रज्ज्वलित हो रही है। उस अखंड ज्योति के आलोक में तीनों लोकों के समस्त पदार्थ एक साथ अपनी द्रव्य गुण पर्यायों सहित स्वयमेव प्रकाशित हो रहे है। आपका जीवन राग से नहीं बल्कि वीतरागता के चैतन्य प्राणों से जगमगा रहा है। आप अपने में परिपूर्ण शुद्ध और एक होने से किसी पर वस्तु की अपेक्षा नहीं रखते, अव्याबाध सुख की प्राप्ति कर लेने के कारण आपको सांसारिक विषमताएं बाधा पहुँचाने मे समर्थ नहीं है इसलिए हे स्वपरप्रकाशक अपूर्व दीपक ! आप इस लौकिक दीपक से सर्वथा भिन्न एक अलौकिक दीपक हैं।

Thou art, O Lord ! an unparalled lamp—as it were, the very light of the universe—which, though devoid of smoke, wick and oil, illumines all the three worlds and is invulnerable even to the mountain-shaking winds. 16.

× × ×

O Lord ! In this world you are the illumining light of rare singularity, which, giving light to the whole Sphere, has no smoke, wick and suypply of oil in it. It is (also) unaffected by the wind which had shaken the other mountains. 16.

× × ×

मूल श्लोक (सर्व रोग निरोधक)

नास्तं कदाचिदुपयासि न राहुगम्यः,
स्पष्टीकरोषि - सहसा युगपज्जगन्ति ।
नाम्भोधरोदर - निरुद्ध - महाप्रभावः,
सूर्यातिशायिमहिमाऽसि मुनीन्द्र! लोके ॥१७॥

सूर्य से भी अधिक तेजस्विता

अस्त न होता कभी न जिसको, ग्रस पाता है राहु प्रबल ।
एक साथ बतलाने वाला, तीन लोक का ज्ञान विमल ॥
रुकता कभी प्रभाव न जिसका, बादल की आकर के ओट ।
ऐसी गौरव गरिमा वाले, आप अपूर्व दिवाकर कोट ॥१७॥

अन्वयः

मुनीन्द्र ! (त्वम्) कदाचित् अस्तम् न उपयासि न राहुगम्यः असि सहसा जगन्ति युगपत् स्पष्टीकरोषि न अम्भोधरोदरनिरुद्धमहाप्रभावः (अतः) लोके सूर्यातिशायिमहिमा असि ।

शब्दार्थः

मुनीन्द्र !—हे मुनीश्वर !

(त्वम्)—(तुम)

कदाचित्—कभी भी ।

अस्तम्—अदृश्य अवस्था को ।

न—नहीं ।

उपयासि—प्राप्त होते हो ।

न—न ।

राहुगम्यः—राहु ग्रह के द्वारा ग्रसने योग्य । (राहु नव-ग्रहों में एक ग्रह है, जो सूर्य तथा चन्द्रमा के ऊपर संक्रमण काल में अपनी छाया डालता है तब उनका ग्रहण हुआ माना जाता है ।)

असि—हो ।

सहसा—शीघ्रता से, सहजता से ।

जगन्ति—तीनों लोकों को । जगत शब्द का बहु वचन जगन्ति है । 'जगन्ति भुवनानि' ।

युगपत्—एक साथ, एक समय में ।

स्पष्टीकरोषि—स्पष्ट करते हो, प्रकाशित करते हो, व्यक्त करते हो ।

न—न ।

अम्भोधरोदर निरुद्धमहाप्रभावः—बादलों के उदर में जिसका महा प्रताप अवरुद्ध हो सका है ।

(अतः)—(इसलिए) (अध्याहार से ग्रहीत) ।

लोके—इस लोक में, इस संसार में ।

सूर्यातिशायी महिमा—सूर्य से भी अधिक महिमा को—महत्व को धारण करने वाले ।

विशेषार्थ :—**सूर्य**—दिनकर से भी **अतिशायी**—विशेष है जिसकी महिमा अर्थात् महत्व, वही हुआ **सूर्यातिशायी महिमा** ।

असि—हो ।

भावार्थः

हे केवल्यज्ञान-मार्तण्ड !

आपकी उपमा सूर्य से भी नहीं दी जा सकती, क्योंकि एक तो सूर्य उदय होकर अस्त को प्राप्त होता है; दूसरे राहु ग्रह के द्वारा ग्रसित किया जाता है; तीसरे अपना प्रकाश आच्छन्न गुहा, कन्दराओं में नहीं पहुँचा पाता। चौथे उसका प्रताप बादलों की ओट में छिप जाता है। इस प्रकार छद्मस्थ लोगों द्वारा नमस्कार किये जाने वाले सूर्य की महिमा सीमित है—इसके विपरीत हे जिनेन्द्रदेव ! आप एक ऐसे अद्वितीय मार्तण्ड है जिसका क्षायिक ज्ञान कभी भी अस्त होने वाला नहीं है। त्रैकालिक रूप से उदीयमान है। शुभाशुभ कर्मरूपी राहु की छाया भी आप पर नहीं पड़ती। आप तीनों लोकों के चराचर पदार्थों को एक साथ ही आलोकित करते हैं। आपके ज्ञान गुण पर किसी प्रकार का भी आवरण नहीं है, जो उसे ढक सके या छिपा सके। इस प्रकार आपकी महिमा सूर्य से भी अधिक अतिशय वाली है।

विवेचन

वैदिक ऋचाओं में मनीषियों ने स्थान-स्थान पर सूर्य देवता को नमन किया है। परन्तु श्रमण परम्परा में देवत्व की परिभाषाएँ अपना अलग स्थान रखती हैं। वीतराग सर्वज्ञ हितोपदेशी आप्त ही इस परम्परा में पूज्यनीय माने जाते हैं। इसलिए स्तोत्रकार सूर्य की कोटि में जिनेश्वर देव की स्थापना युक्तिसंगत नहीं समझते। वे सूर्य के देवत्व की महत्ता का निम्न तर्कों द्वारा खंडन करते हैं और तत्पश्चात् जिनेन्द्र देव की महिमा की स्थापना सर्वोपरि रूप से सिद्ध करते हैं। वे कहते हैं कि सूर्य उदय होकर अस्तंगत हो जाता है परन्तु आपका स्वभाव रूपी सूर्य कभी अभाव को प्राप्त होने वाला नहीं है। संक्रमण कालों में सूर्य पर जो राहु आदि ग्रहों की काली छाया पड़ जाती है और उसके फलस्वरूप सूर्य का प्रताप निस्तेज हो जाता है परन्तु आप पर सांसारिक विकार रूपी ग्रहों की छाया कभी भी नहीं पड़ती। फलस्वरूप आपका प्रताप पुंज शास्वत रहता है। सूर्य दिन में प्रकाश देता है रात में नहीं। सूर्य खुले स्थानों को आलोकित करता है, आछन्न स्थानों को नहीं। परन्तु हे नाथ ! आपका केवल ज्ञान रूपी सूर्य तीनों जगत के चराचर पदार्थों को तीनों कालों में एक साथ ही प्रकाशित करता रहता है। सघन बादलों के समूह से प्रतापी सूर्य का प्रकाश अवरुद्ध हो जाता है। परन्तु हे प्रभो ! आपका प्रताप मति श्रुतावधिमनःपर्यय केवल आदि ज्ञानावरणी कर्मों के आवरण से सर्वथा

रहित है। इसलिए हे मुनिनाथ ! आपकी महिमा तथाकथित सूर्यदेव से भी अधिक बढ़-चढ़कर है, अतएव सूर्य से आपकी तुलना नहीं की जा सकती।

O Great Sage, Thou knowest no siting, nor art Thou eclipsed by Rahu. Thou dost illumine suddenly all the worlds at one and the same time. The water-carrying clouds too can never bedim Thy great glory. Hence in respect of effulgence Thou art greater than the sun in this world. 17.

× × ×

As you neither set nor you are affected by Rahu and nor your brilliance is even hidded by the thick and dense clouds and as you simultaneously enlighten the whole sphere you are, O best of the sage ! superior in pre-eminence, to the sun. 17.

× × ×

मूल श्लोक (शत्रु-सैन्य स्तम्भक)

नित्योदयं दलित - मोह - महान्धकारं,
गम्यं न राहुवदनस्य न वारिदानाम् ।
विभ्राजते तव मुखाब्जमनल्प-कान्ति,
विद्योतयज्जगदपूर्व - शशाङ्क - बिम्बम् ॥१८॥

चन्द्र से अधिक सौम्यता
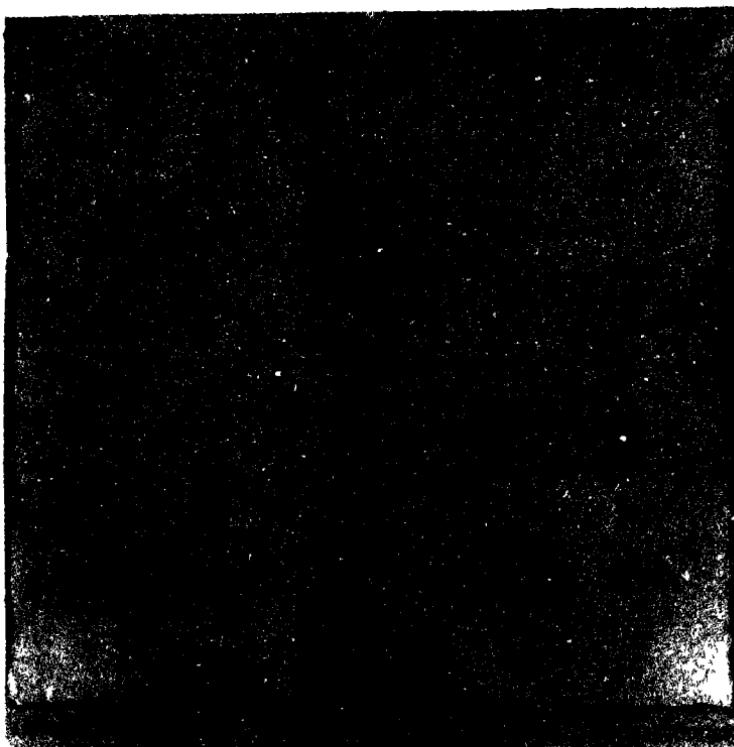
मोह महातम दलने वाला, सदा उदय रहने वाला।
राहु न बादल से दबता पर, सदा स्वच्छ रहने वाला ॥
विश्व प्रकाशक मुख सरोज तव, अधिक कान्ति मय शांत स्वरूप ।
है अपूर्व जग का शशि मंडल, जगत शिरोमणि शिव का भूप ॥१८॥

अन्वय:

(भगवन्) तव मुखाब्जम् नित्योदयम् दलितमोहमहान्धकारम् अनल्प-कान्ति न राहुवदनस्य गम्यम् वारिदानाम् गम्यम् जगत् विद्योतयत् अपूर्व-शशांकबिम्बम् (इव) विभ्राजते ।

शब्दार्थ:

(भगवन्)—(हे जिनेन्द्रदेव) ।

तव—आपका ।

मुखाब्जम्—मुख-कमल —मुख-मण्डल ।

विशेषार्थ :— **मुख**—मुँह ही है **अब्ज**—कमल, वही हुआ **मुखाब्ज** अर्थात् मुख-कमल—मुखारविन्द ।

नित्योदयम्—सदा उदय रहने वाला—रात दिन उदय रहने वाला ।

विशेषार्थ :—**नित्य**—अहर्निशि—रात-दिन जो **उदय**—उदित रहता है, वही हुआ **नित्योदय** ।

दलितमोहमहान्धकारम्—मोहरूपी महान्धकार को नाश करने वाला ।

विशेषार्थ :—**दलित**—नाश कर दिया है जिसने **मोह**—अज्ञान रूपी महा—महान् **अन्धकार**—अंधेरा जिसने वही हुआ **दलितमोहमहान्धकार** ।

अनल्पकान्ति—अधिक कान्तिवान—अत्यन्त दीप्तिवान ।

विशेषार्थ :—**अनल्प**—अधिक—अत्यन्त है **कान्ति**—दीप्ति, चमक, आभा जिसकी वही हुआ **अनल्पकान्ति** ।

न राहुवदनस्य गम्यम्—राहु-ग्रह के मुख में जो प्रवेश नहीं करता ।

विशेषार्थ :—**न**—नहीं, **राहु**—राहु नामक ग्रह का **वदन**—मुख वही हुआ **राहुवदन** । **गम्य**—प्रवेश करने योग्य—आक्रमण के योग्य वही हुआ **राहुवदनस्य गम्य** ।

न वारिदानाम् गम्यम्—बादलों के द्वारा जो पराभव को प्राप्त नहीं होता ।

विशेषार्थ :—**न**—नहीं **वारिद**-मेघ (यह पद षष्ठी बहुवचन में आया है) इसलिए हुआ **वारिदानाम् गम्य**—प्रवेश करने योग्य सो वही हुआ **न वारिदानाम् गम्यम्**—

जगत्—विश्व को—संसार को ।

विद्योतयत्—विशेष रूप से प्रकाशित करता हुआ-

विशेषार्थ:—**द्योतयत्**—प्रकाशित करता हुआ—**विद्योतयत्** विशेष रूप से प्रकाशित करता हुआ ।

अपूर्वशशांकबिम्बम्—अलौकिक चन्द्रमण्डल।

विशेषार्थ:—**अपूर्व**—अलौकिक ऐसा **शशांक**—चन्द्रमा, वही हुआ **बिम्ब**—मण्डल वही हुआ **अपूर्वशशांकबिम्ब**, यह पद प्रथमा विभक्ति में आया है।

विभ्राजते—शोभा देता है।

भावार्थ

हे ज्योतिर्मय देव !

आपका मुखकमल एक विलक्षण चन्द्रमा है, जो अनन्त सौन्दर्य से परिपूर्ण है आंखों से देखा जाने वाला चन्द्रमा तो रात्रि में उदित होता है परन्तु आपका मुखचन्द्र समस्त संसार को प्रकाशित करता हुआ सदा सुशोभित रहने वाला ऐसा चन्द्रबिम्ब है जो रात-दिन समान रूप से प्रकाश को उड़ेलता ही रहता है। चन्द्रमा साधारण अन्धकार का नाश करता है परन्तु आपका मुखचन्द्र मोह रूपी अज्ञानान्धकार को नाश कर देता है। चन्द्रमा को राहु ग्रस लेता है और बादल अपने आँचल में छिपा लेता है परन्तु आपके मुखचन्द्र को न राहुग्रह, ग्रस सकता है और न बादल ही छिपा सकते हैं। चन्द्रमा की कान्ति कृष्ण पक्ष में घट जाती है परन्तु आपके मुखचन्द्र की कान्ति सदा समान रूप से दैदीप्यमान रहती है। चन्द्रमा रात्रि में क्रम-क्रम से केवल अर्धद्वीप को ही प्रकाश देता है परन्तु आपका मुखचन्द्र सारे संसार को एक साथ ही प्रकाशित करता है।

विवेचन

भक्ति की निरन्तर बढ़ती हुई प्रवहमान धारा में अवगाहन करते हुए श्री मानतुंगाचार्य जी यद्यपि उपमानों की श्रृंखला में सूर्य और चन्द्रमा को रखना उचित नहीं समझते तो भी लौकिक धर्मों मे उनकी मान्यता होने से वे जगत के सर्वश्रेष्ठ पदार्थ माने गये हैं जब कि वस्तुस्थिति यह है कि तीनों लोकों में मान्य सर्वश्रेष्ठ पदार्थ तो परमात्म पद है इसलिए उस मान्यता का खंडन करना स्तोत्रकार को नितान्त आवश्यक प्रतीत होता है, अतएव वे पुन: पुन: इन्हीं उपमानों का प्रयोग श्लोकों में करते आ रहे हैं—देखिये श्लोक नं० १३ में जिसमें कि जिनेन्द्रदेव के मुख-कमल की उपमा सदोष चन्द्रमा से देना उन्होंने उचित नहीं समझा। नाही सूर्य से। इस छद मे पुन: वे लौकिक चन्द्रमा की हीनताओं और जिनेश्वरदेव के मुखरूपी अलौकिक अद्वितीय चन्द्रमा की विशेषताओं का तुलनात्मक विश्लेषण कर रहे है :—

आचार्य श्री कहते हैं कि लौकिक चन्द्रमा तो उदय भी होता है और अस्त

भी किन्तु आपका ओजमय मुखमण्डल रूपी चन्द्र न तो उदय ही होता है और न अस्त ही। अर्थात् नित्य ही—निरन्तर ही उदीयमान रहता है। वास्तव में श्री अरिहंतदेव का ज्ञान नित्योदय रूप ही है, जो कि मोह के अन्धकार को दूर करता है। लौकिक चन्द्रमा सामान्य अन्धकार का नाश करता है किन्तु आपका मुख-चन्द्र मिथ्यात्व रूपी महान्धकार को विनष्ट करता है। चन्द्रमा की कान्ति तो शुक्ल पक्ष की पूर्णिमा के पश्चात् क्रमशः क्षीण होती रहती है परन्तु आपका मुख रूपी पूर्णचन्द्र सदैव ही अनल्पकान्ति वाला ही रहता है। चन्द्रग्रहण के समय वह राहुग्रह के द्वारा दबोच लिया जाता है किन्तु आपका अलौकिक मुखचन्द्र दुष्कृत्य रूपी राहु से कभी भी नहीं ग्रसा जाता। लौकिक चन्द्रमा की ज्योत्स्ना बादलों से पराभूत हो जाती है किन्तु आपके गुणों की शुभ्र ज्योत्स्ना को किसी भी प्रकार का आवरण रोक नहीं पाता। लौकिक चन्द्रमा तो अपना प्रकाश सीमित क्षेत्र में प्रकाशित करता है जब कि आपके ज्ञानालोक से तो तीनों ही लोक प्रकाशित होते हैं।

Thy lotus-like countenance,—which rises enternally, destorys to the great darkpess of ignorance, is accessible neither the mouth of Rahu nor to the clouds; possesses great of luminosity,—is the universe-illuminating peerless moon. 18.

× × ×

O God ! your lotus like mouth of immense luster, which always remain risen, has destroyed the great derkness of delusion, do not enter the mouth of Rahu i.e, is unaffected by Rahu, is not hidden by clouds and gives light to the whole world, shines like the singular and pairless moon. 18

× × ×

मूल श्लोक (उच्चाटनादि रोधक)

किं शर्वरीषु शशिनाऽह्नि विवस्वता वा?
युष्मन्मुखेन्दु - दलितेषु तमस्सु नाथ !
निष्पन्नशालिवनशालिनि जीवलोके,
कार्यं कियज्जलधरैर्जलभारनम्रैः ॥१९॥

प्रभु के सन्मुख सूर्य-चन्द्र की निष्प्रभता

[illegible]

नाथ आपका मुख जब करता, अन्धकार का सत्यानाश।
तब दिन में रवि और रात्रि में, चन्द्र-बिम्ब का विफल प्रयास॥
धान्य-खेत जब धरती तल के, पके हुए हों अति अभिराम।
शोर मचाते जल को लादे, हुये घनों से तब क्या काम? ॥१९॥

अन्वयः

नाथ ! तमस्सु युष्मन्मुखेन्दुदलितेषु शर्वरीषु शशिना किम् वा अह्नि विवस्वता किम् निष्पन्नशालिवनशालिनिजीवलोके जलभारनम्रैः जलधरैः कियत् कार्यम् ?

शब्दार्थः

नाथ ! — हे स्वामिन् !

तमस्सु युष्मन्मुखेन्दुदलितेषु—आपके मुख रूपी चन्द्रमा के द्वारा हर तरह के प्रगाढ़ अन्धकारों को नाश किये जाने पर ।

विशेषार्थ :—**तमस्**— अन्धकार । सती सप्तमी के अनुसार हुआ **तमस्सु** । **युष्मत्**—आपके । मुख+इन्द्र—मुखेन्दु-मुखरूपी चन्द्रमा (के द्वारा) **दलित** —नष्ट किया हुआ—सती सप्तमी के अनुसार हुआ दलितेषु अर्थात् नष्ट किये जाने पर ।

शर्वरीषु— रात्रि मे । (सप्तमी बहु वचन)

शशिना किम्—चन्द्रमा से क्या प्रयोजन ?

वा—अथवा ।

अह्नि—दिन मे—दिवस मे ।

विवस्वता किम्—सूर्य से क्या प्रयोजन ? (**विवस्वात्**— अर्थात् सूर्य । विवस्वत् शब्द का तृतीया एक वचन का रूप **विवस्वता** है ।)

निष्पन्नशालिवनशालिनि—परिपक्व धान के वनों से सुशोभित हो जाने पर ।

विशेषार्थ :- **निष्पन्न**—परिपक्व **शालिवन**—धान्य क्षेत्र (धान के खेत) वही हुआ **निष्पन्नशालिवन** । **शालिन्**— शोभाशाली । शालिन् सती सप्तमी शालिनि अर्थात् शोभाशाली होने पर ।

जीवलोके—भूलोक मे—**पृथ्वी में** ।

जलभारनम्रैः:— पानी के भार से नीचे की ओर झुके हुए ।

विशेषार्थ :—**जल**— पानी, उसका **भार** वही हुआ **जलभार**, उसके कारण **नम्र**—नीचे की ओर झुके हुए, वही हुआ **जलभारनम्र** । उनके द्वारा ।—**जलभारनम्रैः** ।

जलधरैः :—बादलों के द्वारा ।

विशेषार्थ :—उपरोक्त जलभारनम्रैः तथा जलधरैः मे विशेष्य विशेषण सम्बन्ध के कारण तृतीया के बहु वचन में प्रयुक्त हुआ है ।

कियत् कार्यम्— कितना सा काम निकलता है ? अर्थात् कुछ भी नहीं ।

भावार्थः

हे वीतराग विज्ञान पयोधर !

आपके मुखरूपी चन्द्रमा के उपस्थित होते हुए दिन में चमकने वाले सूर्य की और रात्रि में उजाला करने वाले चन्द्रमा की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि ये दोनों तो केवल बाहर का ही अंधेरा दूर कर पाते हैं; जब कि आपकी सौम्य मुख-मुद्रा अन्तरंग और बहिरंग दोनों प्रकार के अन्धकार को दूर कर देती है। जिस प्रकार धान्य (धान) की फसल पक जाने पर पानी का बरसना निरर्थक और हानिप्रद है उसी प्रकार इनका आस्तित्व भी आपके अस्तित्व के आगे नगण्य है।

विवेचन

इस श्लोक में स्तुतिकार ने एक ही साथ सूर्य तथा चन्द्रमा की पूजनीयता पर प्रहार किया है तथा परोक्ष रूप से वरुणदेवता की भी निरर्थकता सिद्ध की है।

आचार्य श्री कहते हैं—कि जब आपके मुखरूपी चन्द्रमा से समस्त जीवलोक का अज्ञानान्धकार दूर हो गया तो दिन के अधिपति दिनकर और रात्रि के अधिपति निशाकर के द्वारा प्रकाश किये जाने से क्या लाभ ? क्योंकि सूर्य सिर्फ दिन का और चन्द्रमा केवल रात्रि का ही लौकिक अंधेरा सीमित क्षेत्रों से दूर भगाता है। इसके विपरीत आपकी कीर्ति और प्रभा तो रात-दिन जगमगाती रहती है। आगमोक्त कथन है कि समवशरण में तीर्थङ्करदेव की कान्ति के कारण चौबीसों घंटे तेज प्रकाश बना रहता है, अतएव वहां न तो रात्रि मे चन्द्रमा की और न दिन में सूर्य की ही कुछ आवश्यकता रहती है।

आवश्यकता रहे भी क्यों ? कार्य की निष्पत्ति हो जाने पर कारणों का फिर मूल्य ही क्या ? उदाहरण के लिए खेत पक गए, फल आ गए, कटने का समय भी आ गया। उस समय यदि वरुणदेव गर्जना के साथ मूसलाधार पानी बरसावें तो उससे लाभ की अपेक्षा हानि होना ही अधिक संभव है। पानी को बरसते देखकर तो किसानों की आंखें ही मूसलाधार बरसने लगती हैं, किसी कवि ने कहा भी है कि—

का बरषा जब कृषि सुखाने ?

इस प्रकार से समस्त सरागी देव तथा लोकमान्य अन्यान्य देव भी जिनेन्द्र देव की तुलना में अस्तित्व हीन सिद्ध होते हैं।

When Thy lotus-like face, O Lord, has destroyed the darkness, what's the use of the sun by the day and moon by the night ? What's the use of clouds heavy with the weight of water, after the ripening of the paddy-fields in the world. 19.

× × ×

The deakness being destroyed by your moon-like face the moon is useless by the night and the sun by the day, Similiarly, what is the use of clouds, hanging down by the weight of water after the ripeness of rice fields in the country ? 19.

मूल श्लोक (संतान-सम्पत्ति-सौभाग्य प्रसाधक)

ज्ञानं यथा त्वयि विभाति कृतावकाशं,
नैवं तथा हरिहरादिषु नायकेषु।
तेजः स्फुरन्मणिषु याति यथा महत्त्वं,
नैवं तु काचशकले - किरणाकुलेऽपि ॥२०॥

अन्यान्य देवों की अपेक्षा ज्ञान की विशेषता

जैसा शोभित होता प्रभु का, स्वपर-प्रकाशक उत्तम ज्ञान।
हरिहरादि देवों में वैसा, कभी नहीं हो सकता भान।।
अति ज्योतिर्मय महा-रतन का, जो महत्व देखा जाता।
क्या वह किरणाकुलित कांच में, अरे, कभी लेखा जाता? ॥२०॥

अन्वय:

कृतावकाशम् ज्ञानम् यथा त्वयि विभाति तथा हरिहरादिषु नायकेषु न एवम्। स्फुरन्मणिषु तेजः यथा महत्त्वं याति किरणाकुले अपि काचशकले तु न एवम्।

शब्दार्थ:

कृतावकाशम्—अनन्त पर्यायात्मक पदार्थों को प्रकाशित करने वाला।

विशेषार्थ :—कृत—किया गया है, **अवकाश**—प्रकाश, जिसके द्वारा वही हुआ **कृतावकाश** अर्थात् प्रकाश करने वाला।

ज्ञानम्—केवल ज्ञान।

यथा—जिस प्रकार।

त्वयि—आप में।

विभाति—शोभायमान है।

तथा वैसा (उस प्रमाण से)।

हरिहरादिषु—हरिहरादिक अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु और महेश आदि मे।

विशेषार्थ :—**हरि**—विष्णु, **हर**—शंकर अर्थात् महादेव, वही हुआ **हरिहर** वह है जिनके आदि मे वही हुआ **हरिहरादि**। यह पद सप्तमी के बहु वचन मे आया है। यहाँ आदि शब्द से ब्रह्मा, बुद्ध आदि समझना चाहिए।

नायकेषु—नायकों मे, लौकिक देवताओं मे।

विशेषार्थ :— नयतीति नेता, अर्थात् नायक। वैसे तो देश का नेतृत्व करने से नेता को ही नायक कहा जाता है। परन्तु उपरोक्त नायकों मे देवत्व का आरोपण होने से वे लौकिक देव ही यहाँ नायक के रूप मे ग्रहण किये गए है।

न एवम्—वैसा है ही नही, अर्थात् सर्वथा ही नही।

स्फुरन्मणिषु— झिलमिलाती मणियों मे (महान् रत्नो मे)।

विशेषार्थ :—**स्फुरत्**—प्रकाशवंत, जगमगाता हुआ ऐसा जो मणि वही हुआ **स्फुरन्मणि**, उसके विषय मे अर्थात् महान् रत्नो मे (सप्तमी बहु वचन में प्रयुक्त)।

तेजः—दीप्ति, कान्ति, चमक-दमक।

यथा महत्त्वं याति—जैसा महत्त्व प्राप्त करते हैं।

---

१. "काचोद्भवेषु न तथैव विकासकत्वम्" ऐसा भी पाठ है।

२. अनन्तपर्यायादिके वस्तुनि कृतो विहितोऽवकाशः प्रकाशो येन तत्।

किरणाकुले अपि—रश्मि राशि से व्याप्त होने पर भी।

काच शकले—कांच के टुकडों में—कांच के हिस्सों में।

विशेषार्थ :—कांच का शकल—टुकड़ा वही हुआ **कांच शकल** उसमें अर्थात् काच शकले सप्तमी एक वचन में प्रयुक्त हुआ है।

तु—तो

न एवम्—प्राप्त ही नही करता।

भावार्थ

हे तेजोपुज !

स्वपर प्रकाशक अखण्ड क्षायिक ज्ञान की निर्मल ज्योति जिस प्रकार आप मे सुशोभित होती है, वैसी ब्रह्मा विष्णु महेश आदि लौकिक देवों में नही है। सच ही तो है—कि महारत्नों में जैसा तेज होता है, वैसा कांच के टुकड़ों मे कदापि नहीं होता अर्थात्—कांच का टुकड़ा सूर्य की तेज किरणों को ग्रहण करने पर भी वैसी चकाचौंध उत्पन्न नहीं करता जैसी कि सामान्य रूप से रखे हुए मणि मुक्तादिक करने है।

विवेचन

प्रकृति मे प्रतिष्ठित वैदिक देवताओं में पूजनीयता के अभाव की सतर्क विवेचना करने के उपरान्त स्तुतिकार अब लोक में प्रसिद्ध पौराणिक पुरुषों में देवत्व का अभाव सिद्ध करते हुए कहते हैं—कि—

हे वीतराग आप्त ! आप न केवल रूप सौन्दर्य में ही अद्वितीय हैं, अपितु ज्ञान प्रधान गुण सौन्दर्य में भी एकमेव हैं अद्वितीय हैं। कहाँ आपका अनन्त ज्ञान और कहां अन्यान्य तथाकथित सरागी देवों का सीमित संकुचित ज्ञान ! हे सर्वज्ञ ! आपने अनेकांतात्मक वस्तु स्वरूप को जैसा देखा है, वैसा ही प्ररूपित किया है। आपके वचन परस्पर विरोध रहित हैं और मिथ्यामार्ग का उन्मूलन करने वाले है। जब कि अल्पज्ञ और छद्मस्थ देवों के वचन परस्पर विरोधी और अपूर्णता के सूचक हैं। आपमें स्थान पाकर ज्ञान सामान्य अपने शुद्ध रूप में जिस शोभा को प्राप्त होता है, वैसा ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि लौकिक देवताओं में नहीं। क्योंकि मिथ्या दर्शन के कारण उनका ज्ञान भी मिथ्याज्ञान की कोटि में आता है। जिस प्रकार चमकती-जगमगाती हुई वैडूर्य पद्मराग इन्द्रनील आदि मणि मुक्ताओं में स्वभाव से ही चाकचिक्य (चकाचौंध)

उत्पन्न करने वाला तेज विद्यमान रहता है वैसा तेज या चमक-दमक सूर्य की किरणों को समेट लेने वाले कांच के टुकड़ों में नहीं पाया जाता ।

यहां सरागी देवताओं की तुलना कांच के टुकड़ों से तथा वीतराग परम हितोपदेशी जिनेश्वर देव की तुलना मणि मुक्ताओं से दी गई है, और स्वपर प्रकाशक कैवल्यज्ञान के आगे समस्त क्षायोपशमिक और क्षायिक ज्ञानों का अवमूल्यन सिद्ध किया गया है ।

Knowledge abiding in the Lords like Hari and Hara does not shine so brilliantly as it does in You, Effulgence, in a piece of glass, though filled with rays, the rays never attains that glory, which it does in sparkling gems. 20.

× × ×

The other gods such as Hari and Har, possess no such supreme knowledge as you have in you with its all illumining quality; for the (rear) luster, which shines in the glittering jewels with its full splendour, can not be reflected in equal degree, by the glass pieces, even abounding in the rays of light. 20.

× × ×

मूल श्लोक (सर्व सौख्य सौभाग्य साधक)

मन्ये वरं हरिहरादय एव दृष्टा,
दृष्टेषु येषु हृदयं त्वयि तोषमेति।
किं वीक्षितेन भवता भुवि येन नान्यः
कश्चिन्मनो हरति नाथ! भवान्तरेऽपि ॥२१॥

निन्दा स्तुति अलंकार

हरिहरादि देवों का ही मैं, मानूं उत्तम अवलोकन।
क्योंकि उन्हें देखने भर से, तुमसे तोषित होता मन॥
है परन्तु क्या तुम्हें देखने, से हे स्वामिन् मुझको लाभ।
जन्म जन्म में भी न लुभा पाते, कोई, यह मम अभिताप ॥२१॥

अन्वयः

नाथ ! मन्ये हरिहरादयः दृष्टाः एव वरं येषु दृष्टेषु हृदयम् त्वयि तोषम् एति वीक्षितेन भवता किम् येन भुवि अन्यः कश्चित् भवान्तरे अपि मनो न हरति।

शब्दार्थः

नाथ !—हे भगवन् !
मन्ये—मैं मानता हूँ, कि—
हरिहरादय :—विष्णु और महादेव आदि लौकिक देव ।
दृष्टा :—हमारे द्वारा देखे गये ।
एवं वरं—यह अच्छा ही हुआ ।
(यत :)—(क्योंकि) (अध्याहार मे ग्रहीत)
येषु दृष्टेषु—जिनके देख लेने पर (सती सप्तमी) ।
हृदयं (मेरा) हृदय—हमारा मन ।
त्वयि —आप मे ।
तोषम्—सन्तोष को ।
एति प्राप्त होता है ।
वीक्षितेन भवता—आप को देख लेने मे ।
विशेष दोनों पद तृतीया एक वचन मे प्रयुक्त हुए है ।
किम् -क्या (लाभ) ।
येन- जिससे ।
भुवि --भूमण्डल में (पर) ।
अन्यः कश्चित्—अन्य कोई (देव) ।
भवान्तरे अपि—जन्म जन्मान्तर मे भी—
मनो—मन को—चित्त को—हृदय को ।
न नही ।
हरति हरण कर सकता ।

भावार्थ

हे लोकोत्तम् !

दूसरे लौकिक देवो के देखने से आप मे परम सन्तोष होता है—यह लाभ है, परन्तु आपको एक बार देख लेने के उपरान्त अन्य किसी देव की ओर चित्त नही जाता—मन नही लुभाता—यह हानि है । अथवा ।

हरिहरादिक देवों का देखना अच्छा है, क्योंकि वे रागद्वेष एवं विषय कषायों से ओतप्रोत है। उनके अवलोकन से चित्त सन्तुष्ट नहीं होता, मन को शान्ति नहीं मिलती, तब आपके दर्शन को मन स्वभावत: लालायित होता है, क्योंकि आप वीतराग सर्वज्ञ तथा हितोपदेशी है। आपके दर्शन मे चित्त इतना अधिक सन्तुष्ट होता है, कि वह मृत्यु के उपरान्त जन्म जन्मान्तरों मे भी दूसरे तथाकथित लौकिक देवों का दर्शन नही करना चाहता। यहाँ व्याजोक्ति अलंकार है।

विवेचन

यह एक सामान्य नियम है, कि जब तक मूल वस्तु के समानान्तर कोई कृत्रिम वस्तु सापेक्ष रूप से उसकी तुलना में नहीं रखी जाती तब तक मूल वस्तु का सही मूल्यांकन नहीं हो सकता। काँच के टुकड़े की कीमत तभी तक है, जब तक कि उसके सामने मणि मुक्तादिक नहीं आ जाते। यदि प्रकृति में अकेला दिन ही होता, रात्रि न होती अथवा केवल प्रकाश ही होता, अन्धकार न होता तो दिन अथवा प्रकाश दोनों ही अपने विपक्षियों के अभाव में उतने मूल्यवान नहीं माने जाते जितने कि उनके सद्भाव में। जब तक परस्पर विरुद्ध दो वस्तुएँ सापेक्ष रूप से तुलना में नहीं आतीं तब तक निरपेक्ष और मौलिक वस्तु का यथार्थ मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। असल की कीमत भी नकल की उपस्थिति से होती है।

यहाँ २०वें तथा २१वें श्लोक में आचार्यश्री सरागी एवं वीतरागी देवों की तुलना करते हुए उनका मूल्यांकन कर रहे हैं। व्याजोक्ति अलंकार और विरोधाभास की भाषा में हैं कि—

हे पुराण पुरुष ! यह तो अच्छा ही हुआ कि मैंने मूढ़ता के क्षणो में नारायण रुद्रादिक तथाकथित लौकिक देवों का भी अवलोकन कर लिया; अगर उन्हे न देखता तो उनकी ओर से अरुचि कैसे होती ? वस्तुत: उनमें वह आकर्षण नहीं था कि वे मेरे लोचन मन को एकटक एकाग्र करके अपने में रोके रहते; उनको देखने मात्र से मेरा हृदय चंचल हो उठा और टिक गया केवल आपकी सौम्य शान्त मुद्रा पर ! तो इस प्रकार उनके देखने से यह लाभ ही हुआ कि आपका महत्त्व उनकी सापेक्षता में अपने आप बढ़ गया।

हे अद्वितीय सौन्दर्य सिन्धो ! आपका मूल्य इन तथाकथित द्वितीयों ने अपने आप सिद्ध कर दिया—यह इनके दर्शनों से लाभ हुआ, जब कि आपके अवलोकन से यह हानि हुई कि एक तो हमारे भवों की हानि हो गई, दूसरे

हमारे चंचल दृग और मन आप पर ऐसे एकाग्र होकर टिके कि जन्म-जन्मान्तरों तक भी अन्य देवों की ओर देखने का नाम नहीं लेते। तात्पर्य यह कि हास्य लास्य रंजित अस्त्र वस्त्र सज्जित देवों ने हमारे दृग, मन को आकर्षित करके इतना चंचल किया कि वे एक स्थान पर स्थिरता से टिक भी न सके जब कि आपकी वीतराग मुद्रा ने दृग, मन को इतना स्थिरैकाग्र किया कि दूसरे देवों को देखने का नाम भी नहीं लेते।

Assuredly great I feel, is the sight of Hari, Hara and other gods, but seeing them the heart finds satisfaction only in you. What happens on seeing You on Earth None else, even through all the future lives, shall be able to attract my mind. 21.

It is better that I have seen Hari and Har firot as by doing so my heart finds its satisfaction on seeing you, what gooci is it li Look at you first because after seeing you no olter god can captivate my heart wen in the life to come? 21.

मूल श्लोक (भूत पिशाचादि बाधा निरोधक)

स्त्रीणां शतानि शतशो जनयन्ति पुत्रान्,
नान्या सुतं त्वदुपमं जननी प्रसूता।
सर्वा दिशो दधति भानि सहस्ररश्मिं,
प्राच्येव दिग्जनयति स्फुरदंशुजालम् ॥२२॥

जिनवर जननी अन्य न माता
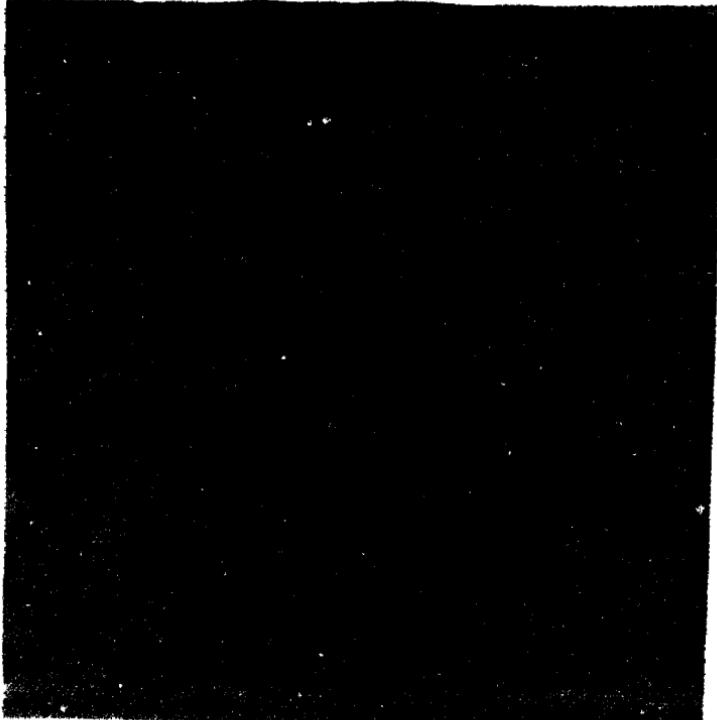
सौ सौ नारी सौ सौ सुत को, जनती रहती सौ सौ बार।
तुम से सुत को जनने वाली, नहीं धरा पर कोई नार॥
तारा गण को सर्व दिशाएँ, धरें नहीं कोई खाली।
पूर्व दिशा ही पूर्ण प्रतापी, दिनपति को जनने वाली॥२२॥

अन्वयः

(भगवन्) स्त्रीणाम् शतानि शतशः पुत्रान् जनयन्ति अन्या जननी त्वदुपमम् सुतम् न प्रसूतसर्वाः दिशः भानि दधति प्राची एव दिग् स्फुरदंशु-जालम् सहस्ररश्मि जनयति ।

शब्दार्थः

स्त्रीणाम् शतानि—स्त्रियों के सैंकड़े अर्थात् करोड़ों स्त्रियाँ ।

विशेषार्थ :—'**बहुवचनात् कोटिकोटयः**' यहाँ बहु वचन का प्रयोग होने से कोटि-कोटि अर्थात् करोड़ों की सख्या समझना चाहिए ।

शतशः—सैंकड़ों ।

विशेषार्थ :—**शतशः बहु शतानि** अर्थात् सैंकड़ों । भक्तामर स्तोत्र की कनककुशल सूरि रचित टीका में '**शतंवारान् इति शतशः**' अर्थात् सैंकड़ों बार ऐसा भी अर्थ व्यक्त किया गया है ।

पुत्रान्—पुत्रों को ।

जनयन्ति—जन्म देती है, पैदा करती है । (किन्तु फिर भी)

अन्या—दूसरी अर्थात् आपकी माता के अतिरिक्त और कोई । भगवान ऋषभदेव की माता का नाम मरुदेवी था । उसे छोड़ कर अन्य दूसरी कोई स्त्री ।

जननी—माता ।

विशेष :—जन्म देने वाली वह **जननी** अर्थात् माता ।

त्वदुपमम्—आपके समान ।

विशेषार्थ :—**त्वत्**—आपके, **उपम**—तुल्य, वही हुआ **त्वदुपम** ।

सुतम्—पुत्र को ।

न प्रसूता—नहीं जन सकी, नहीं उत्पन्न कर सकीं ।

सर्वाः—सभी ।

दिशः—दिशाएँ ।

भानि—नक्षत्रों को, ताराओं को ।

दधति—धारण करती हैं (किन्तु) ।

प्राची एव दिग्—पूर्व दिशा ही, केवल पूर्व दिशा ही ।

स्फुरदंशुजालम्—प्रकाशमान किरणों के समूह वाले ।

विशेषार्थ :—**स्फुरत्**—प्रकाशमान, ऐसी **अंशु**—किरणें । उनका **जाल**—समूह, वही हुआ **स्फुरदंशुजाल** । आगे आने वाले सहस्ररश्मि शब्द का

विशेषण होने से यह शब्द भी द्वितीयान्त एक वचन में प्रयुक्त हुआ है।

सहस्ररश्मि—सूर्य को, दिनकर को।

जनयति—जन्म देती है, उदित करती है।

भावार्थ

हे मरुदेवि-नाभि-नन्दन !

इस जगतीतल में कोटि-कोटि माताएँ हैं, जो समय-समय पर सैंकड़ों पुत्रों को जन्म दिया करती हैं। किन्तु इस लोक में आप जैसे अद्वितीय पुत्र को अवतीर्ण करने वाली अन्य माता आज तक दृष्टिगोचर ही नहीं हुई।

यह सत्य है कि दीप्तिमान किरण समूह वाले सूर्य को जन्म देने वाली तो केवल एक पूर्व दिशा ही है। शेष दिशाएँ तो टिमटिमाते नक्षत्रों को ही जन्म दिया करती हैं; फिर सूर्य से भी अधिक तेजस्वी आप जैसे अनुपमेय पुत्र को जन्म देने वाली माता भी एक ही हो सकती है। अनेक नहीं।

विवेचन

शक्ति का मापदंड बहु संख्यकता नहीं है। भले ही शक्ति का पुंज संख्या में केवल एक ही हो तो उसकी महत्ता उन शक्तिहीन बहु संख्यकों की अपेक्षा अनंत गुणी है। यहाँ पर स्तुतिकार संसार के समस्त जीवधारियों को एक कोटि में रख रहे हैं और अनन्त चतुष्टय युक्त चौंतीस अतिशय वाले विलक्षण परम पुरुष तीर्थङ्करों को दूसरी कोटि में रख रहे हैं। महापुरुष सदैव से संख्या में विरलता से ही पाये जाते रहे है। कहा भी है—

शैले शैले न माणिक्यं, मौक्तिकं न गजे गजे।
साधवो नहि सर्वत्र, चन्दनं न वने वने॥

इस प्रकार पुण्य पुरुषों की संख्या सीमित होने के प्रमाण जैन पुराणों में विशेष रूप से पाये जाते हैं। यही कारण है कि प्रत्येक कल्प काल में धर्मचक्र प्रवर्तक तीर्थङ्कर २४ ही होते है, अधिक नहीं। जबकि सामान्य जीवधारियों की कोई संख्या निश्चित नहीं है। भले ही महापुरुष संख्या में विरल रहें अथवा एक ही क्यों न रहें तो भी जितना विश्व-कल्याण उनके द्वारा होता है उतना बहु संख्यक शक्तिहीन अन्य जीवधारियों से नहीं। स्तुतिकार सम्बन्धित विषय का एक सुन्दर दृष्टान्त प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि—

आकाश में असंख्य तारे अपनी शक्ति प्रकाश बिखेरने का प्रयास करते हैं

परन्तु उनकी टिमटिमाहट संसार के अन्धकार को रंचमात्र भी दूर नहीं कर पाती क्योंकि वे स्वयं निस्तेज हैं। संख्या में अधिक होने से उनका तेज बढ़ नहीं जाता, परन्तु इसके विपरीत सूर्य संख्या में एक है तथापि उसकी लालिमा मात्र से संसार का अंधेरा दूर हो जाता है और उसके आलोक में भूमण्डल पर सर्वत्र चैतन्य बिखर पड़ता है।

स्तुतिकार आचार्यश्री कहते हैं कि धन्य हैं आप जैसे महापुरुष को जिसने कि अपनी माता की कुक्षि से जन्म लेकर न केवल भूमण्डल को कृतार्थ किया परन्तु आप जैसे लाल को पाकर माता भी धन्य हो उठी। वह माता आप से भी अधिक धन्य है जिसने आप जैसे त्रिलोकीनाथ को जन्म देकर स्वयं को ही कृतार्थ नहीं किया बल्कि तीनों लोक भी जिससे कृतकृत्य हो गये। आगमोक्त कथन है कि तीर्थङ्कर के माता-पिता नियम से अल्प संसारी होते हैं।

आज के युग में मानव समाज की सन्तानोत्पत्ति की संख्या कीड़े-मकोड़ों जैसो हो गई है तो भी उससे न तो विश्व का ही कल्याण हो रहा है और न स्वयं का। करोड़ों माताएँ करोड़ों पुत्रों को उत्पन्न करती रहती हैं परन्तु इतनी बड़ी संख्या होने पर भी उनकी शक्ति की तुलना आपके अतुल बल से नहीं की जा सकती। यही कारण है कि न तो आप जैसे पुत्र ही इस वसुन्धरा पर दिखाई देते हैं और न आप जैसे को जन्म देने वाली माताएँ ही दिखाई देती हैं।

इस छंद में परस्पर आधार आधेय सम्बन्ध द्वारा तीर्थङ्कर आदिनाथ भगवान तथा उनकी पूजनीया माता मरुदेवी का गुणगान स्तुतिकार द्वारा व्यक्त किया गया है और उनकी विलक्षणताओं द्वारा पारस्परिक धन्यता प्रकट की गई है। विलक्षणताओं से तात्पर्य यहाँ तीर्थङ्कर सम्बन्धी जन्म के दश अतिशयों से समझना चाहिए।

Though all the directions do possess stars, yet it is only the eastern direction which gives birth to the thousandrayed (sun), whose pencils of rays shine forth brilliantly. So do hundreds of mothers gives birth to hundreds of sons, but there is no othe mother who gave birth to a son like You. 22.

× × ×

Hundreds women give birth to sons by hundreds, but no woman can give birth to a son like you for all (the eight) directions may hold stars but it is the east only that can produce the sun, profusely abounding in illumining rays. 22.

मूल श्लोक (प्रेतबाधा निवारक)

त्वामामनन्ति मुनयः परमं पुमांस[1]
मादित्यवर्णममलं तमसः परस्तात् ।
त्वामेव सम्यगुपलभ्य जयन्ति मृत्युं,
नान्यः शिवः शिवपदस्य मुनीन्द्र! पन्थाः ॥२३॥

आप ही मृत्युञ्जय शिवशंकर हैं
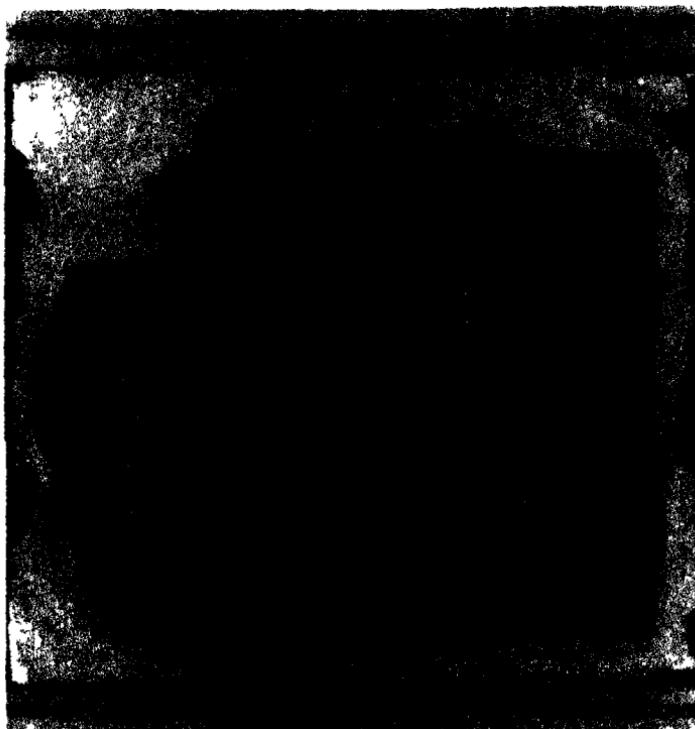
तुमको परम पुरुष मुनि मानें, विमल वर्ण रवि तमहारी ।
तुम्हें प्राप्त कर मृत्युंजय के, बन जाते जन अधिकारी ॥
तुम्हें छोड़ कर अन्य न कोई, शिवपुर पथ बतलाता है ।
किन्तु विपर्यय मार्ग बताकर, भव-भव में भटकाता है ॥२३॥

---

१ "पवित्रं" भी पाठ है ।

अन्वयः

मुनीन्द्र ! मुनयः त्वाम् आदित्यवर्णम् अमलम् तमसः परस्तात् परमम् पुमांसम् आमनन्ति त्वाम् एव सम्यक् उपलभ्य मृत्युम् जयन्ति शिवपदस्य अन्यः शिवः पन्थाः न (अस्ति) ।

शब्दार्थः

मुनीन्द्र !—हे मुनियों के नाथ ! हे मुनिनायक !

मुनयः—मुनि लोग, ज्ञानी पुरुष ।

'मुनयो ज्ञानिनः'

त्वाम्—तुमको ।

आदित्यवर्णम्—सूर्य के समान देदीप्यमान, सूर्य के समान तेजवंत ।

विशेषार्थ :—**आदित्य**—सूर्य, उसके सदृश है **वर्ण**—कांति जिसकी वही हुआ **आदित्यवर्ण** ।

अमलम्—दोष रहित, निर्मल, स्वच्छ ।

विशेषार्थ :—**मल**—दोष, उससे रहित वही हुआ अमल अर्थात् निर्मल-राग-द्वेष रहित ।

तमसः परस्तात्—तमोगुण अथवा अज्ञानान्धकार से परे ।

विशेष—**परस्तात् परतो वर्तमानम्** ।

परमम् पुमांसम्—परम पुरुष, उत्कृष्ट पुरुष, लोकोत्तर पुरुष ।

विशेष—यहाँ परम विशेषण बाह्य और अन्तरंग पुमान् की अपेक्षा से है । बाह्य पुमान् औदारिक शरीरों को कहते हैं और अन्तरंग पुमान् कर्म सहित जीव को कहते हैं । इसलिए परम पुमान् से कर्म रहित सिद्ध आत्मा ही समझना चाहिए ।

आमनन्ति—मानते हैं, कहते हैं ।

त्वाम् एव—(और) तुमको ही ।

सम्यक्—भलीभाँति, भक्तिपूर्वक, अन्तरंग की शुद्धिपूर्वक ।

उपलभ्य—प्राप्त करके ।

मृत्युम्—मरण को, मृत्यु को ।

जयन्ति—जीतते हैं ।

(यत्)—क्योंकि (अध्याहार से ग्रहीत) ।

शिवपदस्य—मोक्ष पद का, निर्वाण पद का, मुक्ति पद का ।

अन्यः—कोई दूसरा।
शिवः—प्रशस्त कल्याणकारी।
पन्थाः—मार्ग, रास्ता अथवा पथ।
नास्ति—नहीं है।

भावार्थ

साधु समूह आपको रागद्वेषरूपी मल से रहित होने से निर्मल, मिथ्या मोह को नाश करने से सूर्य के समान महान् तेजस्वी और अज्ञानान्धकार से रहित होने के कारण परमपुरुष मानते हैं। आपको पाकर मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेते हैं इसलिए वे आपको मृत्युञ्जय भी मानते हैं तथा आपको छोड़कर अन्य कोई कल्याणकारी निरुपद्रव मुक्ति का मार्ग नहीं है अतएव आपको ही मोक्ष का मार्ग मानते हैं।

विवेचन

परमात्म तत्त्व ही एकमात्र वाच्यार्थ है। विश्व के विभिन्न धर्मों में उस वाच्यार्थ का प्रतिपादन करने वाले जितने भी वाचक शब्द, नाम अथवा सम्बोधन हैं वे अपने अपने दृष्टिकोणों से पर्यायापेक्षया निरूपित किए गए हैं। परन्तु जैनधर्म का हृदय अनेकान्त एवं उदारता से परिपूर्ण होने के कारण उन सभी विशेषणों की सार्थकता उसमें समाविष्ट हो जाती है।

स्तुतिकार तत्कालीन एवं भावी प्रचलित सम्बोधनों की सार्थक व्याख्या करते हुए कहते हैं, कि—हे परमात्मन्! आपको बड़े-बड़े ज्ञानी, मनीषी, आचार्य एवं मुनिवर्य परमपुरुष मानते हैं, सो ठीक ही है क्योंकि पुरुष अर्थात् आत्मा। जिस आत्मा ने अपने परमपद को प्राप्त कर लिया है उसे ही परम पुरुष कहते हैं अर्थात् आप बाह्य और अन्तरंग पुमान् की अपेक्षा परमपुरुष हैं। बाह्य पुमान् अर्थात् औदारिकादि शरीरों और नोकर्म से रहित हैं। अन्तरंग पुमान् अर्थात् द्रव्य कर्मों से रहित हैं। इस प्रकार आप कर्म रहित एक सिद्ध परमात्मा हैं। इसलिए आपको परमपुरुष मानना युक्तियुक्त ही है। वेदों में भी परमात्मा का सम्बोधन परम पुरुष के रूप में किया गया है। स्तुति करते हुए आचार्यश्री, आदिनाथ भगवान् के प्रति दूसरे सम्बोधन का प्रयोग करते हुए कहते हैं कि—आप आदित्यवर्ण हैं अर्थात् आपकी कान्ति सूर्य के समान तेजस्विता और स्वर्णिमता को लिए हुए हैं। तभी तो आचार्यों ने आपके लिए

"सूर्य कोटि समप्रभः" विशेषण का प्रयोग किया है। यद्यपि आपके साथ सूर्य की उपमा में बिन्दु और सिन्धु का अन्तर है, तो भी अन्धकार की सदृशता के कारण सूर्य को उपमान मानना अनिवार्य है। भले ही सूर्य लौकिक अन्धकार का नाश करता हो परन्तु आप तो अज्ञान और मिथ्यात्व रूपी अन्धकार के नाश करने वाले अलौकिक मार्तण्ड हैं।]

हे जिनेश्वर देव आप अमल हैं। अमल की व्याख्या करते हुए आचार्यश्री कहते हैं कि आत्मा को मलीन करने वाली मोह-राग-द्वेष आदि कर्म कलंकों की प्रचुरता ही है। परन्तु आपने तो उस कलंक कालिमा को सर्वथा दूर करके अपने में स्वाभाविक निर्मलता प्रकट कर ली है अतएव आप निर्मल हैं, अमल हैं अथवा विमल हैं।

वैदिक ऋषियों ने परमात्मा को मृत्युञ्जय नाम से भी सम्बोधित किया है। उस सम्बोधन का वास्तविक अर्थ प्रकट करते हुए मुनि मानतुंगजी कहते हैं कि आपने जन्म, जरा और मरण का उन्मूलन कर दिया है अर्थात् निर्वाण प्राप्त करने के पश्चात् आप 'पुनरपि जन्मं पुनरपि मरणं' के भव भ्रमण से सर्वथा मुक्त हो गए हैं। अतएव आप स्वयं तो मृत्युञ्जय हैं ही परन्तु जिसके उपयोग में आपका शुद्ध स्वरूप समा गया है—ऐसे भक्त भी आपकी सम्यक् उपासना करके मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेते हैं अर्थात् भव-भ्रमण के चक्र से सदा-सदा के लिए विलग हो जाते हैं।

लौकिक जन आपको शिव-शंकर अथवा कैलाशपति के नाम से भी पुकारते हैं। इन पर्यायवाची शब्दों के वाच्यार्थ वास्तव में आप ही हैं क्योंकि शिव कल्याण को कहते हैं और पन्था: मार्ग को कहते हैं। इस प्रकार से जिसने प्रशस्त, निरुपद्रव और कल्याणकारी मार्ग का दिग्दर्शन कराया हो वह शिव नहीं तो और क्या है? वास्तव में इस मार्ग द्वारा जिस पद अथवा मंजिल की प्राप्ति होती है उस पद को शिवपद कहा जाता है और ऐसा शिवपद अर्थात् निराकुल अव्याबाध सुख का एकमात्र स्थान निर्वाण ही है जिसे आपने प्राप्त कर लिया है और आपके द्वारा प्रतिपादित पथ पर जो पथिक चलते हैं वे भी शिवपद की प्राप्ति करते हैं। इसलिए आपके अतिरिक्त अन्य कोई भी शिव नामक महादेव नहीं हो सकते।

The great sages consider You to be the Supreme Beeing, Who possesses the effulgence of the sun, is free from blemishes, and is beyond darkness. Having perfectly realized You, men even conquer death. O Sage of sages ! there is no other a auspicious path (except You) leading to Supreme Blessed-ness. 23.

× × ×

O best of the sages ! The saints look upon you as the Supreme soul, the sun for (destroying) darkness and the one free from impueities They overcome death after having duly obtained you and, hence, there is no other course of Salvation more auspicious than you. 23.

× × ×

मूल श्लोक (शिरोरोग नाशक)

त्वामव्ययं - विभुमचिन्त्य - मसंख्यमाद्यं,
ब्रह्माण - मीश्वर-मनन्त मनङ्गकेतुम् ।
योगीश्वरं विदित - योग - मनेक - मेकं,
ज्ञानस्वरूपममलं प्रवदन्ति सन्तः ॥२४॥

विविध नाम संबोधित प्रभु
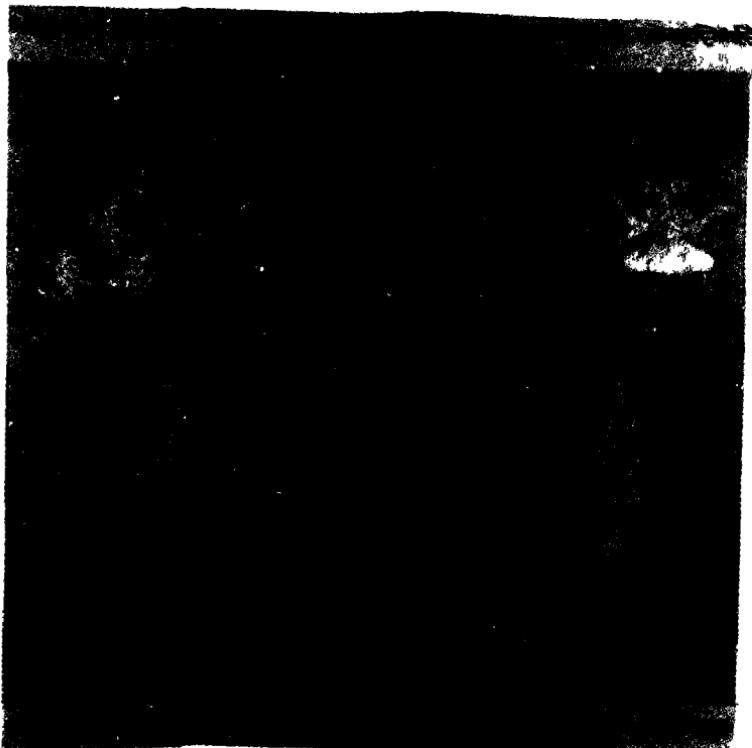
तुम्हें आद्य अक्षय, अनंत प्रभु, एकानेक तथा योगीश ।
ब्रह्मा ईश्वर या जगदीश्वर विदित योग मुनिनाथ मुनीश ॥
विमल ज्ञानमय या मकरध्वज जगन्नाथ जगपति जगदीश ।
इत्यादिक नामों कर माने सन्त निरन्तर विभो निधीश ॥२४॥

अन्वय:

(भगवन् !) सन्तः त्वाम् अव्ययम् विभुम् अचिन्त्यम् असंख्यम् आद्यम् ब्रह्माणम् ईश्वरम् अनन्तम् अनङ्गकेतुम् योगीश्वरम् विदितयोगम् अनेकम् ज्ञानस्वरूपम् अमलम् प्रवदन्ति ।

शब्दार्थ:

(भगवन् !)—(परमात्मन् !)

सन्तः—सन्त पुरुष, सत्पुरुष, सज्जन पुरुष ।

त्वाम्—आपको ।

अव्ययम्—अव्यय, अक्षय, व्यय रहित ।

विभुम्—व्यापक, उत्कृष्ट ऐश्वर्य (विभूति) से सुशोभित ।

अचिन्त्यम्—अचिन्त्य, अद्भुत, कल्पनातीत ।

असंख्यम्—असंख्य ।

आद्यम्—आदि-पुरुष, आदि तीर्थङ्कर, पंच परमेष्ठी में आदि अर्थात् अरहृत देव ।

ब्रह्माणम्—ब्रह्मा, ब्रह्म अर्थात् आत्मा उसमें ही रमण करने वाले, सकल कर्म रहित सिद्ध परमेष्ठी ।

ईश्वरम् –ईश्वर अर्थात् कृतकृत्य, समस्त देवों के स्वामी ।

अनन्तम्—अन्त रहित । अनन्त गुण युक्त, अनन्त चतुष्टय सहित ।

अनङ्गकेतुम्—कामदेव को नाश करने के लिए उससे बढ़कर केतु समान ।

योगीश्वरम्—योगीश्वर, सयोग केवली, मुनिनायक ।

विदितयोगम्—योगवेत्ता, योग विशारद ।

विशेष—योग को अच्छी तरह परखने वाला या जानने वाला ।

अनेकम्—अनेक, सहस्र नामधारी ।

एकम्—एक, अद्वितीय ।

ज्ञानस्वरूपम्—ज्ञानस्वरूप, ज्ञानमय, ज्ञानमूर्ति, केवलज्ञानी ।

अमलम्—निर्मल, कर्म-मल रहित ।

प्रवदन्ति—कहते हैं ।

भावार्थ

हे गुणार्णव !

सन्त पुरुष आपको अक्षय, अव्यय, परम वैभव सम्पन्न, वचन अगोचर,

गुणातीत, चतुर्विंशति तीर्थङ्करों में आद्य स्मरणीय, ब्रह्मा, ईश्वर, अनन्त, अनंगकेतु, योगीश्वर, योगवेत्ता अनेक, एक ज्ञानस्वरूप और अमल आदि विविध सार्थक नामों से सम्बोधित करते हैं !

विवेचन

स्तुतिकार श्री मानतुंगाचार्य द्वारा स्तोत्र रचना का प्रवाह भक्ति की प्रधानता से प्रारम्भ होता हुआ अब क्रमशः तत्त्वज्ञान की धारा की ओर उन्मुख हो रहा है। विविध तर्कों और प्रमाणों के ऊहापोह द्वारा वे षड् दर्शनों की मान्यता एवं मत मतान्तरों की एकान्तवादिता का खंडन, अनेकान्त द्वारा करते हुए श्री जिनेश्वर देव के नामों की यथार्थ व्याख्या प्रसिद्ध करते हैं।

प्रस्तुत श्लोक में उन्होंने पन्द्रह अभिधानों में ही यावत् प्रचलित दर्शन और धर्मों के वाच्यार्थ परमात्म तत्त्व को, गागर में सागर की भाँति भर दिया है। इन पन्द्रह विशेषणों की यदि विशद व्याख्या की जाए तो भगवान के १००८ नामों का समावेश भी एक-एक विशेषण में हो सकता है। यहाँ पर आचार्यश्री द्वारा वर्णित कुछ सम्बोधनों की व्याख्या न्याय दर्शन एवं प्रचलित लौकिक धर्मों की मान्यतानुसार प्रस्तुत की जा रही है। आचार्यश्री कहते हैं कि—

हे अक्षय पद विभूषित जिनेश्वर देव ! आप अपने आत्म स्वरूप से कभी भी च्युत नहीं होते। आप में व्यय, अपव्यय की क्रिया नहीं होती अर्थात् आपने आत्मा का जो विकास किया है वह जैसे का तैसा ही रहता है। द्रव्यार्थिक नय से जीव का स्वरूप शाश्वत्, नित्य, अव्यय एवं अक्षय ही है। इसीलिए आपको सन्त पुरुष **अव्यय** नाम से स्मरण करते हैं।

हे परमैश्वर्य सम्पन्न परमात्मन् ! आप समवशरण और अष्ट प्रातिहार्यादिक बाह्य विभूतियों से समृद्ध हैं तथा अनन्त चतुष्टय रूप लक्ष्मी से सुशोभित हैं। "**विभाति परमैश्वर्येण शोभत इति विभुः।** अथवा आप समस्त कर्मों के उन्मूलन करने में पूर्ण समर्थ हैं। इसलिए आप विभु नाम को सार्थक करते हैं। "**विभवति कर्मोन्मूलने समर्थो भवतीति विभुः**"।

हे विकल्पातीत ! आप बुद्धि अथवा विचारगम्यता से परे हैं। अर्थात् जब तक संकल्प-विकल्पों का जाल आत्म पटल पर रहता है तब तक आपकी उपलब्धि नहीं होती परन्तु वीतराग निर्विकल्प समाधि द्वारा आत्मानुभूति के क्षणों में ही आप अनुभव गोचर होते हैं। इसलिए आपको **अचिन्त्य** कहना सार्थक ही है।

हे अनन्तगुण सम्पन्न विभो ! गुण और काल की संख्या से आपकी गणना नहीं हो सकती। वस्तुतः आप असंख्यात् गुणों से सम्पन्न हैं अथवा आप संख्यातीत अर्थात् असंख्य हृदयों में विराजमान रहने के कारण असंख्य नाम को सार्थक करते हैं। इसीलिए सन्तों द्वारा आप असंख्य नाम से भी स्मरणीय हैं।

हे आदीश्वर देव ! आप वर्तमान कर्मभूमि के आदिम तीर्थङ्कर हैं। पंच परमेष्ठियों में आद्य अरहंत हैं; मोक्ष मार्ग के आद्य प्रणेता हैं, असि, मसि, कृषि आदि षट् कर्मों के आद्य प्रवर्त्तक हैं तथा धर्मचक्र का प्रवर्तन करने वाले तीर्थङ्करों में आप सर्वप्रथम तीर्थङ्कर है इसलिए भी मुनिवृन्द आपको आद्य नाम से स्मरण करते हैं।

हे परमब्रह्म परमेश्वर ! लौकिक ब्रह्मा के रूप में प्रचलित यथार्थ ब्रह्मा तो आप ही हैं क्योंकि यद्यपि आप सृष्टि की रचना नहीं करते तो भी कर्मभूमि की सृष्टि आपके माध्यम से ही प्रारम्भ हुई है। अस्तु आप यथार्थ ब्रह्मा हैं। ब्रह्म अर्थात् आत्मानन्द में निमग्न रहने के कारण भी सच्चे ब्रह्मा है।

बृहति अनन्तानन्देन वर्धत इति ब्रह्मा"

हे जगदीश्वर ! आप पूर्णतया कृतकृत्य है अर्थात् आपको सर्व निर्वृत्ति एवं प्रवृत्ति रूप कोई कर्म करना शेष नही रहा अत: आप कृतकृत्य है, कृतार्थ है, स्वयं सिद्ध हैं अथवा आप तीनों लोकों मे पूज्य है। ज्ञानादि अनन्त ऐश्वर्य से सम्पन्न है अतएव ईश्वर नाम का सम्बोधन आपके लिए उपयुक्त ही है।

हे अनन्त गुणमय ! आप अनन्त चतुष्टय के धारी है और आपके गुणों का अन्त नहीं है। जिस प्रकार समस्त सरिताओं का जल समुद्र में समाविष्ट रहता है उसी प्रकार आपके अनन्त गुणात्मक आत्म द्रव्य में सभी गुण-पर्यायें समाविष्ट है अथवा आप अन्त अर्थात् मृत्यु से रहित है और अनन्त बल का साहचर्य प्राप्त हो गया है, इसलिए आप ही अनन्त हैं। अनन्त नाम के योग्य हैं।

हे कामारि विजेता ! आपने कामदेव पर विजय प्राप्त कर जिन-शासन का ध्वज लोक भर में फहराया है। आप अनंग अर्थात् कामदेव का नाश करने वाले केतु के समान हैं, अथवा जैसे केतु (धूमकेतु) का उदय संसार के नाश का साधन बनता है वैसे ही आप कामदेव के नाश का कारण बने, इससे आपका अनङ्गकेतु नाम सार्थक है।

हे यतिनायक ! आप सयोग केवली अवस्था में अरहंत पद पर विराजमान हैं। योगी मुनीश्वर भी आपको त्रिकाल नमन करते हैं, आपकी सेवा करते हैं।

अथवा आप निर्वाण साधक योग की साधना करने वाले साधु पुरुषों अर्थात् योगियों के स्वामी हैं इसलिए वास्तविक योगीश्वर अर्थात् ध्यानियों के ध्येय तो आप ही हैं।

हे योगेश्वर ! आपकी आत्मा परमात्म स्वरूप से युक्त हो गई है। आपने सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के त्रियोग की सिद्धि कर ली है। अष्टाङ्ग योग को अच्छी तरह जाना है। "विवित योगं ज्ञाताष्टाङ्गयोग मार्गं" तथा आपने पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपातीत आदि ध्यान योगों का स्वरूप स्वयं जाना है और अन्य ध्यानियों को भी बतलाया है अथवा मुक्ति मार्ग में लगाने वाला जो धर्म-व्यापार है वह भी योग है। ऐसे धर्म-व्यापार को आप भलीभाँति जानते हैं और उसी को उपदेशित किया है। अत: वास्तविक योगवेत्ता आप ही हैं।

हे अनेकान्त मूर्ते ! आपने अनेकान्तात्मक वस्तु स्वरूप को यथावत् जाना व देखा है तथा तथावत् निरूपित किया है अथवा गुण और पर्याय की अनेकता की अपेक्षा से आप अनेक रूप हैं। एक हजार आठ नामों से सम्बोधित होने के कारण भी आप अनेक कहे जाते हैं।

हे एकमेव शरण्यभूत ! योगीजनों द्वारा आप एक भी कहे जाते हैं। उसका अर्थ यही है कि जीव द्रव्य की अपेक्षा आप केवल एक ही हैं। दूसरे द्रव्यों से आपका किंचिन्मात्र भी सम्बन्ध नहीं है अथवा अनन्त गुणों की अखण्डता और अभेदता ही आपकी एकता है। आप सदृश तीनों लोकों में दूसरा कोई नहीं है इसलिए भी आप एक सिद्ध होते हैं।

हे सर्वज्ञ देव ! आप केवलज्ञान स्वरूप मात्र ज्ञान चेतना ही हैं। अनन्त ज्ञान के धनी होने के कारण भी आप ज्ञानस्वरूप कहलाते हैं। यद्यपि आप निश्चय से अपने स्वरूप को ही जानते हैं तथापि पर पदार्थ आपके निर्मल ज्ञान रूपी दर्पण में झलकने के कारण आपको व्यवहार से पर का ज्ञाता भी कहते हैं। आप में विशुद्ध ज्ञान का ही परिणमन निरन्तर हो रहा है इसलिए वास्तव में आप ही एकमेव ज्ञानस्वरूप हैं।

हे विमल मूर्ते ! आप द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म रूपी मलों से सर्वथा मुक्त हैं। पर द्रव्य जनित संयोग सम्बन्धों से सर्वथा अस्पृष्ट होने से आप परम विशुद्ध है अत: आपको अमल कहना युक्तियुक्त ही है।

इस भाँति किन्हीं भी पर्यायवाची शब्दों द्वारा आपका स्मरण करें किन्तु उन सब के मूल तत्त्व में आप ही एकमात्र ध्येय है अथवा ध्यान के विषय हैं। व्यवहार से आपका ध्यान करने वाला जीव निश्चय से अपने स्वरूप का ही ध्यान करता है इसलिए जो स्वरूप आपका है वही स्वरूप भक्त का भी हो जाता है।

The righteous consider You to be immutable omnipotent, incomprehensible unumbered the first Brahma, the supreme Lord Siva, endless the enemy of Ananga (Cupid), lord of yogis, the knower of yoga, many, one, of the the nature of knowledge, and stainless. 24.

× × ×

The sages regard you as the simperishable store of superhuman qualities incomprehensible, innumerable, the first and principle Tirthankar the supreme and highes soul Lord of Gods infinite, the destroyer of cupid, the chief among yogees, conversant with yoga (mutual abstraction), many (with reference to your attributes & properties), one (as regards to sustanse), endowed wiuh Supreme knowledge, and one free from impurities. 24.

× × ×

मूल श्लोक (दृष्टिदोष निरोधक)

बुद्धस्त्वमेव विबुधार्चितबुद्धिबोधात्—
त्वं शङ्करोऽसि भुवनत्रय-शङ्करत्वात्।
धातासि धीर! शिवमार्गविधेर्विधानात्,
व्यक्तं त्वमेव भगवन्! पुरुषोत्तमोऽसि ॥२५॥

लौकिक देवों के नामों की जिनेन्द्र देव में सिद्धि

ज्ञान पूज्य है; अमर आपका, इसीलिये कहलाते बुद्ध।
भुवनत्रय के सुख-संवर्द्धक, अतः तुम्हीं शंकर हो शुद्ध ॥
मोक्ष-मार्ग के आद्य प्रवर्त्तक, अतः विधाता कहें गणेश।
तुम सम अवनी पर पुरुषोत्तम, और कौन होगा अखिलेश? ॥२५॥

अन्वयः

विबुधार्चित ! बुद्धिबोधात् त्वम् एव बुद्धः भुवनत्रयशङ्करत्वात् त्वम् शङ्करः असि धीर ! शिवमार्गविधेः विधानात् धाता असि त्वम् एव व्यक्तम् पुरुषोत्तमः असि ।

शब्दार्थः

विबुधार्चित !—देवों, गणधरों, विद्वद्वरों द्वारा पूजित् हे भगवन् ।

विशेषार्थ :—**विबुध**—देव अथवा विशिष्ट ज्ञानी गणधरादिक, उनके द्वारा **अर्चित**—पूजित, वही हुए **विबुधार्चित** । यद्यपि यह पद सम्बोधन में है तथापि अनेक व्याख्याकार **विबुधार्चित बुद्धिबोधात्** को एक ही पद मानकर उसकी व्याख्या करते हैं ।

बुद्धिबोधात्—ज्ञान के विकास से, ज्ञान के प्रकाश से ।

विशेषार्थ :—**बुद्धि**—ज्ञानशक्ति, उसका **बोध**—विकास, वही हुआ **बुद्धिबोध** । उस कारण से (पंचमी एक वचन में प्रयुक्त) ।

त्वम् एव बुद्धः—तुम ही बुद्ध ।

विशेषार्थ :—**बुद्धः**—ज्ञानी अथवा व्यक्ति विशेष बुद्धदेव ।

(**असि**)—(हो) ।

भुवनत्रयशङ्करत्वात्—तीनों लोकों के सुखकारी होने से ।

विशेषार्थ :—**भुवनानाम् त्रयं भुवनत्रयं** अर्थात् तीन भुवनों का समूह वही हुआ **भुवनत्रय**, उसका **शंकरत्व**—कल्याणकारित्व वही हुआ **भुवनत्रयशंकरत्व** अर्थात् कल्याणकारित्व वही हुआ भुवनत्रयशंकर सं० **सुखं करोतीति शङ्करः तस्य भावः शङ्करत्वं** अर्थात् कल्याणपना, उससे वही हुआ **भुवनत्रयशङ्करत्वात्** ।

त्वम् शङ्करः (असि)—तुम ही शङ्कर (हो), कल्याणकारी हो ।

धीर—हे धैर्य धारण करने वाले प्रभो !

शिवमार्ग विधेः—मोक्ष मार्ग की विधि के ।

विशेषार्थ :—**शिवस्य मार्गः शिवमार्गः** अर्थात् मुक्तिमार्ग उसकी **विधि**—उपाय अथवा धर्माचार वही हुआ **शिवमार्ग विधि** । यह पद षष्ठी के एक वचन में होने से **शिवमार्ग विधेः** ।

विधानात्—विधान करने से अर्थात् प्रतिपादन करने से (पंचमी एक वचन) ।

विशेषार्थ :—**विधान**—निर्माण, व्यवस्था, रचना, सृजन ।

धाता **असि**—विधाता हो, सृष्टिकर्ता हो, ब्रह्मा हो ।

त्वम् एव—तुम ही।

व्यक्तम्—प्रकट रूप से।

पुरुषोत्तमः—पुरुषोत्तम—नारायण, विष्णु।

असि—हो।

विशेषार्थ :—पुरुषेषु उत्तमः पुरुषोत्तमः—पुरुषों में सर्वश्रेष्ठ वही हुआ पुरुषोत्तम।

भावार्थ

हे देवाधिदेव ! वास्तव में बुद्धदेव तो आप ही हैं, क्योंकि गणधर और देवेन्द्रों ने आपके केवलज्ञान-बोधि की पूजा की है। वास्तविक शंकर तो आप ही हैं, क्योंकि तीनों लोकों के जीवों के "शं" अर्थात् सुख के करने वाले हो। आप ही उदात्त गम्भीर और धीर व्यक्तित्व से परिपूर्ण हो। आप ही सृष्टिकर्त्ता, ब्रह्मा अथवा विधाता हो क्योंकि मोक्षमार्ग (रत्नत्रय रूपविधि) का निष्पादन आपके ही द्वारा हुआ है। हे भगवान् ! आपने अपनी पर्याय में सर्वोत्कृष्ट पुरुषत्व व्यक्त कर लिया है इसलिए आप ही पुरुषोत्तम अर्थात्-विष्णु नारायण हो।

विवेचन

लौकिक देवताओं में ब्रह्मा विष्णु महेश और बुद्ध ही सबसे अधिक विख्यात हैं; परन्तु उनके उपासक जिस रूप में उनकी उपासना करते हैं उस रूप में उनमें देवत्व के एक भी लक्षण दृष्टिगोचर नहीं होते। इस श्लोक में स्तुतिकर्ता जहां पर मतों का खण्डन कर रहे हैं वहां समन्वयात्मक अनेकान्त द्वारा उपरोक्त नामों से पुकारे जाने वाले देवों की सार्थक व्याख्या करते हुए कहते हैं कि—

बौद्ध लोग जिस क्षणिकवादी बुद्धदेव को बुद्ध मानते हैं—वह वास्तविक बुद्ध नहीं हैं। वास्तविक बुद्ध तो आप हैं क्योंकि आपके केवल ज्ञानरूपी बुद्धि की पूजा देवेन्द्रों तथा गणधरों द्वारा की गई है। शैव लोग जिस शंकर की उपासना करते हैं वे तो पृथ्वी का संहार करने वाले प्रलयङ्कारी शंकर हैं। किंतु आप तो "शं" अर्थात् सुख को करने वाले हैं इसलिए शंकर शब्द के वाच्यार्थ तो केवल आप ही है। कैलाश से मोक्ष प्राप्त करने के कारण वास्तविक कैलाशपति शंकर तो आप ही हैं। देवों में प्रथम होने के कारण यथार्थ महादेव तो आप ही हैं। जिस ब्रह्मा को उनके अनुयायी भक्त सृष्टिकर्त्ता के

रूप में जानते हैं वे ब्रह्मा आप ही हैं। परन्तु वे सृष्टिकर्त्ता का अर्थ ही विपरीत समझते हैं। वस्तुत: आपने कर्मभूमि के आदि में जहां जीवन-यापन की विधि और प्रवत्ति-मार्ग का प्रतिपादन किया था वहां मोक्ष मार्ग अथवा निवृंत्ति मार्ग का भी निष्पादन किया था। इस अर्थ में तो आप सृष्टिकर्त्ता ठहरते हैं किन्तु आप किसी द्रव्य के बनाने-बिगाड़ने वाले नहीं हैं। आप तो केवल उनके ज्ञाता दृष्टा हैं। वस्तु का स्वरूप जैसा आपने देखा जाना अनुभव किया उसका वैसा ही विधान विधिपूर्वक आपके द्वारा सम्पादित हुआ है इसलिए वास्तविक सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा और विधाता आप ही ठहरते हैं, क्योंकि आप ही परब्रह्म पद में स्थित हैं।

वैष्णव लोग जिन विष्णु-नारायण-कृष्ण आदि लौकिक देवों की उपासना देवरूप में करते हैं उसके सच्चे प्रतीक तो केवल आप ही हैं क्योंकि नारायण आदिक पद तो निदान बन्ध आदि के विपाक हैं, जबकि तीर्थङ्कर नामकर्म का परम पुण्य पद तद्भव मोक्षगामी होने का एकमात्र कारण है।

हे विभो! आपने अपना सर्वोत्कृष्ट पुरुषत्व अपनी पर्याय में व्यक्त कर लिया है इसलिए यथार्थ पुरुषोत्तम तो आप ही हैं। आप ही सर्वश्रेष्ठ मानव हैं।

ब्रह्मा सृष्टिकर्त्ता, विष्णु पालनकर्त्ता और महेश संहारकर्त्ता के रूप में जाने जाते हैं परन्तु इस प्रतीकात्मक भाषा को तत्त्वज्ञान पूर्वक समझ कर तीनों बातें निम्न प्रकार से आप में ही घटित करते हैं क्योंकि हे जिनेश्वर देव! आप उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप हैं। संसार पर्याय का आपने व्यय अर्थात् नाश कर दिया है इसलिए आप संहारकर्त्ता महेश सिद्ध हुए। सिद्ध पर्याय की आपने अभिव्यक्ति (उत्पत्ति) की है, इसलिए आप ही उत्पादकर्त्ता ब्रह्म सिद्ध होते हैं। आपका जीव द्रव्य अन्वय रूप से प्रत्येक पर्यायों में वही का वही शाश्वत और धारावाह था इसलिए आप पालनकर्त्ता विष्णु भी सिद्ध होते हैं। त्रय गुणात्मक एकरूपता होने से अथवा रत्नत्रय के अधिपति होने से आप ही दत्तात्रय ठहरते हैं। इस प्रकार से स्तुतिकार ने तथाकथित देवों का खंडन करते हुए भी उनके प्रतीकात्मक अर्थों का रहस्य खोला है और उनके बहाने उनके नाम पर सच्चे वीतराग देव को ही स्मरण किया है।

As Thou possessest that knowledge which is adored by gods, Thou indeed art Buddha, as Thou dost good to all the three worlds. Thou art Shankar; as Thou prescribest the process leading to the parth of Salvation, Thou art Vidhata; and Thou, O Wise Lord, doubtless art Parushottama. 25.

You are good Budha as the other gods and leaned persons (Ganadhar) have worshipped and praised your knowledge, being the source of the prosperity of all living beings you are the only God Shiva, O resolute one ! as you laid down rules, serving as a guide to road of salvation you are the creator and what more O God ! you being the best among the persons, are the only Narain. 25.

मूल श्लोक (अर्द्ध शिर पीड़ा विनाशक)

तुभ्यं नमस्त्रिभुवनार्ति - हराय नाथ !
तुभ्यं नमः क्षितितलामलभूषणाय ।
तुभ्यं नमस्त्रिजगतः परमेश्वराय,
तुभ्यं नमो जिन ! भवोदधि-शोषणाय ॥२६॥

जिनेश्वर देव को निर्णयात्मक नमन
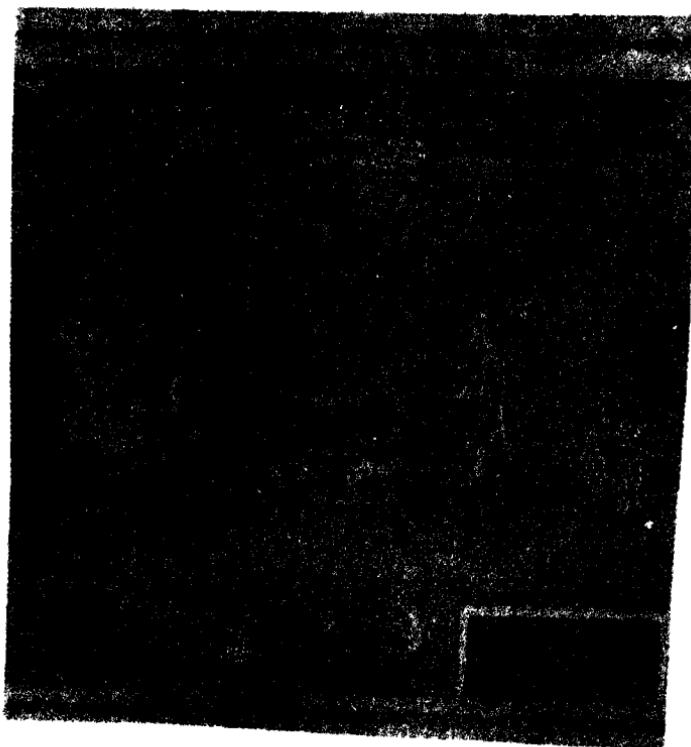
तीन लोक के दुःख हरण करने वाले हे तुम्हें नमन ।
भूमंडल के निर्मल भूषण आदि जिनेश्वर ! तुम्हें नमन
हे त्रिभुवन के अखिलेश्वर हो, तुमको बारम्बार नमन
भव-सागर के शोषक पोषक, भव्य जनों के तुम्हें नमन ॥२६॥

अन्वयः

नाथ ! त्रिभुवनार्तिहराय तुभ्यम् नमः क्षितितलामलभूषणाय तुभ्यम् नमः त्रिजगतः परमेश्वराय तुभ्यम् नमः जिन ! भवोदधिशोषणाय तुभ्यम् नमः

शब्दार्थ

नाथ !—हे नाथ।

त्रिभुवनार्तिहराय—तीनों लोकों की पीड़ा-व्यथा-वेदना-कष्ट को हरण करने वाले।

विशेषार्थ :—त्रि—तीन ऐसे भुवन—जगत का समुदाय, वही हुआ त्रिभुवन, उसकी आर्ति— पीड़ा को हर—हरण करने वाले, वही हुए त्रिभुवनार्तिहर "त्रयाणाम् भुवनानाम् समाहारः त्रिभुवनं" यह पद नमः के योग में चतुर्थी के एक वचन में आया है।

तुभ्यम्—तुम्हें-तुमको।

नमः—नमस्कार हो, (नमः-नमस्कारोऽस्तु) अव्यय पद।

क्षितितलामल भूषणाय—पृथ्वी तल के निर्मल-उज्ज्वल अलंकार रूप।

विशेषार्थ :—क्षिति—पृथ्वी, तल-रसातल (पाताल), अमल—(अमर) स्वर्गलोक वही हुआ क्षितितलामल। उनके भूषण—अलंकार (मंडन) वही हुव क्षितितलामलभूषण, यह पद भी नमः के योग में चतुर्थी के एक वचन में आया है।

तुभ्यम्—तुम्हारे लिए।

नमः—नमस्कार हो।

त्रिजगतः—तीन जगत के (षष्ठी एक वचन)।

परमेश्वराय—परम पद में स्थित अरहंत प्रभु।

विशेषार्थ :—परम—श्रेष्ठ ऐसा ईश्वर—नाथ वही हुआ परमेश्वर। यह पद भी नमः के योग में चतुर्थी के एक वचन में आया है।

तुभ्यम्—तुम्हारे लिए।

नमः—नमस्कार हो।

जिन—जिनेश्वर।

विशेषार्थ :—'जयतीति जिनः' अर्थात् जिन्होंने मिथ्यात्व मोह, राग, द्वेष इन्द्रिय आदि पर विजय प्राप्त करली है, वे ही जिन कहलाते हैं।

भवोदधिशोषणाय—भवरूपी समुद्र का शोषण करने वाले।

विशेषार्थ :—भव—संसार उसका उदधि—समुद्र वही हुआ भवोदधि—

उसका शोषण—सोखने वाले वही हुआ भवोदधि शोषण, यह पद भी नमः के योग में चतुर्थी एक वचन में आया है।

तुभ्यम्—तुम्हारे लिए।

नमः—नमस्कार हो।

भावार्थ

हे परम नमस्करणीय देवाधिदेव !

आप तीनों लोकों की पीड़ाओं, व्यथाओं, वेदनाओं, यातनाओं को हरण करने में समर्थ हैं अतएव आपके लिए बारम्बार नमस्कार है।

आप ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक तथा अधोलोक के पवित्र-पावन, मंडन-मनोज्ञ अलंकार रूप हो अतएव आपके लिए बारम्बार नमस्कार है।

आप त्रिभुवन के जगदीश्वर है, परमेश्वर हैं, प्रभु हैं अतः आपके लिए बारम्बार नमस्कार है।

आप संसार रूपी अथाह समुद्र को अपने प्रचण्ड तेज से शोख लेने में समर्थ हो अतएव आपको बारम्बार नमस्कार है।

विवेचन

आचार्य श्री मानतुंग जी अब भक्ति प्रवाह के उद्दाम वेग को रोकने में अपने को असमर्थ पाते हैं अतएव उनकी वह भक्ति धारा मन, वचन और काय के त्रिविध स्रोतों से फूट-फूट पड़ने को आतुर है। उनका द्रव्य-गुण-पर्याय और मन-वचन-काय भक्ति के क्षणो में इतना एकाग्र है कि वंदनामय भाव-नमस्कार के साथ द्रव्य-नमस्कार भी साथ ही साथ हो रहा है। श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र की त्रिवेणी के इस संगम में उन्होंने जिनेश्वर देव के प्रति नमस्कारों की वर्षा कर दी है। यद्यपि यहां मुख्य रूप से चार विशेषणों के द्वारा अरहंत भगवान के उन असाधारण गुणों का वर्णन किया गया है जो कि अन्य धर्मों में मान्य सरागी देवों मे नही पाये जाते।

प्रथम वंदना में उन्होंने जिनेश्वर देव को "त्रिभुवनार्ति हर" के नाम से सम्बोधित किया है। इसका सामान्य अर्थ यही है कि हे नाथ ! आप तीनों लोकों के कष्टों का निवारण करने वाले हैं, यहां पर प्रश्न होता है कि वे कष्ट कौन-कौन से है ? उत्तर स्वरूप—

"दैहिक, दैविक, भौतिक तापा।"

—श्री तुलसीदास जी

अथवा आधि—मानसिक पीड़ा, व्याधि शारीरिक संताप, उपाधि-कर्मजन्य वेदना और जन्म-मरण, मोह-राग-द्वेष आदि विभावों को भी सांसारिक कष्टों में ही गिनाया जाता है ?

दूसरा प्रश्न यह उठता है कि जब वीतराग देव पर के किंचित् मात्र भी कर्ता-हर्ता-धर्ता नहीं हैं तब कैसे वे पर की पीड़ाओं को हरण करने वाले सिद्ध होते हैं।

शुद्ध निश्चयनय इसका स्पष्ट उत्तर देता है कि जब वीतराग सन्मुख भक्तजीव अपने दासोऽहं और सोऽहं के सोपानों को पार करके अपने में मात्र आत्मोऽहं या सिद्धोऽहं की अनुभूति प्रकट करता है तब परमात्मा और आत्मा अभेद हो जाते हैं। उस अभेदता में स्वाभाविक आत्मशुद्धि होती है। उस आत्मशुद्धि में सांसारिक संताप, पाप और दु:खों-कष्टों-पीड़ाओं-व्यथाओं-वेदनाओं का नाम निशान नहीं रहता।

'क्षितितलामल भूषण' संबोधन द्वारा वे जिनेश्वर देव को नमस्कार करते हुए कहते हैं कि जब आप ऊर्ध्व, मध्य और अधोलोक के प्राणियों में शिरोमणि हैं अर्थात् त्रैलोक्य मंडन हैं तब अवनीतल के शृङ्गार तो स्वयमेव सिद्ध हुए। इस प्रकार आप रत्नत्रय की सुरभित माला, अनन्त चतुष्टय के मणि मुकुट, नव केवल लब्धियों के अलंकारों से सुशोभित हो रहे हैं।

आप तीनों जगत के सर्वोत्कृष्ट नाथ होने से तथा समवशरणादिक विभूतियों से संयुक्त होने से परम ऐश्वर्यवान् परमेश्वर हैं अतएव आपको भक्तिपूर्वक नमस्कार करता हूं।

हे जिनेश्वर ! आपने मोह-राग-द्वेष-कषाय और इन्द्रियादिकों पर विजय प्राप्त की है अत: आप नमस्करणीय हैं।

अन्त के चतुर्थ पद में जिन भवोदधि शोषक के रूप में भगवान की स्तुति करते हुए आचार्य श्री कहते हैं कि अगस्त्य ऋषि ने समुद्र के सम्पूर्ण जल को पी डाला था—यह एक जनश्रुति है परन्तु आपने तो उस जनश्रुति को प्रत्यक्ष करके ही दिखला दिया अर्थात् संसार रूपी समुद्र का शोषण आपने प्रतापवंत ज्ञान-मार्तण्ड-से कर लिया। हे प्रभो ! आपके लिए तो संसार नि:शेष हो ही गया परन्तु आपके भक्तों को भी यह संसार, "संसार वारिधिरयं चुलुकं प्रमाणं" हो गया। अर्थात् समुद्र चुल्लू भर पानी के समान अल्प रह गया। इस भाँति उपरोक्त विशेषणों से युक्त अरहंत देव बारम्बार नमस्कार करने के योग्य हैं।

O God Jinendra ! O Lord ! you are the destroyer of the miseries of all the three worlds, therefore I bow down to you. I offer my salute to you who is like a pure matchless ornament, you are the Lord of all the teree worlds you can dry up the ocear of the world. 26.

O Lord ! Bow to you who are the destroyei of the pains and sufferings of this threefold world; bow to you, the pure and genuine ornament on the face of the earth; bow to you the paramount lord of (this) creation and O Jina ! Bow to you, the desi of the ocean (of this worldly existence). 26.

मूल श्लोक (शत्रून्मूलक)

को विस्मयोऽत्र यदि नाम गुणैरशेषै—
स्त्वं संश्रितो निरवकाशतया मुनीश !
दोषैरुपात्त - विविधाश्रय - जात - गर्वैः
स्वप्नान्तरेऽपि न कदाचिदपीक्षितोऽसि ॥२७॥

दोषों से वंचित रहने का कारण

गुण समूह एकत्रित होकर, तुझ में यदि पा चुके प्रवेश।
क्या आश्चर्य न मिल पाये हों, अन्य आश्रय उन्हें जिनेश॥
देव कहे जाने वालों से, आश्रित होकर गर्वित दोष।
तेरी ओर न झाँक सके वे, स्वप्न मात्र में हे गुण-कोष॥२७॥

अन्वयः

मुनीश ! यदि नाम निरवकाशतया अशेषैः गुणैः संश्रितः अत्र कः विस्मयः उपात्तविविधाश्रयजातगर्वैः दोषैः कदाचित् अपि स्वप्नान्तरे अपि न ईक्षितः असि (अत्रापि को विस्मयः ?)।

शब्दार्थः

मुनीश—हे मुनीश्वर !

विशेषार्थः—मुनीनाम् ईश्वरः मुनीश्वरः (संबोधन में प्रयुक्त)

यदि नाम—हमें ऐसा लगता है कि ।

विशेषार्थ :—यदि से अङ्गीकार और **नाम** से आमन्त्रण (संबोधन) का कोमल भाव व्यक्त होता है। ये दोनों पद साथ में आने से **'अस्माभिरङ्गीकृतोऽयमर्थः'** (भक्तामर टीका) हमें ऐसा लगता है कि···यही अर्थ प्रतिध्वनित होता है।

निरवकाशतया—सघनता से—ठसाठस-अन्यत्र आश्रय न पा सकने के कारण अथवा दूसरे स्थान पर आश्रय न मिलने के कारण ।

विशेषार्थ :—निरवकाश—जिसमें अवकाश अथवा गुंजायश न हो। [निरवकाश का जो भाव] वह निरवकाशता अर्थात् अवकाश हीनता का भाव—स्थान हीनता का भाव। तात्पर्य यह कि—अन्य स्थान में आश्रय न मिलने के कारण उसकी तृतीया एक वचन सो हुआ **निरवकाशतया** ।

अशेषैः—गुणैः—समग्र गुणों से, (तृतीयान्त बहु वचन)

विशेषार्थ :—अशेष—जिसमें शेष नहीं— कुछ भी बाकी नहीं, वह **अशेष**—समग्र ऐसे **गुणैः**—गुणों से ।

त्वं संश्रितः—आप भले प्रकार आश्रय प्राप्त किये गये हो।

अत्र को विस्मयः—इसमें क्या आश्चर्य है ?

उपात्तविविधाश्रयजातगर्वैः—अनेक स्थानों पर आश्रय प्राप्त करने से जिनको गर्व (घमंड) हो रहा है ऐसे वे।

विशेषार्थः—**उपात्त**·प्राप्त-ग्रहीत किया है **विविध**—अनेक प्रकार का **आश्रय**—स्थान जिसने वही हुआ **उपात्तविविधाश्रय** उनके द्वारा **जात**—जन्म लिया है—उत्पन्न हुआ है जिनको **गर्व**—अभिमान-घमंड सो हुआ **उपात्त विविधाश्रयजातगर्व** उनसे यह पद **दोषैः** का विशेषण होने से तृतीया के बहुवचन में प्रयुक्त हुआ है।

दोषैः—दोषों से-- अवगुणों से (तृतीया बहु वचन)

कदाचित् अपि—कोई भी समय—किसी भी समय।

स्वप्नान्तरे अपि—स्वप्न प्रति स्वप्नावस्थाओं में भी। (स्वप्न के भीतर जो स्वप्न आते है उन्हें प्रति स्वप्न कहते हैं)।

न ईक्षितः असि—नहीं देखे गये हो।

(अत्रापि को विस्मयः)—(तो इसमें कौन-सा आश्चर्य है ?) अध्याहार से लिया गया।

भावार्थः

हे मुनिनाथ !

मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि भूमण्डल के सम्पूर्ण गुणों ने सघनता से तथा भले प्रकार से जो आपका आश्रय ग्रहण किया है उसका कारण यही है कि उन्हें अन्य आश्रय-स्थल ही प्राप्त नहीं हुआ। इसलिए इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं कि आप में गुण ही गुण विद्यमान है; दोष या अवगुण एक भी नहीं।

इसके विपरीत दोषो को—अवगुणों को इस बात का घमंड है—अभिमान है कि न सही एक व्यक्ति का आश्रय ! हमे तो विविध देवों के आश्रय-स्थल अनायास ही प्राप्त हैं अतएव उन दोषों ने आश्रय पाने के लिए आपकी ओर भूल कर भी, स्वप्नों में भी, कभी भी देखने की इच्छा नही की। फल स्वरूप अन्य देवों में गुण-दोष विद्यमान रहे परन्तु आप केवल गुणों के ही भडार रहे।

विवेचन

भक्तामर के सत्ताईसवें श्लोक में वीतराग अरहंत तीर्थङ्कर भगवान की निर्दोषिता एवं निर्मलता निरूपित करने के लिए तथा अनन्त गुणों का सद्भाव सिद्ध करने के लिए आचार्यश्री ने एक सुन्दर रूपक प्रस्तुत किया है :—

इस छंद में जहां भगवान के गुणों का यशोगान अथवा कीर्तन किया गया है वहां अन्य सरागी-सदोषी देवों का दोषावलोकन भी युगपत् हुआ है। इस प्रकार सच्चे और झूठे देवों के अन्तर को तुलनात्मक ढंग से सकारण प्रस्तुत किया गया है। वे कहते है कि—

हे गुण रत्नाकर ! आप मे जो ज्ञान-दर्शन-चारित्र-सुख वीर्य आदि अनन्त गुणों का सद्भाव है तथा मोह-राग-द्वेष-विषय-कषाय आदि वैभाविक दोषों का अत्यन्ताभाव है उसका एक मात्र कारण मेरी समझ में अच्छी तरह से

आ गया है। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि तीनों लोकों में जितने भी सद्गुण विद्यमान हैं वे आश्रय पाने के लिए ठौर-ठौर भटके परन्तु इस दोषी-विकारी संसार मे भला गुणों को कौन ठिकाना देता, आश्रय देता ? मिथ्यात्व से भरे हुए संसार में भला सम्यक्त्वादिक गुणों को कभी आश्रय मिला भी है ? अर्थात् नहीं। इस भांति समग्र गुणों को केवल एक ही आश्रय मिला जिसके कि स्थल मात्र आप ही थे। इसीलिए वे ठसाठस, सघन रूप से आपके आत्म प्रदेशों में एकमेक हो गए। सामान्य और विशेष गुणों ने आपकी आत्मा के साथ तादात्म्य संबंध स्थापित कर लिया। इसके विपरीत जितने भी दोष अथवा अवगुण तीनों लोकों मे विद्यमान हैं उन्हें इस बात का अभिमान है कि हमको अनेकों सरागी देव आश्रय दे रहे हैं। एक वीतराग देव ने आश्रय न दिया तो इसमें आश्चर्य क्या है ? तात्पर्य यह कि समग्र गुण अशरण होकर आपकी शरण में आये तथा समग्र दोष अनेकों ठिकाने पाकर विविध वेष-धारी, विविध नामधारी तथाकथित देवों में समा गये। यहाँ यह स्मरणीय है कि अरहंत प्रभु अठारह दोषों से रहित होते है जब कि अन्यान्य देव विविध दोषों से युक्त होते हैं।

बहुधा जीव का उपचेतन मन सुषुप्तावस्था में अपराध कर बैठता है चाहे वह कितना ही बड़ा सन्त महन्त हो परन्तु जिनेन्द्रदेव का चैतन्य इतना जागृत होता है कि वे एक भी क्षण दोषों को प्राप्त नही होते अर्थात् स्वप्न में भी दोष उनकी ओर नहीं झांकते, नही देखते।

No wonder that, after finding space nowhere, You have, O Great Sage !, been resorted to by all the excellenes; and in dreams even Thou art never looked at by blemishes, which, having obtained many resorts, have become infllated with pride 27.

× × ×

Oh ! best among the sages ! It is no strange if all of the merits have taken shelter in you in densely clustered numbers and if the faults being puffed up with pride at having obtained the patronages of other Gods, did not cast a glance even in dream. 27.

× × ×

मूल श्लोक (सर्व मनोरथ प्रपूरक)

उच्चैर - शोकतरु - संश्रित - मुन्मयूख—
माभाति रूपममलं भवतो नितान्तम् ।
स्पष्टोल्लसत्किरणमस्त - तमो - वितानं,
बिम्बं रवेरिव पयोधर पार्श्ववर्ति ॥२८॥

अशोक प्रातिहार्य
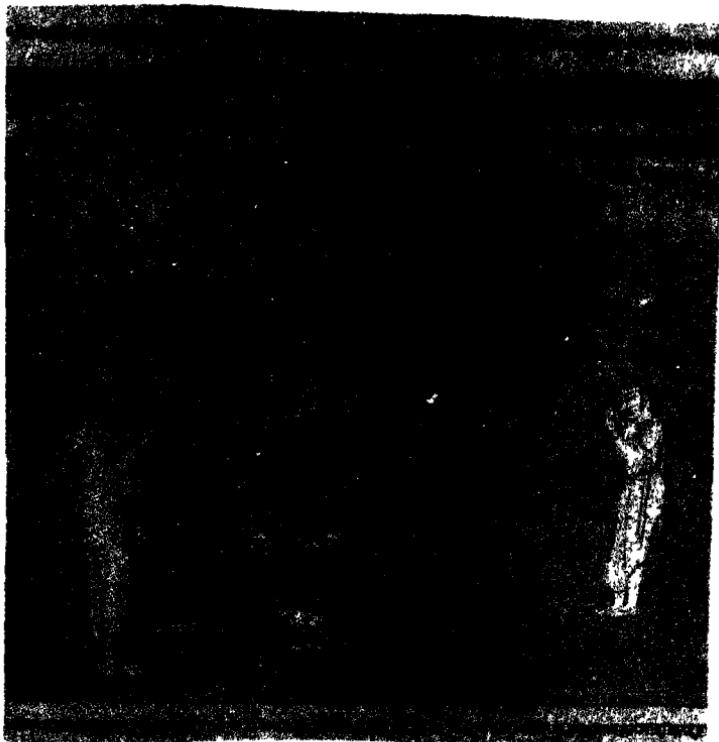
उन्नत तरु अशोक के आश्रित, निर्मल किरणोन्नत वाला ।
रूप आपका दिपता सुन्दर, तमहर मनहर छवि वाला ॥
वितरण किरण निकर तमहारक, दिनकर घन के अधिक समीप ।
नीलाचल पर्वत पर होकर, नीराजन करता ले दीप ॥२८॥

अन्वयः

उच्चैः अशोकतरुसंश्रितम् उन्मयूखम् भवतः अमलम् रूपम् स्पष्टोल्लसत्किरणम् अस्ततमोवितानम् पयोधर पार्श्ववर्ति रवेः बिम्बम् इव नितान्तम् आभाति ।

शब्दार्थः

उच्चैः—अत्युन्नत-अतिशय ऊँचे-खूब ऊँचे ।

अशोकतरुसंश्रितम्—अशोक वृक्ष के आश्रय में विराजमान-विद्यामान ।

विशेषार्थ :—न विद्यते शोको यस्मिन् पार्श्वस्थिते इत्यशोकः अर्थात् जिसके पास मे ठहरने से शोक नहीं रहता, वह अशोक है और ऐसा **तरु**—वृक्ष वही हुआ **अशोकतरु** उसमें **संश्रितम्**-आश्रय लिए हुए स्थित अर्थात् विराजमान वही हुआ **अशोकतरुसंश्रितम्** ।

उन्मयूखम्—ऊपर की ओर दैदीप्यमान किरणों को बिखेरने वाला ऐसा ।

विशेषार्थ :—(१) **उत्-उल्लसिता मयूखाः-किरणा यस्य यस्माद् वा तद् उन्मयूखं** अर्थात् उल्लसित है किरणें जिसकी अथवा जिससे । वह हुआ **उन्मयूख** (२) **उर्ध्वं मयूखाः यस्य तत् उन्मयूख** अर्थात् ऊपर की ओर हैं किरणें जिसकी वही हुआ **उन्मयूखं** ।

भवतः—आपका ।

अमलम्-रूपम्—निर्मल रूप, विमलरूप, उज्ज्वल रूप ।

विशेषार्थ :—निर्गताः मलाः यस्मात् तत् निर्मलं अर्थात् निकल गया है मल जिसमे से वही हुआ **निर्मल** अर्थात् अठारह दोषों से रहित अथवा द्रव्य कर्म और भाव कर्म कलंकों से मुक्त ऐसा ।

स्पष्टोल्लसत् किरणम्—स्पष्ट रूप से ऊपर की ओर चमकती-दमकती हुई दीप्तिमान किरणों वाला ।

विशेषार्थ :—स्पष्टाः प्रकटा उल्लसन्तः उद्गच्छन्तः किरणा यस्य यस्मात् वा तद् अर्थात् स्पष्ट रूप से ऊपर की ओर फिक रही है किरणे जिसकी या जिसमे से वही हुआ **स्पष्टोल्लसत्किरण** । यह पद बिम्ब का विशेषण होने से प्रथमा के एक वचन मे प्रयुक्त हुआ है ।

अस्ततमोवितानम्—नष्ट कर दिया है समस्त अन्धकार के जाल को जिसने ऐसे ।

विशेषार्थः—अस्त-नष्ट किया गया है जिसके द्वारा **तम**—अन्धकार उसका

वितान-जाल, समूह, मंडप वही हुआ अस्ततमोवितान। यह पद भी उपरोक्त पद का विशेषण होने से प्रथमा के एक वचन में प्रयुक्त हुआ है।

पयोधर पार्श्ववर्ति—सघन बादलों के समीप रहने वाले।

विशेषार्थ:—पयोधरतीति पयोधरः—जलधरः अर्थात् बादल तस्य पार्श्वे वर्तते इति पयोधर पार्श्ववर्ति। अर्थात् उसके पास में विद्यमान।

रवेः बिम्बम्—सूर्य का बिम्ब। (बिम्बं प्रथमा का एक वचन)।

इव—(के) समान (के) सदृश।

नितान्तम्—अत्यधिकता से।

आभाति—शोभित होता है।

भावार्थ

हे विगतशोक रूपाधिपते !

जिस भाँति सूर्य का प्रतिबिम्ब अपनी किरणों को स्पष्ट रूप से ऊपर फेंकता हुआ श्यामल सघन बादलों के बीच में शोभायमान होता है, उसी भाँति आपकी पावन दिव्य देह भी अपनी दैदीप्यमान रश्मियों को ऊपर की ओर बिखेरती हुई हरित अशोक वृक्ष के नीचे शोभा को प्राप्त हो रही है।

इस श्लोक में अशोक वृक्ष तल स्थित तीर्थङ्कर भगवंत के प्रथम प्रातिहार्य का वर्णन आलंकारिक शैली में किया गया है।

विवेचन

भक्ति में तल्लीन मुनिवर्य्य मानतुंग जी श्रीजिनेश्वरदेव के आत्मीक स्वाभाविक गुणों का वर्णन निश्चय नय से करने के पश्चात् पुन: उनके बाह्य रूप-सौन्दर्य की स्तुति अलंकारिक शैली में कर रहे हैं। इस श्लोक से प्रारंभ करके क्रमश: आठ श्लोकों में तीर्थङ्कर संबंधी अष्ट प्रातिहार्यों का वर्णन किया जाएगा।

प्रातिहार्य किसे कहते हैं ? इन्द्र प्रतिहार जिनका निर्माता है। अथवा विशेष महिमा-बोधक चिह्न को प्रातिहार्य कहते हैं। अर्हंत के समवशरण में ऐसे महिमा बोधक चिह्न आठ होते हैं। समवशरण की रचना के साथ एक पार्थिव उत्तुंग-उन्नत-ललाम-श्यामल-हरित एव पीत वर्ण वाले देवोपनीत अशोक वृक्ष का निर्माण भी किया जाता है। जिसके तल भाग मे स्थित मणि-मय सिंहासन पर श्री जिनेन्द्रदेव शोभासीन होते है। इस वृक्ष का नाम अशोक क्यों पड़ा ? क्या यह कोई वृक्ष विशेष का नाम है ? उत्तर स्वरूप कहा जा

सकता है कि जिसके समीप स्थित होने से शोक-संताप दूर हो जाता है उसे ही अशोक वृक्ष कहते हैं। यहां प्रश्न यह उठता है कि शोक संताप को दूर करने का श्रेय तो इस भांति एक पार्थिव जड़ वस्तु को मिल गया ; परन्तु यह बात नहीं। क्योंकि जिस वृक्ष के नीचे स्वयं त्रिलोकीनाथ अर्हंत देव विराजमान हों वह वृक्ष तो क्या परन्तु समस्त पार्श्ववर्ती जीव भी शोक रहित हो जाते हैं। जब मुनियों की उपस्थिति मे उद्यान के शुष्क लता-कुंज हरे-भरे होकर बे-मौसम भी फलों से लद जाते है, तब त्रैलोक्यनाथ तीर्थंकर अरहंत देव के सानिध्य से वृक्षादिक स्थावर भी यदि शोक संताप दूर करने में समर्थ हो जावें तो इसमे आश्चर्य की कोई बात नहीं।

यह उन्नत अशोक वृक्ष तीर्थङ्कर-विशेषों की अवगाहना के अनुपात से बारह गुणा ऊँचा होता है। इसीलिए आचार्य ने श्लोक में उच्चैः शब्द का प्रयोग किया है।

समवशरण (प्रवचन सभा) में अशोक वृक्ष के तले विराजमान अलौकिक श्री-शोभा सम्पन्न जिनेश्वरदेव अपने स्वर्णिम शरीर से, दैदीप्यमान किरणों को ऊपर की ओर बिखेरते हुए किस प्रकार शोभायमान हैं ? उसके रूपक की उत्प्रेक्षा करते हुए आचार्यश्री कहते है कि जिस प्रकार से सघन मेघ मण्डल के मध्य अन्धकार को नष्ट करने वाला सहस्र रश्मियों से चमकता हुआ सूर्य का बिम्ब शोभायमान होता है उसी प्रकार से आपकी दिव्य देह भी कीर्तिरश्मियों को ऊपर की ओर फेंकती हुई, अशोक वृक्ष के पार्श्व मे शोभित हो रही है।

यहाँ मेघ मंडल की उपमा अशोक वृक्ष से तथा अरहंतप्रभु की उपमा तेजस्वी मार्तण्ड से की गई है।

Thy shining form, the rays of which go upwards, and which is really very much lustrous and dispels the expanse of darkness, looks excellently beautiful under the Ashoka-tree the orb of the sun by the side of clouds. 28.

× × ×

While sitting under the tall Ashoka tree, your white body giving out rays of light, appears like the rise of the sun which, being in close proximity of the clouds and despeling the great expance of dark, shines with brilliant rays of immense radiance. 28.

× × ×

मूलश्लोक (नेत्रपीड़ा विनाशक)

सिंहासने मणिमयूखशिखाविचित्रे,
विभ्राजते तव वपुः कनकावदातम्।
बिम्बं वियद् - विलसदंशुलतावितानं,
तुङ्गोदयाद्रिशिरसीव सहस्ररश्मेः ॥२९॥

सिंहासन-प्रातिहार्य
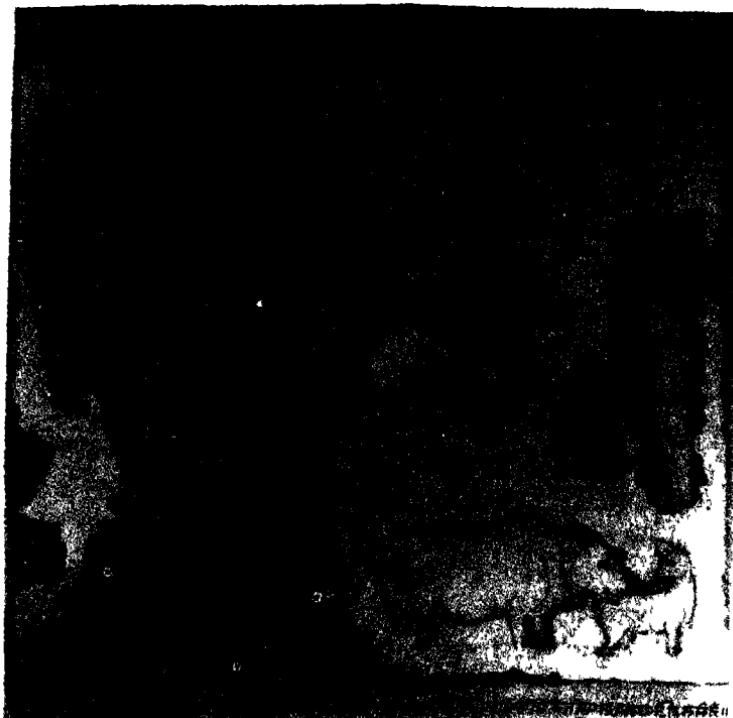
मणि-मुक्ता किरणों से चित्रित, अद्भुत शोभित सिंहासन।
कान्तिमान् कंचन-सा दिखता, जिस पर तव कमनीय वदन ॥
उदयाचल के तुङ्ग शिखर मे, मानों सहस्र रश्मि वाला।
किरण-जाल फैला कर निकला, हो करने को उजियाला ॥२९॥

अन्वय:

मणिमयूखशिखाविचित्रे सिंहासने कनकावदातम् तव वपुः तुङ्गोदयाद्रि-शिरसि वियद्विलसदंशुलतावितानम् सहस्ररश्मेः बिम्बम् इव विभ्राजते।

शब्दार्थः

मणिमयूखशिखाविचित्रे—मणियों की किरणों के अग्रभाग से विविध रंग वाले—चित्र विचित्र।

विशेषार्थ :—**मणि**—रत्न, उनकी **मयूख**—किरण, उसकी **शिखा**—उसका अग्रभाग, उससे **विचित्र**—चित्र विचित्र-विविध रंग का, वही हुआ **मणिमयूखशिखा-विचित्र**। यह पद सिंहासने का विशेषण होने से सप्तमी के एक वचन मे आया है।

सिंहासने—सिंह पीठासन पर—सिंहासन पर।

कनकावदातम्—स्वर्ण जैसा सुन्दर—सोने के समान मनोज्ञ—अथवा सोने के समान स्वच्छ और धवल-हेम गौर।

विशेषार्थ :—**कनक**—स्वर्ण, उसके समान **अवदात**—सुन्दर, मनोज्ञ, मनभावन वह हुआ **कनकावदात**। यह पद वपु: का विशेषण होने से प्रथमा के एकवचन में आया है।

तव वपुः—तुम्हारा शरीर—आपकी दिव्य देह।

तुङ्गोदयाद्रिशिरसि—उन्नत उदयाचल के शिखर पर।

विशेषार्थ—**तुङ्ग**—उन्नत-उच्च, ऐसा **उदयाद्रि**—उदयाचल उसका **शिरस्**-शिखर, वह [illegible] **तुङ्गोदयाद्रिशिरस्**—यह पद सप्तमी के एक वचन मे है।

वियद्विलसदंशुलतावितानम्—जिसकी किरणों का बल्लरि-विस्तार आकाश मे शोभायमान हो रहा है- ऐसे

विशेषार्थ :—**वियत्**—आकाश, उसमे **विलसत्**—शोभायमान हो रहा है, जिसके **अंशु**-किरणो का **लता वितान**—बल्लरि विस्तार वही हुआ **वियद्विलस-दंशुलतावितान**।

सहस्ररश्मे—सूर्य के-दिनकर के।

बिम्बम् इव—बिम्ब के समान-मडल के समान।

विभ्राजते—सुशोभित हो रहा है—अतिशय शोभित होता है।

भावार्थ

हे सिंहपीठ-आसीन-प्रभो !

नभ-चुम्बी उदयाचल पर्वत की चोटी पर ऊगता हुआ सूर्य अपनी हजार-

हजार किरण रूपी लताओं का मंडप-चंदोवा बनाता हुआ जिस प्रकार अत्यन्त शोभायमान होता है उसी प्रकार आपकी कंचन-काया भी उस रत्नजटित सिंहासन पर अत्यधिक शालीनता से दीप्तिवन्त हो रही है जो जड़े हुए मणियों की किरणों के अग्रभाग से विविध रंगों से चित्र-विचित्र है।

इस श्लोक में दूसरे सिंहासन नाम के प्रातिहार्य का वर्णन है।

विवेचन

मुनिवर्य मानतुंग जी के भाव-पटल पर मानो चतुर्थ कालीन समवशरण का साक्षात् दृश्य प्रतिबिम्बित हो रहा है। तभी तो वे भाव-विभोर होकर कहीं तो अरहंतदेव के अलौकिक गुण-सौन्दर्य का यशोगान करते हैं और कहीं उनके अनुपम रूप-सौन्दर्य का विविध लौकिक उपमानों के माध्यम से। वे उनकी अलौलिकता का माप करने का प्रयास अलंकारिक काव्यशैली में कर रहे हैं।

समवशरण में अन्तरीक्ष कमलासन पर विराजमान तीर्थङ्कर देव अष्ट प्रातिहार्यों से युक्त होते हैं। अन्तश्चक्षुओं द्वारा देखे गए उसी मनभावन दृश्य को स्तुतिकार वाणी के माध्यम से व्यक्त करते हुए कहते हैं कि हे आदीश्वर देव ! आपकी स्वर्णिम कंचन काया उस दिव्य सिंहासन पर कितनी दैदीप्यमान हो रही है जो जड़े हुए मणि मुक्ताओं की चमचमाती किरणों से दमक रहा है।

इसी विषय को एक सुन्दर उत्प्रेक्षा रूपक द्वारा और भी अधिक स्पष्ट करते हुए आचार्यश्री कहते हैं कि मानो गगनचुम्बी उदयाचल पर्वत पर हजार-हजार किरणों वाले प्रभाकर के तेजस्वी बिम्ब का उदय हो रहा हो। अर्थात्-यदि सिंहासन उदयाचल पर्वत है तो आप की दिव्य-देह तेजस्वी मार्तण्ड।

सिंहासन का वास्तविक अर्थ उत्कृष्ट आसन है। सिंहाकृति से युक्त अथवा सिंह वाहन वाले आसन से यहां कोई तात्पर्य नहीं है। वस्तुतः अरहंतदेव धर्म-सभा की गंधकुटी में उत्कृष्ट पुष्पासन पर विराजमान होते हुए भी उससे अन्तरीक्ष (निर्लिप्त) रहते हैं। यद्यपि निश्चय से तो वे अपनी आत्मा के परमपद में ही प्रतिष्ठित हैं अतः परमेष्ठी अरहंत कहलाते हैं तथापि व्यवहार से उनकी परम-पद-प्रतिष्ठा का संकेत बाह्य विभूतियों से मिलता है। जिसका एक प्रतीक सिंहासन भी है। तो क्या रत्नजटित चित्र-विचित्र सिंहासन पर आसीन होने से ही आप इतने शोभाशाली दिख रहे हैं ? नहीं; प्रत्युत वह दैदीप्यमान सिंहासन ही आपकी कंचन काया के विराजमान होने से और भी

अधिक दीप्तिवत हो गया है। अर्थात् हे जिनेन्द्रदेव ! उत्कृष्ट आसन पर विराजमान होने से आपकी शोभा नहीं प्रत्युत आपको पाकर सिंहासन भी उत्कृष्ट आसन बन गया है। आप के परम पद पर प्रतिष्ठित होने से ही हे परमेष्ठिन् ! सिंहासन को भी प्रतिष्ठा प्राप्त हो गई है।

Thy *gold-lustred* **body shines verily on the throne like the disc of the sun on the summit which is varigated with the mass of germs, of the high Rising mountain, the rays of which (disc), spreading in the firmament like a creeper, -look (exceedingly) graceful. 29.**

× × ×

The gold-like brilliant body of yours, while seated on the throne, diversified by the gleaming rays of jewels, resemble the sun-whose conopy-like radient rays in the sky shine on the high peak of the estern mountain. 29

× × ×

मूल-श्लोक (शत्रु-स्तम्भक)

कुन्दावदात - चलचामर - चारु - शोभं,
विभ्राजते तव वपुः कलधौतकान्तम्।
उद्यच्छशाङ्क - शुचिनिर्झर - वारिधार—
मुच्चैस्तटं सुरगिरेरिव शातकौम्भम् ॥३०॥

चँवर-प्रातिहार्य

श्री ऋषभदेव जी के [illegible]

ढुरते सुन्दर चँवर विमल अति, नवल कुंद के पुष्प समान।
शोभा पाती देह आपकी, रौप्य धवल सी आभावान॥
कनकाचल के तुङ्ग शृंग से, झर झर झरता है निर्झर।
चन्द्र-प्रभा सम उछल रही हो, मानों उसके ही तट पर॥३०॥

अन्वयः

कुन्दावदातचलचामरचारुशोभम्—कुन्द नामक सुमन के समान अत्यन्त धवल-ढुरते हुए चांवरों के कारण वृद्धिगत हुई है सुन्दर-मन भावन शोभा जिसकी—ऐसा।

विशेषार्थ—**कुन्द**—मचकुन्द पुष्प या मोगरा, उसके समान **अवदात**—नितान्त धवल-उज्ज्वल, और **चल**—चलायमान-ढुरते हुए (व्यजन सदृश) ऐसे **चामर**—चँवर, उससे **चारु**—सुन्दर, ऐसा **शोभ**—शोभा वाला वही हुआ **कुन्दावदातचल चामरचारुशोभ** (प्रथमान्त एक वचन)

कलधौतकान्तम्—स्वर्ण के समान कान्ति वाला।

विशेषार्थः—**कलधौत**—स्वर्ण, उसके समान **कान्त**—कान्ति वाला वही हुआ **कलधौतकान्त** (प्रथमान्त एक वचन)

तव वपुः—आपका शरीर।

उद्यच्छशाङ्कशुचिनिर्झरवारिधारम्—उदीयमान चन्द्रमा के समान धवल-उज्वल-श्वेत-शुभ्र जलप्रपात की धारा जहां गिर रही है ऐसे।

विशेषार्थ—**उद्यत**—उदय होता हुआ **शशाङ्क**—चन्द्रमा उसके समान **शुचि**—शुभ्र-श्वेत, ऐसा **निर्झर**—झरना अथवा जलप्रपात का **वारि**-जल उसकी धार-धारा के समान वही हुआ **उद्यच्छशाङ्कशुचिनिर्झरवारिधार**

सुरगिरेः- सुमेरु पर्वत के।

शातकौम्भम्—स्वर्णमयी-स्वर्णिम्।

विशेषार्थः—**शात कुम्भ**—स्वर्ण, उससे हुआ है निर्माण जिसका वही हुआ **शातकौम्भ**···।

उच्चैस्तटम्—उन्नत तटों के समान।

विभ्राजते—शोभा देता है।

भावार्थ

हे शुभ्रकान्त चामराधिपते!

समवशरण में यक्षेन्द्रों द्वारा जब एक साथ चौसठ चँवर व्यजन के समान आपके ऊपर आजू-बाजू में ढोरे जाते है तब उनकी श्वेत-शुभ्र-धवल-उज्ज्वल कान्ति से आपके सौम्य-सुन्दर शरीर की शोभा और भी अधिक बढ़ जाती है। स्वर्णिम् कान्तिवाली आपकी दिव्यदेह, उन कुंद पुष्प के समान धवल और चलायमान-ढुरते हुए—ऊपर उठते और नीचे गिरते हुए, चँवरों के बीच में वैसी ही सुन्दर प्रतीत होती है जैसे कि कनकाचल (सुमेरु) पर्वत के उन्नत

तट पर गिरता हुआ जल-प्रपात ! उस जल-प्रपात की धवल-धारा उदीयमान चन्द्रमा की कान्ति के ही समान शुभ्र है ।

इस रूपक अलंकार में स्वर्णिम सुमेरु सदृश तो तीर्थङ्कर प्रभु की दिव्य देह है और जलप्रपात के प्रतीक स्वरूप दोलायमान शुभ्र चँवर हैं ।

विवेचन

निश्चय से एक तो तीर्थङ्कर प्रभु जन्मजात ही अतुल बल एव सौन्दर्य के धनी होते है । फिर तप और उत्कृष्ट ध्यान के फल स्वरूप उनकी हेमाभ देह तप्त स्वर्ण के सदृश अत्यन्त कान्तिमान् होकर दमकती है । वे तपोपुंज प्रभु कैवल्यज्ञान से मंडित होने के कारण समवशरण (धर्म-सभा) मे अत्यधिक सुन्दर प्रतीत हो रहे है । अशोक वृक्ष के तले सिंहासनस्थ श्री जिनेन्द्रदेव के ऊपर दोनों बाजुओं से यक्षगण प्रतिहारी बनकर चौसठ चँवर ऊपर नीचे निरन्तर ढुरा रहे है । जैसे कि एक सामान्य नृपति के सेवक लौकिक व्यंजनों से उनकी सेवा करते है । उन चँवरो का वर्ण (रग) मचकुन्द-मोगरा पुष्प के समान अत्यन्त धवल और शुभ्र है ।

भक्त हृदय के भाव-पटल पर समवशरण का अद्वितीय अलौकिक सुहावना दृश्य चित्रित है । उस अनुपम सौन्दर्य की उपमा वे प्रकृति में बिखरे हुए नैसर्गिक सुन्दरता से कर रहे हैं—

जब एक उन्नत उत्तुंग पर्वत से गिरती हुई जल-प्रपात की दुग्ध धवल धारा चन्द्र-ज्योत्स्ना सी सुन्दर प्रतीत होती है और उसका प्राकृतिक सौन्दर्य शुष्क हृदय को भी रस प्लावित कर देता है तब स्वर्णिम सुमेरु पर्वत से निर्गत निर्झर वस्तुत: कितना रमणीय और नयनाभिराम प्रतीत नहीं होता होगा ?

जब नैसर्गिक-प्राकृतिक सौन्दर्य मन को इतना मोहित करने वाला होता है तब आध्यात्मिक सौन्दर्य के एकाधिपति की परमौदारिक दिव्यदेह जो कि स्वर्णिम सुमेरु पर्वत के समान अचल और दैदीप्यमान है और जिस पर जल-प्रपात के समान चौंसठ चमर निरन्तर ऊपर नीचे ढोरे जा रहे है उसकी शोभा का तो फिर् कहना ही क्या है ?

निरन्तर ऊँचे-नीचे ढुरते हुए चँवर मानो विश्व को यह बतला रहे हैं कि जो भगवान के पावन चरणों मे आकर गिरेंगे वे नियम से ऊपर उठेंगे ही अर्थात् उनका उद्धार अवश्यभावी है ।

Thy gold-lustred body, to which grace has been imparted by the waving chawries which is as white as the Kunda-flower, shines like the high golden baow of Sumeru-mountain, on which do fall the strems of rivers which are bright with (like) the rising moon. 30.

× × ×

Your body, shinning as bright as gold & being greatly beautified by the waving of white chowrees, looks like the lofty peak of golden Sumeru Mountain where the stream of water, as white and clear as the rising moon, flows down in great torrents. 30.

× × ×

मूल श्लोक (राज्य सम्मान दायक)

छत्रत्रयं तव विभाति शशाङ्ककान्त—
मुच्चैः स्थितं स्थगितभानुकरप्रतापम्[1]।
मुक्ताफल - प्रकर - जाल - विवृद्ध-शोभं,
प्रख्यापयत् त्रिजगतः परमेश्वरत्वम् ॥३१॥

छत्रत्रय-प्रातिहार्य

चन्द्र-प्रभा सम झल्लरियों से, मणि-मुक्ता मय अति कमनीय।
दीप्तिमान् शोभित होते हैं, सिर पर छत्रत्रय भवदीय॥
ऊपर रह कर सूर्य-रश्मि का, रोक रहे हैं प्रखर-प्रताप।
मानों वे घोषित करते हैं, त्रिभुवन के परमेश्वर आप॥३१॥

---

१. "प्रभावम्" भी पाठ है।

अन्वय:

शशाङ्ककान्तम् मुक्ताफलप्रकरजालविवृद्धशोभम् तव उच्चैः स्थितम् स्थगितभानुकरप्रतापम् छत्रत्रयम् त्रिजगतः परमेश्वरत्वम् प्रख्यापयत् विभाति ।

शब्दार्थ:

शशाङ्ककान्तम् —चन्द्रमा के समान सौम्य-सुन्दर-उज्ज्वल ।

मुक्ताफलप्रकरजालविवृद्धशोभम्—मणि मुक्ताओं के समूह की झालरों से बढ़ गई है शोभा जिसकी ऐसा.

विशेषार्थ :—मुक्ताफल—मोती, उसका **प्रकर**—समूह, उसका **जाल**—विशिष्ट रचना अर्थात् झालर, उसके द्वारा **विवृद्ध**-- प्रवर्द्धमान, **शोभम्**—शोभा जिसकी ऐसा वह, वही हुआ **मुक्ताफलप्रकरजालविवृद्धशोभ ।**

तव उच्चैः स्थितम्—आपके शीर्ष पर स्थित—लगे हुए—ठहरे हुए—लटके हुए ।

विशेषार्थ :—तव—आपके, **उच्चैः**—ऊपर, **स्थितम्**— निविष्ट अर्थात् ठहरे हुए, वही हुआ **तव उच्चैः स्थित ।**

स्थगितभानुकरप्रतापम्—रोक दिया है सूर्य की किरणों का आतप (प्रभाव) जिन्होंने ऐसे...

विशेषार्थ : स्थगित -निवारित—**अच्छादित** अथवा रोक दिया है, **भानुकर**- सूर्य की किरणों का, **प्रतापम्** आतप—प्रभाव - तेज जिन्होने··· वही हुआ **स्थगितभानुकरप्रताप ।**

उपरोक्त चारों पद छत्रत्रय के विशेषण होने से प्रथमा के एक वचन मे प्रयुक्त हुए हैं ।

छत्रत्रयम्—(एक के ऊपर एक क्रमश:) तीन छत्र ।

विशेषार्थ :—छत्राणाम् त्रयम् छत्रत्रयम् अर्थात् तीन छत्रों का समूह (एक के ऊपर एक क्रमश: चढ़ा उतार वाले) ।

त्रिजगतः तीनों लोकों के ।

परमेश्वरत्वम्- परमेश्वरपने को-- प्रभुता को ।

प्रख्यापयत्--प्रख्यात करता हुआ, प्रकट करता हुआ प्रसिद्ध करता हुआ ।

विभाति - शोभा देता है -शोभायमान हो रहा है ।

भावार्थ

हे छत्रत्रयाधिपते !

आपके शीर्ष पर तीन छत्र क्रमश. एक के ऊपर एक, छोटे-बड़े लटके हुए शोभा दे रहे है। इनकी कान्ति चन्द्रमा के समान सुन्दर है। छत्रत्रयों के चारो ओर जो मणिमुक्तामय झालरे बुनी हुई है उनसे उनकी शोभा और भी अधिक बढ़ गई है। वे तीनो छत्र सूर्य की प्रखर किरणो से उत्पन्न आतप को रोकते हुए मानो इस तथ्य की प्रसिद्धि कर रहे है कि आप तीनो लोकों के परमेश्वर (छत्रपति सम्राट् प्रभु) हैं।

इस श्लोक मे चौथे छत्र प्रतिहार्य का वर्णन है।

विवेचन

लोक मे सामान्य सम्राट् की प्रभुता को बतलाने के लिए प्राय: छत्र का उपयोग किया जाता है। यद्यपि छत्र धूप अथवा वर्षा को रोकने के लिए उनके शीर्ष पर नहीं लगाये जाते तथापि उनके द्वारा सम्राट् अथवा छत्रपतियों का वैभव या ऐश्वर्य अवश्य ही प्रकट होता है।

अष्ट प्रातिहार्यो मे छत्रत्रय का स्थान शास्त्रो मे चौथा निरूपित किया गया है। समवशरण मे विराजमान अरहतदेव के शीर्ष के ऊपर मणिमुक्ताओं की झालरो से जडे हुए क्रमश एक के ऊपर एक, ऐसे तीन छत्र शोभायमान होते है जो चन्द्रमा की शुभ्र ज्योत्स्ना से भी अधिक सुन्दर एव शीतल है तथा जिन्होने मार्तण्ड के प्रखर तेज को भी अपनी कान्ति से रोक रखा है। यहाँ पर स्तुतिकार इन तीन छत्रो की अलकारिक उत्प्रेक्षा करते हुए कहते है कि हे जिनेश्वरदेव ! आपके ऊपर जो तीन छत्र स्थित है वे यह सूचित करते हैं कि आप उर्ध्वलोक, मध्यलोक और अधोलोक के एकच्छत्र सम्राट् है। यहाँ लौकिक ऐश्वर्य से सम्पन्न सामान्य चक्रवर्तियो, सम्राटो तथा इन्द्रादिको से भी अधिक समवशरण स्थित तीर्थङ्करो का बाह्य वैभव निरूपित किया गया है। वस्तुत: नव केवल लब्धियो से युक्त उनका बाह्य-वैभव भी उनकी आन्तरिक रत्नत्रय विभूति की पूर्णता का ही प्रतिफल है।

The three umbrellas charming like the moon, which are held high above Thee, and the beauty of which has been enhanced by the net-work of pearls and which obstructs the heat of the sun's rays, looks very beautiful. proclaiming, as it were. Thy supreme lordship over all the three worlds. 31.

Your moonlike silvery three-fold umbrellas which being raised high and greatly beautified by a great number of pearls, heeps off heat of the sunrays Is like an indicative evidence of your paramount supremacy ovar three worlds. 31

× . .

मूल श्लोक (संग्रहणी-संहारक)

गम्भीरतार - रवपूरित - दिग्विभाग—
स्त्रैलोक्यलोक - शुभसङ्गम[1] - भूतिदक्षः।
सद्धर्मराजजय - घोषण - घोषकः सन्,
खे दुन्दुभिर्ध्वनति[2] ते यशसः प्रवादी[3] ॥३२॥

दुन्दुभि-वाद्य प्रातिहार्य
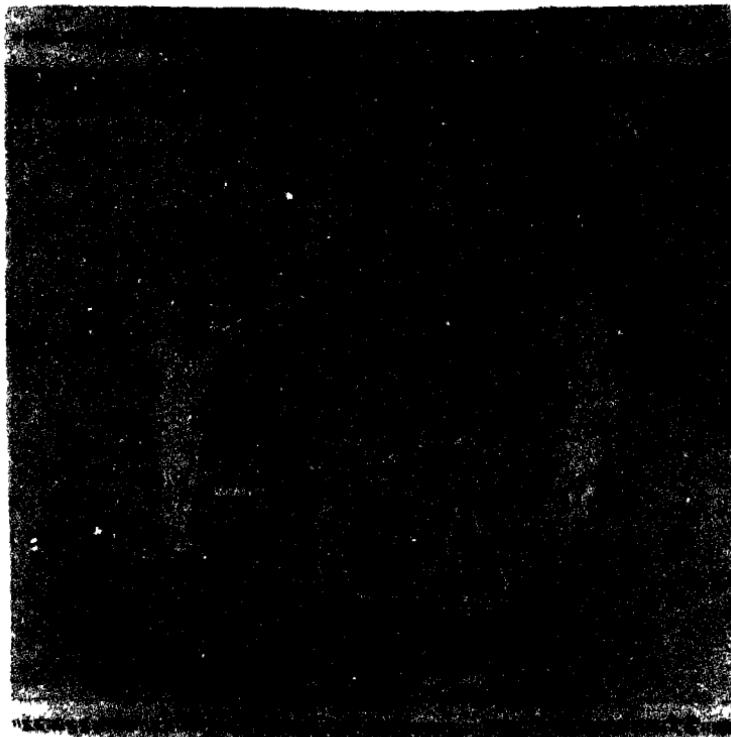
ऊंचे स्वर से करने वाली, सर्व दिशाओं में गुंजन।
करने वाली तीन लोक के, जन-जन का शुभ-सम्मेलन।
पीट रही है डंका "हो-सत् धर्म राज की ही जय-जय।"
इस प्रकार बज रही गगन में, भेरी तव यश की अक्षय ॥३२॥

---

१. 'सुख'-भी पाठ है। २. 'ध्वजति' भी पाठ है, जिसका अर्थ "बजता है" ऐसा होता है। ३. "प्रबन्दी" भी पाठ है, जिसका अर्थ "बन्दिजन" होता है।

अन्वयः

गम्भीरताररवपूरितदिग्विभागः त्रैलोक्यलोकशुभसङ्गमभूतिदक्षः सद्धर्मराजजयघोषणघोषकः दुन्दुभिः ते यशसः प्रवादी सन् खे ध्वनति ।

शब्दार्थ :

गम्भीरताररवपूरितदिग्विभागः— गहन-गम्भीर-धीरोदात्त— मधुर ध्वनि से गुंजायमान कर दिया है दिग्मण्डल जिसने, ऐसा...

विशेषार्थ :—गम्भीर—गूढ़-गहन-गम्भीर, ऐसी **तार-रव**—धीरोदात्त मधुर ध्वनि (ऊँचे स्वर से स्पष्ट विशद उच्चारण करने वाली आवाज़) उससे **पूरित**—गुंजित पूर्णतया, गुंजायमान ऐसा **दिग्विभाग**— दिग्मण्डल, वही हुआ **गम्भीरताररवपूरितदिग्विभाग ।**

त्रैलोक्यलोकशुभसङ्गमभूतिदक्षः— तीनों लोकों के प्राणियों को सत्समागम (शुभ-सम्मेलन) का वैभव प्राप्त कराने में समर्थ, ऐसा...

विशेषार्थ :— **त्रैलोक्य**—त्रिभुवन-तीन, लोक-उसके, **लोक** - प्राणियों-निवासियों के, **शुभसङ्गम** —सत्समागम की **भूति**—विभूति-वैभव-ऐश्वर्य लुटाने में, **दक्षः** —समर्थ-प्रवीण, ऐसा...वही हुआ **त्रैलोक्यलोकशुभसङ्गमभूतिदक्ष ।**

सद्धर्मराजजयघोषणघोषकः सन्—समीचीन जैनधर्म एवं उसके प्रणेता तीर्थङ्कर देवों का जय-जयकार की उद्घोषणा को प्रकट करता हुआ ।

विशेषार्थ :—सद्धर्म—समीचीन धर्मतीर्थ, उसके, **राज**—अधिपति (प्रणेता) अर्थात् तीर्थङ्कर वही हुआ **सद्धर्मराज**-उसकी **जय**-जयकार की घोषणा—निनाद को, **घोषकः**—प्रकट करने वाला, सन्—होता हुआ वही हुआ—**सद्धर्मराजजयघोषणघोषक सन्: ।** ऐसा...

दुन्दुभिः—नगाड़ा-दमामा-धौंसा व भेरी ।

ते – आपके ।

यशसः—कीर्तिका- यश का ।

प्रवादी—विषद कथन करने वाला ।

खे—आकाश मे गगन मे ।

ध्वनति— गुंजार कर रहा है ।

भावार्थ :

हे दुन्दुभिस्वन !

अपने गम्भीर स्पष्ट और मधुर निनाद से जिसने **समस्त** **दिग्मण्डल के**

वातावरण को गुंजायमान कर दिया है तथा जिसकी ध्वनि को सुनने के लिए तीनों लोकों के प्राणी एकत्र हो रहे हैं—ऐसा सत्समागम कराने वाला नगाड़ा आकाश में उच्च स्वर से बज रहा है। मानो वह इस तथ्य की घोषणा करता हुआ यशोगान कर रहा है कि समीचीन जैनधर्म की जय हो और उसके प्रवर्तक तीर्थङ्कर देवों की जय-जयकार हो।

यह दुन्दुभि नामक पांचवा प्रातिहार्य है।

विवेचन

परमपूज्य गणधराचार्यों ने अपनी साधकतम अवस्था की स्थिरता में ओंकारमय दिव्यध्वनि को, केवलि, श्रुत-केवलि-प्रणीत समीचीन जैनधर्म के तत्व को द्वादशांग श्रुत में गूंथ कर अद्यतन सुरक्षित रखा है। उसी परम्परा में कालान्तरवर्ती शुद्धानुभवी भावलिङ्गी सन्तों ने उस वीतराग विज्ञानमयी जैनधर्मामृत के सागर को गागर में भरकर प्राणिमात्र के कल्याणार्थ प्रस्तुत किया। सद्धर्म-तत्व की वाचक विविध परिभाषाएँ, विविध दृष्टिकोणों से रखते हुए भी उन सबका हृदयगत वाच्य तत्व मात्र एक शुद्धात्म-परमात्म तत्व की प्राप्ति करना ही रहा। वे कहते हैं कि धर्म क्या है? संसार के जीवों को जो दुःख से छुड़ा कर उत्तम सुख में प्रतिष्ठित करदे उसे ही धर्म कहते हैं।

"संसार दुःखतः सत्वान्, यो धरत्युत्तमे सुखे।"

—समन्तभद्राचार्य

संक्षिप्त सूत्रों में धर्म की परिभाषा को बांधते हुए उन्होंने कहा—

"वत्थु सुहावो धम्मो," "दंसण मूलो धम्मो," "चारित्तं खलु धम्मो," "अहिंसा परमो धर्मः," "रत्नत्रय ही धर्म है," "दशलक्षण ही धर्म है" आदि को ही समीचीन सद्धर्म की संज्ञा दी है। स्याद्वाद चिन्हांकित अनेकान्तमयी जैनधर्म में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता को ही मुक्ति का अथवा सपूर्णतया निराकुल सुख का एकमात्र मार्ग उन्होंने निरूपित किया है। इस भाँति अन्यान्य असत् धर्मों से विलक्षण केवल सद्धर्म की विजय 'दुन्दुभि' तीनों लोकों में अनादिकाल से आज तक बजती रही है। सद्धर्म-तीर्थ के उद्घोषक-प्रवर्तक धर्मराज तीर्थंकर भगवन्तों का जयघोष, यशोगान तीनों लोकों में आज तक गूंज रहा है।

दुन्दुभि प्रातिहार्य के वर्णन में मुनिवर्य मानतुंगजी उत्प्रेक्षा करते हुए कहते है कि हे समवशरण में विराजमान धर्मराज! हे धर्म सभानायक! निरन्तर उदात्त और मधुर स्वर से बजने वाला यह दमामा (नगाड़ा) यह भेरी,

यह विजय दुन्दुभि मानो इस बात की घोषणा स्पष्ट रूप से कर रही है कि—
"हे संसार के प्राणियों ! यदि तुम्हें निराकुल सच्चे सुख और आत्मकल्याण की इच्छा है तो यहां आओ ! शाश्वत् जैनधर्म और तीर्थंश्वरों की शरण में आओ। उनका गुणगान करो, जय-जयकार करो, उनके चरणचिन्हों पर गमन करो।" वस्तुत: इस ढिंढोरे को सुनकर ऐसा कौन सा अभागा प्राणी होगा जो तीर्थंकरों की शरण में 'समवशरण में-धर्मसभा' में न पहुंचेगा ?

नगाड़े की आवाज अपेक्षाकृत अधिक उदात्त और उद्घोषक मानी गई है। वह सोते हुए प्राणी को तुरन्त ही जगाने में समर्थ है। संसारी जीव अनादि काल से विषय-कषायों से मूर्छित होकर मिथ्यात्व की कालरात्रि में मोह-निद्रा में निमग्न हैं। आत्म-कल्याण का यह ढोल उनके कर्णपटलों पर मानो निरन्तर बज रहा है और वे चैतन्य एवं स्वरूप-जाग्रत होकर अपना आत्म-कल्याण करते हुए समीचीन, सच्चे जैनधर्म और तीर्थंकरों की जय-जयकार कर रहे हैं— यशोगान कर रहे हैं।

There sounds in the sky the celectial daum, which fills the directions with its deep and loud note, and which is capable of bestowing glory and prosperity on all the deings of the three worlds, and which proclaims the victory-sound of the lord of supreme righteousness, proclaiming Thy fame 32.

× × ×

Filling all quarters with deep and loud sound the neise of drums, which is clever in offering good fortune and happiness of good society, makes generally and publicly known your fame and speaking aloud the shouts of Jain, goes over in the sky. 32

× × ×

मूल श्लोक (सर्व ज्वर संहारक)

मन्दार - सुन्दर - नमेरु - सुपारिजात—
सन्तानकादि - कुसुमोत्कर - वृष्टिरुद्धा।
गन्धोदबिन्दुशुभ - मन्दमरुत्प्रपाता[1],
दिव्या दिवः पतति ते वचसां[2] ततिर्वा ॥३३॥

गन्धोदक वृष्टि प्रातिहार्य
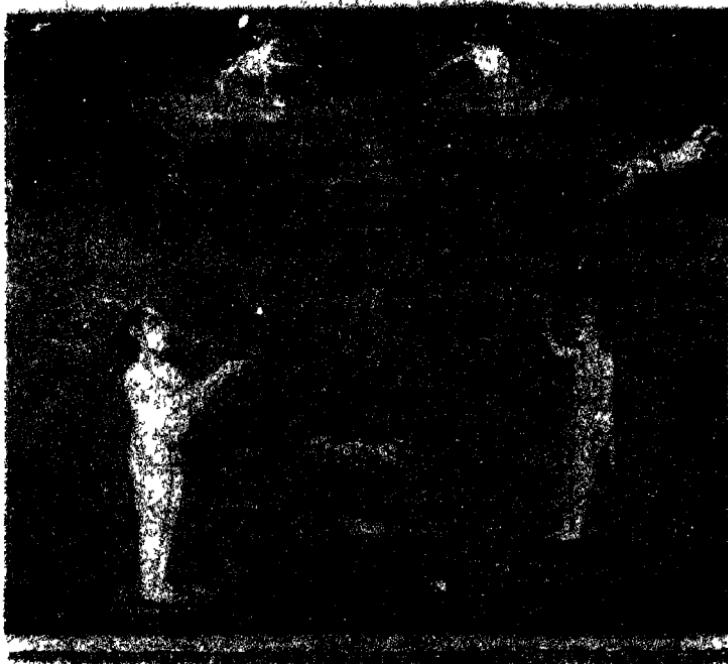
कल्पवृक्ष के कुसुम मनोहर पारिजात एवं मंदार।
गन्धोदक की मंदवृष्टि, करते हैं प्रमुदित देव उदार॥
तथा साथ ही नभ से बहती, धीमी-धीमी मंद पवन।
पंक्ति बांध कर बिखर रहे हों, मानों तेरे दिव्य-वचन ॥३३॥

---

१. "प्रयाताः" ऐसा भी पाठ है। २. "वयसांततिः" ऐसा भी पाठ है, और उसका अर्थ "पक्षियों की पंक्ति" किया है, अर्थात् पुष्पवृष्टि ऐसी जान पड़ती है, मानों आकाश से पक्षियों की श्रेणी पृथ्वीतल पर उतरती हो। जो पाठक "वयसांततिः" पाठ को पसन्द करें, वे यहां पर इस प्रकार पढ़ें—मानो यह विहगन की पंक्ति देवलोक सों आई।

अन्वय:

गन्धोदबिन्दुशुभमन्दमरुत्प्रपाता उद्धा दिव्या मन्दारसुन्दरनमेरुसुपारिजात-सन्तानकादिकुसुमोत्करवृष्टिः ते वचसां ततिः वा दिवः पतति ।

शब्दार्थः

हे नाथ—हे भगवन् !

गन्धोदबिन्दुशुभमन्दमरुत्प्रपाता—सुगंधित जल की बूंदों से युक्त एवं सुखद मन्द-मन्द समीर के झोकों के साथ गिरने वाली ।

विशेषार्थ :—गन्ध—सुगन्धित-सुरभित (विशेषण) **उदबिन्दु**—जलबिन्दु-जलकण से युक्त मिश्रित, **शुभ**—सुखकर-मंगलीक, **मंद**— धीमी-धीमी, **मरुत**—पवन, समीर, हवा उस सहित, **प्रपाता**—गिरने वाली ऐसी। वही हुआ **गन्धोदबिन्दुशुभमन्दमरुत्प्रपात** ।

उद्धा—ऊर्ध्वमुखी—ऊपर को मुख है जिसका ऐसी उत्कृष्ट ।

नोट—भगवान के समवशरण में जो पुष्पवर्षा होती है, उन फूलों के मुंह ऊपर को और डंठल नीचे को रहते हैं इसलिए उन्हें 'उद्धा' अर्थात् ऊर्ध्वमुखी कहा गया है ।

दिव्या—मनोहर, सुन्दर, मनभावनी, देवलोकोत्पन्न पारमार्थिकी ।

मन्दारसुन्दरनमेरुसुपारिजातसन्तानकादिकुसुमोत्करवृष्टिः—मंदार, सुन्दर, नमेरु, पारिजात तथा सन्तानक आदि कल्पवृक्षों के फूलों की वर्षा...

दिवः—आकाश से, गगन से, नभ से ।

पतति—गिरती है ।

वा—अथवा ।

ते—आपके ।

वचसां—वचनों की ।

ततिः—पंक्ति ही ।

पतति—फैलती है (अध्याहार से लिया गया) ।

भावार्थ

हे सु-मनेश्वर अमृतवर्षिन् !

सुगन्धित जल की बूंदों के साथ धुली हुई जो शीतल, सुरभित, मन्दसमीर है, उसके झोंकों से स्वर्गीय सुमनों की वर्षा ऐसी प्रतीत हो रही है मानो आपकी वचनावली ही पंक्तिबद्ध होकर धरती पर फैल रही हो। वे फूल उत्कृष्ट एवं

ऊर्ध्वमुखी होते हैं जो समवशरण की पावन भूमि में मन्दार, सुन्दर, नमेरु, पारिजात तथा सन्तानक नाम के कल्पवृक्षों से निरन्तर झड़ते रहते हैं !

यह पुष्पवृष्टि नामक छटवां प्रातिहार्य है ।

विवेचन

अनन्त चतुष्टय के धनी चौंतीस अतिशयों से युक्त केवलि श्री अरहंत परमेष्ठी कमलासन पर अन्तरीक्ष विराजमान हैं । समवशरण की धर्म-सभा में उनकी निरक्षरी दिव्यध्वनि खिर रही है । वातावरण, वीतरागता-शान्ति एवं परमानन्द से व्याप्त है । त्रिलोकीनाथ तीर्थङ्कर प्रभु के इस सत्य-शिव-सुन्दर साम्राज्य में सर्वत्र अहिंसा का अनुशासन है । चारों ओर सौ-सौ योजन तक सुकाल वर्त रहा है । देवों द्वारा दशों दिशाएँ निर्मल स्वच्छ कर दी गई हैं । विविध फल-फूलों एवं धन-धान्यादि से लदी हुई सदा बहार षड् ऋतुएँ सुस्वादु और सुरभित होकर महक उठी हैं । पृथ्वी और आकाश दर्पण की नाईं निर्मल है । शीतल-मंद-सुगध समीर भीनी-भीनी बह रही है । गन्धोदक की बूंदे मानो अमृत वर्षा कर रही है । सच्चिदानन्द प्रभु की यह अन्तरंग-बहिरंग विभूति तीनों लोकों के जीवों के आकर्षण का एकमात्र केन्द्रबिन्दु बनी हुई है । भाव-विभोर स्तुतिकार मुनिवर्य श्री मानतुंग जी ऐसे मांगलिक पुनीत वातावरण मे पुष्पवृष्टि के प्रातिहार्य की भी समायोजना करते हुए कहते हैं कि कितना अलौकिक और धन्य होगा वह दृश्य जब चतुर्मुख दृश्यमान् सर्वज्ञदेव के न केवल श्रीमुख से अपितु सर्वांग प्रदेशों से निरक्षरी दिव्य-ध्वनि खिर रही हो और उसी के समानान्तर आकाश से कल्पवृक्षों के पुष्पों की वर्षा निरन्तर हो रही हो । जब लौकिक पुष्पों में ही इतनी महक होती है तब नन्दनवन के कल्पवृक्षों से झड़ने वाले दिव्य सुमनों की सुगन्धि का तो क्या कहना ? और फिर जब गन्धोदक से धुली हुई शीतल-मंद-सुगन्ध समीर के झौंकों से वे मन्दार, सुन्दर, नमेरु, पारिजात, सन्तानकादि वृक्षों के प्रसून अपनी दिव्य महक बिखरते हुए पृथ्वी पर गिरते होंगे तब उस सुरभित वातावरण का क्या कहना ? यतिवर्य्य दिव्य ध्वनि और पुष्पवृष्टि प्रातिहार्य का सामंजस्य स्थापित करते हुए उत्प्रेक्षा करते है कि हे नाथ ! ये फूल नहीं झड़ रहे हैं बल्कि दिव्यध्वनि ही मानो पंक्तिबद्ध होकर झड़ रही हैं । मधुरभाषी को लोक में कहा भी जाता है कि आपके मुख से मानो फूल ही झड़ रहे हैं ।

इस श्लोक में 'उध्दा' शब्द का प्रयोग विशेष ध्यान देने योग्य है क्योंकि हमें ज्ञात है कि समवशरण में जो फूल बरसते हैं उनके मुख ऊपर (उर्ध्वमुखी)

तथा डंठल नीचे (अधोमुखी) रहते हैं। वे मानो यह सिद्ध करते हैं कि आपके समवशरण में आया हुआ पतित से पतित भी एक दिन ऊर्ध्वगामी बनता है। अर्थात् अपना उद्धार अवश्य करता है। देखिए ! आचार्यश्री का सुन्दरतम भाव पक्ष एवं कला पक्ष कि वे पौद्‌गलिक कर्णगोचर दिव्यध्वनि को पुष्पों के माध्यम से चक्षुगोचर बनाकर दर्शकों और श्रोता भक्तों के दृग-श्रोतृ मन और चेतन को एक साथ आनन्दित कर रहे हैं।

Like Thy divine utterances falls from the sky the shower of celestial flowers such as the Mandara, Nameru, Parijat and Santanaka accompanied by gentle breeze that is made charming with scented water drops. 33.

× × ×

The shower of flowers of the trees, such as Mandar, Sundar, Nameru, Superijat, and Santanak, falling down from the sky with the gentle wind, laden with the auspicious drops of scented water, is, as it were, the, continuous flow of your divine and excellent words. 33.

× × ×

मूल-श्लोक (गर्भ-संरक्षक)

शुम्भत्प्रभा[1]-वलय भूरि[2] - विभा विभोस्ते,
लोकत्रये[3] द्युतिमतां द्युतिमाक्षिपन्ती।
प्रोद्यद्दिवाकर निरन्तर भूरि संख्या—
दीप्त्या जयत्यपि निशामपि सोमसौम्याम्[4] ॥३४॥

प्रभा-मण्डल प्रातिहार्य
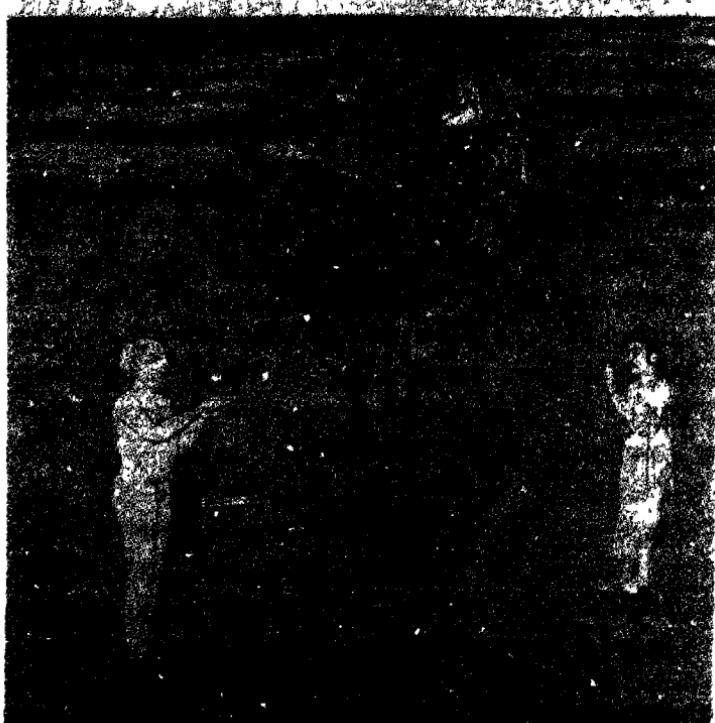
तीन लोक की सुन्दरता यदि, मूर्तिमान् बन कर आवे।
तन-भा-मंडल की छवि लख कर, तव सम्मुख शरमा जावे॥
कोटि सूर्य के ही प्रताप सम, किन्तु नहीं कुछ भी आताप।
जिनके द्वारा चन्द्र सुशीतल, होता निष्प्रभ अपने आप॥३४॥

१—"शुम्भत्प्रभा" भी पाठ है। २—"भूति" भी पाठ है। ३—"लोकत्रये' भी पाठ है। ४—"सोम सौम्याम् भी पाठ है।

अन्वय:

प्रोद्यद्दिवाकरनिरन्तरभूरिसंख्या ते विभोः शुम्भत्प्रभावलयभूरिविभा लोकत्रयद्युतिमतां द्युतिम् आक्षिपन्ती सोमसौम्याम् अपि दीप्त्या निशाम् अपि जयति।

शब्दार्थ:

प्रोद्यद्दिवाकरनिरन्तरभूरिसंख्या—प्रकृष्ट रूप से एक साथ ही पास-पास उदय होने वाले बहुसंख्यक सूर्यों के तुल्य।

विशेषार्थ :—प्रोद्यत्—प्रकृष्ट रूप से उदीयमान, ऐसे **दिवाकर**—सूर्य, वह हुआ **प्रोद्यद्दिवाकर**। **निरन्तर**—अन्तराल रहित-पास पास-सघन-अविरल-एक साथ। **भूरिसंख्या**—विपुल है संख्या जिनकी ऐसे वही हुआ **निरन्तर-भूरिसंख्या**। प्रोद्यत, निरन्तर तथा भूरिसंख्या ये तीनों विशेषण दिवाकर विशेष्य के लिए प्रयुक्त हुए हैं।

ते विभोः—तुम्हारे अर्थात् प्रभु के।

शुम्भत्प्रभावलयभूरिविभा—नितान्त शोभनीक प्रभा-मण्डल (भा—कान्ति उसका मण्डल—गोलाकार वह भामण्डल) की अतिशय जगमगाती हुई ज्योति।

विशेषार्थ :—शुम्भत्—शोभायमान-कल्याणकर, ऐसा **प्रभा**—आभा, उसका **वलय**—मण्डल वही हुआ **शुम्भत्प्रभावलय** अर्थात् शोभनीक भामण्डल। **भूरि—विभा**—अत्यधिक तेज कान्ति वाली ज्योति।

लोकत्रयद्युतिमताम्—तीनों लोकों के सभी दीप्तिमान पदार्थों की।

विशेषार्थ :—लोकत्रय—तीनों लोक, उसके **द्युतिमताम्**- दीप्तिमान पदार्थ, वही हुआ **लोकत्रय द्युतिमम्** उनकी। यह पद षष्ठी के बहुवचन में प्रयुक्त हुआ है।

द्युतिम्—द्युति को, कान्ति को, आभा को।

आक्षिपन्ती—लज्जित करती हुई, तिरस्कृत करती हुई।

सोमसौम्या अपि—चन्द्रमा सदृश सौम्य-शीतल होने पर भी।

विशेषार्थ :—सोम—चन्द्रमा उसके सदृश **सौम्या**—शान्त-शीतल **अपि**—होने पर भी वही हुआ **सोमसौम्या अपि**। यह पद विभा का विशेषण होने से स्त्रीलिंग में प्रयुक्त हुआ है।

दीप्त्या—अपनी कान्ति से।

निशाम् अपि—रात्रि को भी।

जयति—जीतती है।

भावार्थ:

आपकी दिव्य देह से निःसृत रश्मियों से जो अत्यन्त शोभनीक प्रभा-मण्डल बनता है वही देदीप्यमान कान्ति का गोलाकार मण्डल भामण्डल कहलाता है। उस भामण्डल की जगमगाती हुई ज्योति असंख्य सूर्यों के एक साथ सघनता में उदय होने वाली कान्ति के सदृश है। तीनों लोकों मे जितने भी चमकीले देदीप्यमान पदार्थ हैं, उन सब की आभा को वह तिरस्कृत करती है—मात देती है तथा चन्द्रमा के समान सौम्य-शान्त-स्निग्ध-शीतल होने पर भी अपनी प्रभा से रात्रि को भी जीतती है।

यह भामण्डल नामक सातवां प्रातिहार्य है।

विवेचन

निश्चयतः अनन्तगुणों से एव उपचारतः छयालीस गुणों से मंडित समवशरण स्थित श्री तीर्थंकर प्रभु के प्रभा-मण्डल (भामण्डल) प्रातिहार्य का आलंकारिक वर्णन करते हुए भावप्रवण दिगम्बर मत मानतुंग जी कहते हैं। कि :—

हे तेजोराशि ! आपके भा-मण्डल की प्रभा कोटि-कोटि सूर्यों के समान तेज वाली होने पर भी प्रचण्डता, उष्णता और आताप से रहित है। दूसरी ओर इस एक ज्योतिषी मार्तण्डदेव की प्रचण्डता-उष्णता-आताप और चकाचौंध को पृथ्वी के देहधारी सहन नहीं कर सकते। असंख्य सूर्यों जैसी तेजस्विता और प्रताप रखकर भी आपके प्रभा मण्डल की कान्ति चन्द्र ज्योत्स्ना के समान निर्मल, शीतल और सुखद है। अनुपमेय प्रभु के भा-मण्डल की 'कोटि सूर्य सम प्रभ' से तुलना करते हुए भी स्तोत्रकार ने यहाँ सूर्यदेव का तिरस्कार कर दिया और तत्काल ही उनका ध्यान चन्द्रमा की शीतल, निर्मल और सुखद ज्योत्स्ना की ओर गया, किन्तु दूसरे ही क्षण चन्द्रमा भी उनके 'अनुपमेय' के आगे हत-प्रभ होगया। वे कहते है कि आपके भामण्डल की कान्ति चन्द्रमा की भाँति रात्रि को शोभायमान नहीं करती बल्कि रात्रि को जीतती है। 'आक्षिपन्ती' अर्थात् मिथ्यात्वान्धकार और कालरात्रि पर भी वह विजय पाती है। यहाँ विरोधाभास अलंकार की छटा दर्शनीय है।

श्री जिनबिम्बों के मुख-कमल की पृष्ठ भूमि में बहुधा सप्त धातु निर्मित भा-मण्डलों का प्रयोग किया जाता है परन्तु ऐसा कोई भा-मण्डल केवली सर्वज्ञ प्रभु के पृष्ठांग में होता नहीं। भा-मण्डल तो वस्तुतः उनकी परमौदारिक दिव्य देह से निकलती हुई कैवल्य रश्मियों का ऐसा प्रभावलय— ऐसा अनुपम तेज पुंज है, जिसके आगे कोटि-कोटि सूर्य भी हतप्रभ हो जाते हैं। सूक्ष्मतम तैजस-

वर्गणाओं को स्थूलदृष्टि प्रदान करने के लिए धातु निर्मित भामण्डल को ही उनके प्रभा-मण्डल का प्रतीक मान लिया गया है। जब सामान्य संत महात्माओं और अन्तरात्माओं के मुख पर एक अनुपम तेज-ओज और कान्ति झलकती है, तब साक्षात् परमात्मा की तेजस्विता के प्रताप का तो क्या कहना ? उनकी रूप राशि से निःसृत तैजस-रश्मियों का ही जब इतना अलौकिक प्रताप है कि संतप्त जीवों के दृगों को शीतलता और शान्ति का अनुभव होता है तब कैवल्य रश्मियों से बने हुए आध्यात्मिक प्रभा-मण्डल के प्रताप की कितनी अपूर्व महिमा नहीं होगी ? आगमोक्त कथन है कि श्री जिनेन्द्रदेव के भा-मण्डल की निर्मल प्रतिच्छाया में भव्य जीवों को अपने अतीत, वर्तमान एवं भावी सात-सात भवों के दर्शन दर्पणवत् होते हैं। जब उनके पौद्गलिक तैजस शरीर का इतना चाकचिक्य है तब उनके विदेह चैतन्य के चिच्चमत्कार रूप प्रभा-मण्डल का क्या कहना ?

वस्तुतः उनके भामण्डल की किरणें हमारे आवृत मति-श्रुतज्ञान को भेद कर हमें अपने सात-सात भवों के दर्शन करादे तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं। सूर्य के सामने जब हम दर्पण रखते हैं तब सूर्य की किरणों को अपने मे एकत्र कर वह दर्पण अपने प्रकाश का परावर्त्तन करता है तो युगों युगों से अंधकार पूर्ण कन्दरा में भी सूर्य का प्रकाश पहुँच जाता है। भले ही सूर्य वहाँ कभी भी न पहुँचे।

Oh ! Lord Thine luminous hals, endowed with Effulgence surpasses lustre or all the luminaries in the world; and though it (Thice halo) is made up of the radiance of many suns rising simultaneously, yet it outshines the night dacorated with the gentle lustre of the moon. 34.

× × ×

O Lord ! Ths excessive light of your shining halo, rivaling as it were, the blaze of the densely elustered suns and surpassing the luster of the brilliant objects of the three words, overcomes (the dark of) the night; even though it is as gentle and mild as the light of the moon. 34.

× × ×

मूल-श्लोक (ईति-भीति निवारक)

स्वर्गापवर्ग - गममार्ग - विमार्गणेष्टः,
सद्धर्म - तत्त्व - कथनैक-पटुस्त्रिलोक्याः ।
दिव्यध्वनि र्भवति ते विशदार्थसर्व—
भाषास्वभाव-परिणाम-गुणैः[1] प्रयोज्यः[2] ॥३५॥

दिव्यध्वनि प्रातिहार्य
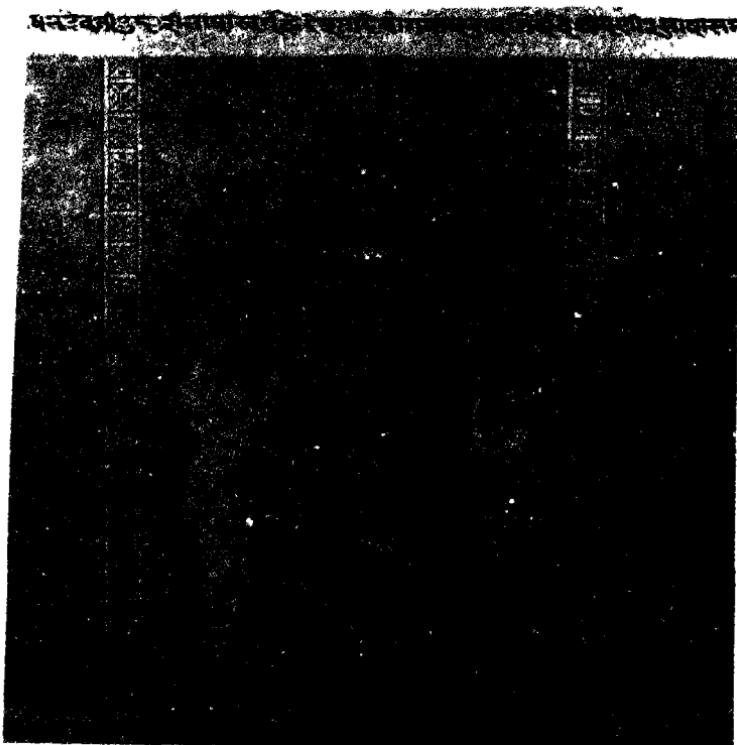
मोक्ष-स्वर्ग के मार्ग प्रदर्शक, प्रभुवर तेरे दिव्य-वचन ।
करा रहे हैं 'सत्य-धर्म' के, अमर-तत्त्व का दिग्दर्शन ।।
सुनकर जग के जीव वस्तुतः, कर लेते अपना उद्धार ।
इस प्रकार परिवर्तित होते, निज-निज भाषा के अनुसार ।।३४।।

१—"गुण" यह भी पाठ है। २—"प्रयोज्या" भी पाठ है।

अन्वयः

स्वर्गापवर्गगममार्गविमार्गणेष्टः त्रिलोक्याः सद्धर्म-तत्त्वकथनैकपटुः विशदार्थ-सर्वभाषास्वभावपरिणामगुणैः प्रयोज्यः ते दिव्यध्वनिः भवति ।

शब्दार्थः

स्वर्गापवर्गगममार्गविमार्गणेष्टः—अभ्युदय स्वरूप स्वर्ग एवं निःश्रेयस स्वरूप मोक्ष जाने के मार्ग का अनुसंधान करने मे अभीष्ट अथवा देवलोक तथा निर्वाण लोक का पथ प्रशस्त करने वाले साधु सघ को अभिप्रेत-इष्ट ।

विशेषार्थ :—**स्वर्ग**—देवलोक, **अपवर्ग**—निर्वाण लोक को **गममार्ग**—जाने के लिए **विमार्गणेष्टः**—**विमार्गणा इष्टः विमार्गणेष्टः**—अनुसन्धान करने अथवा बताने मे **इष्ट**—अभीष्ट-सहायक । वही हुआ **स्वर्गापवर्गगममार्गविमार्गणेष्ट** ।

त्रिलोक्याः—तीनों लोकों को ।

सद्धर्मतत्त्वकथनैकपटुः—समीचीन सारभूत धर्म-कथा समझाने मे चतुर-समर्थ-सक्षम अथवा सम्यक् धर्म के तत्त्वों के कथन करने मे एक मात्र दक्ष ।

विशेषार्थ :—**सत्**—सम्यक्, **धर्मतत्त्व**—धर्म के तत्त्वो के **कथनैकपटुः**—कथन करने में एक मात्र निपुण, वही हुआ **सद्धर्मतत्त्वकथनैकपटु** ।

विशदार्थसर्वभाषास्वभावपरिणामगुणैः— सम्पूर्ण द्रव्य गुण पर्यायों के विशद स्पष्ट अर्थ को बताने मे सक्षम तथा अपने-अपने प्रयोजन भूत भावों के अनुसार ही सभी भाषाओं मे परिणत होने के स्वाभाविक गुणों से ।

विशेषार्थ :—**विशद्**—विस्तृत स्पष्ट, **अर्थ**— पदार्थों (द्रव्य गुण पर्याय और उनके भाव) को बताने मे सक्षम तथा **सर्वभाषा**— सभी बोलियों-भाषाओं के । **स्वभाव**—गुण को **परिणाम**—परिणत होने के **गुणैः**—गुणों से ।

प्रयोज्यः—जिसकी योजना होती है— प्रयुक्त ।

ते—आपकी ।

दिव्यध्वनि—अलौकिक वाणी, ध्वनि ।

भवति—होती है ।

भावार्थ

हे दिव्यभाषापते !

आपकी कल्याणकारी दिव्यध्वनि, अभ्युदयरूप स्वर्ग एव निश्रेयस रूप मोक्ष का मार्ग दिखाने वाली है । तथा तीनों लोकों के समस्त प्राणियों को समीचीन धर्म के तत्वार्थ अर्थात् जीवादिक सात तत्त्व तथा द्रव्य-गुण-पर्यायों

को समझाने में पूर्ण समर्थ है-सक्षम है। आपका सारा उपदेश दूसरों के हित को करने वाला होता है। आपकी अलौकिक दिव्यवाणी का यह महान् अतिशय है कि भिन्न-भिन्न श्रोताओं की भिन्न-भिन्न भाषाओं में परिणमन करने के स्वाभाविक गुणों से वह युक्त है। याने श्रोताओं के कान तक पहुँच कर वह उसी भाषा रूप परिणमित हो जाती है जिस भाषा का श्रोता जानकर होता है।

विवेचन

परम वीतराग सर्वज्ञ-हितोपदेशी तीर्थंकर भगवंतों की ॐकारमयी दिव्य ध्वनि का सातिशय चमत्कार बतलाते हुए आचार्यश्री इस प्रातिहार्य द्वारा धर्म-सभानायक श्री आदीश्वरदेव की स्तुति करते हुए कहते हैं कि :—

हे समवशरणाधिपते ! आपकी निरक्षरी दिव्यध्वनि स्वर्ग और मोक्ष का परम पथ दिखाने वाली है। लोकोत्तम समीचीन जैनधर्म के तत्त्वार्थों को समझाने में समर्थ है, सक्षम है। उसमें वह अलौकिक शक्ति है कि भूमिकानुसार श्रोताओं की भाषाओं में ही तद्रूप परिणत होती जाती है। अर्थात् एक ही भाव विभिन्न बोलियों मे समझा जा सकता है।

वस्तुतः जितना भी द्वादशांगमय श्रुतज्ञान है वह सब समशरण में विराजमान केवली भगवान की ओम्कार ध्वनि का ही सार है जो गणधराचार्यों द्वारा सूत्रवद्ध किया जाता है। तीनों लोकों के जीवों का कितना कल्याण होता है उनकी इस दिव्य देशना से ?—इसकी कल्पना नहीं की जा सकती। उसके श्रवण मात्र से मुमुक्षुओं को मुक्ति और लौकिकजनों को स्वर्ग सम्पदादिक पुण्य विभूतियों के द्वार स्वयमेव खुल जाते हैं।

"जाकी रही भावना जैसी। प्रभु मूरत देखी तिन तैसी"

श्री जिनेन्द्र की दिव्यध्वनि तो ऐसा कल्पवृक्ष है जिसकी छत्रच्छाया में कल्पनानुसार मनोवांछित फलों की सद्यः प्राप्ति होती है। जिनवाणी एक ऐसा पारम चिन्तामणि रत्न है कि जिसके द्वारा भावानुसार चिन्त्य-पद प्राप्त होता है। जिस प्रकार मेघ गर्जना सुन कर मयूर नृत्य करने लगते हैं उसी भाँति दिव्य ध्वनि की सघन गर्जना से भव्य जीवों के मन-मयूर नाच उठते हैं। सुर, नर, खग, मुनि आदि सभी के लिए मानो ज्ञानानन्द की अमृत वर्षा होने लगती है।

"भवि भागन वच जोगे वशाय, तुम धुनि सुनि सब विभ्रम नशाय।"

हे नाथ ! आपकी दिव्यध्वनि सुनने से अनादि कालीन मिथ्यात्व, संशय, विमोह, अनध्यवसाय, प्रमाद और असंयम का नाश हो जाता है। भले ही वह

आपके वचन योग से खिर रही हो तथापि मैं तो ऐसा मानता हूँ कि भव्य जीवों के सौभाग्योदय से ही वह खिर रही है। यहाँ यह शंका हो सकती है कि वाणी पौद्गलिक है तो वह चैतन्य भावों के लिए कल्याण में निमित्त कैसे बनती है ? उसका समाधान यह है कि 'शब्द ब्रह्म' चैतन्य का वाचक होने से तथा सच्चिदानंद चैतन्य घन परमात्मा का अन्तस्तत्त्व होने से, जीव मात्र के कल्याण में निमित्त है। अतः त्रिकाल वंदनीय भी है। वह हित-मित-प्रिय-सत्य और स्याद्वादमय वाणी जग जीवों के लिए सत्, शिव और सुंदर है।

श्री जिनेन्द्र की दिव्यध्वनि की असंख्य विलक्षणताएँ है। चतुर्मुख तीर्थंकर देव के श्रीमुख से निःसृत होने पर भी वस्तुतः वह सर्वाङ्गमुखी है। निरक्षरी होने पर भी वह अनक्षर नहीं है बल्कि अक्षरात्मक और अक्षयात्मक है। उनकी भाषा अर्द्धमागधी होने पर भी लोक की १८ भाषाओं और ७०० लघु भाषाओं में वह आसानी से समझी जाती है। इसके अतिरिक्त उसके भाव को अभाषी, मूक और वधिर, तिर्यञ्चादिक पशु भी समझ लेते हैं। उस दिव्यध्वनि में यह स्वाभाविक गुण है कि वह एक ही भाव का निरूपण करने पर यावत् पात्रों की भूमिकानुसार भाषाओं में समझाकर उनके वाछित प्रयोजन सिद्ध करती है। जिस भाँति वर्षा का जल तो सर्वत्र एक सा ही होता है परन्तु अपने-अपने उपादान की योग्यतानुसार निम्ब (नीम) और इक्षु (गन्ना) आदि वृक्षों में पहुँच कर उसका परिणमन कटुक और मधुर रूप में होता जाता है।

सयोग केवली भगवंतों के वचनयोग होने पर भी ओष्ठादिक के कम्पन पूर्वक दिव्यध्वनि नहीं खिरती। समवशरण में तीर्थंकरश्री की दिव्यध्वनि अहोरात्रि की चार सन्ध्याओं में छह-छह घड़ियों के अन्तराल से खिरती रहती है। मेघ गर्जनावत् वह दिव्यध्वनि एक योजन (चार कोस) तक सुन पड़ती है। मागध जाति के देव मानो ध्वनि विस्तारक यंत्रों का कार्य करते है। इस दिव्य देशना द्वारा सर्व पदार्थों का व मोक्ष मार्ग की मुख्यता का स्याद्वादात्मक कथन होता है। इस धर्मामृत-वर्षण से अलौकिक और लौकिक सिद्धियों की प्राप्ति जीवों को होती है। कैसी है जिनवाणी ?

मिथ्यातम नाशवे कों, ज्ञान के प्रकाशवे कों।
आपा पर भासवे कों, भानु सी बखानी है।।
जहाँ तहाँ तारवे को, पार के उतारवे कों।
सुख विस्तारवे को यही जिनवाणी है।।

Thy divine voice, which is sought by those who wish to tread the path of emancipation leading to Heaven and Salvation and which alone can expound the truth of the supreme religion, is endowed with those natural qualities which transform it (Divya-dhwani) into all the languages capable of clrar meaning. 35.

Your singular speech, which is indispensable in seeking out the paths to the heaven and salvation, proficient in expounding the philosophy and principles of the Rightfaith and coupled with the clear and exhaustive meaning, is rife with the distinctive features of its comprehensive faculty. 35.

मूल-श्लोक (लक्ष्मी-प्रदायक)

उन्निद्रहेमनवपङ्कज - पुञ्जकान्ति,
पर्युल्लसन्नखमयूख - शिखाभिरामौ।
पादौ पदानि तव यत्र जिनेन्द्र! धत्तः,
पद्मानि तत्र विबुधाः परिकल्पयन्ति ॥३६॥

पद-तल स्वर्ण दिव्य कमल रचना

जगमगात नख जिसमें शोभे, जैसे नभ में चन्द्र-किरण।
विकसित नूतन सरसीरुह सम, हे प्रभु! तेरे विमल-चरण॥
रखते जहाँ वहीं रचते हैं, स्वर्ण-कमल सुर दिव्य ललाम।
अभिनंदन के योग्य चरन तव, भक्ति रहे उनमें अभिराम ॥३६॥

अन्वयः

हे जिनेन्द्र ! उन्निद्रहेमनवपङ्कजपुञ्जकान्ति पर्युल्लसन्नखमयूखशिखाभिरामौ तव पादौ यत्र पदानि धत्तः तत्र विबुधाः पद्मानि परिकल्पयन्ति ।

शब्दार्थः

जिनेद्र !—हे जिनवरेन्द्र !

उन्निद्रहेमनवपङ्कजपुंजकान्ति—ताजे खिले हुए सुवर्ण (स्वर्ण या सुन्दर वर्ण) सरोज समूह के समान सुन्दर कान्ति को धारण करने वाले ।

विशेषार्थ :—**उन्निद्र**—सद्य विकसित, ऐसे **हेमनवपङ्कज**—सुवर्ण वर्ण के नवीन कमलों, उसका **पुंज**—समूह, उसकी **कान्ति**—प्रभा-आभा-को धारण करने वाले । वही हुआ **उन्निद्रहेमनवपङ्कज पुंजकान्ति ।**

पर्युल्लसन्नखमयूखशिखाभिरामौ—सब ओर तरंगित नखों की कान्तिमान किरणों की अग्रभागीय आभा से मनोहर ।

विशेषार्थ :—**पर्युल्लसत्**—सब तरफ फैलने वाली, **नख**—नाखूनों की **मयूख शिखा**—किरणों की अग्राभा से **अभिराम**—मनोहर, वही हुआ **पर्युल्लसन्नखमयूखशिखाभिराम ।**

तव पादौ—आपके दोनों पग, युगल चरण ।

यत्र—जहाँ ।

पदानि—पग, डग, कदम ।

धत्तः—न्यस्त-रखे जाते हैं ।

तत्र—वहाँ ।

विबुधाः—सुर समूह ।

पद्मानि—कमलों को, स्वर्ण सरोजों को ।

परिकल्पयन्ति—रचते जाते हैं, बनाते जाते हैं ।

भावार्थ

हे चरणाम्बुज !

आपके पावन युगल चरण खिले हुए नूतन स्वर्ण सरोजों के समान कान्तिमान हैं । उनके नखों से चतुर्दिक चमचमाती किरणें बिखर रही है । धर्मोपदेश के लिए विहार करते समय आपके द्वारा ज्यों-ज्यों, जहाँ-जहाँ आर्यक्षेत्र की पृथ्वी पर पग रखे जाते हैं त्यों-त्यों, तहाँ-तहाँ देवगण कल्पित स्वर्ण कमलों की रचना करते जाते हैं ।

अतिशयों की शृंखला में देवकृत कमल सृष्टि नामक अतिशय का वर्णन इस श्लोक में किया गया है।

विवेचन

अनंत चतुष्टय रूप आन्तरिक स्वाभाविक गुणों से संयुक्त, अष्टादशदोष वर्जित घातिया कर्मों से मुक्त, बाह्य चौतीस अतिशयों से सपन्न, अष्ट महा-प्रातिहार्यों एवं नव केवल लब्धियों के अधीश्वर अरहंत परमेष्ठी समीचीन धर्म-तीर्थ की स्थापना करते हुए कर्मभूमि के चतुर्थ काल में आर्य खण्ड में बिहार कर रहे है। लोक कल्याण के करुणावतार केवली भगवान का गमन पृथ्वी से कुछ ऊपर आकाश मे अधर हो रहा है, तो भी देवों द्वारा उनके चरण कमलों के तले डग-डग पर स्वर्ण कमलों के पांवड़े बिछाये जा रहे है।

"चरण-कमल तल कमल है, नभ से जय-जयकार।"

तात्पर्य यह कि आन्तरिक ऐश्वर्य के धनी सर्वज्ञ परमात्मा का लौकिक ऐश्वर्य बतलाते हुए भक्ति-भाव विभोर कवि कहते है कि जिन्होंने अपने जीवन में परिपूर्ण वीतरागता को तथा स्वात्मोपलब्धि को व्यक्त कर लिया है। उनके चरणों के तले कमल ही नहीं कमला भी लोटती है। रत्नत्रय रूप धर्म के साथ सातिशय पुण्य तो सहज ही सहकारी रूप मे सेवक बनकर चलता है। श्री जिनेन्द्रदेव के युगल चरणों की मनमोहक छटा का वर्णन करते हुए आचार्यश्री कहते है कि वे चरण-सरोज इस प्रकार कातिमान होते है मानो कि स्वर्ण निर्मित नव प्रस्फुटित कमल समूह चमचमा रहे हों। चरण कमलो के उज्जवल नखों से जो किरणें निकल रही है वे इन स्वर्ण कमलों को और भी अधिक चमका देती हैं। इस प्रकार देवेन्द्रों द्वारा दशों दिशाओं मे कुल २२५ स्वर्ण कमलों की रचना की जाती है। जिनेश्वर देव उन कमलों से भी चार अंगुल ऊपर अधर में गमन करते हैं। इसका प्रतीकात्मक अर्थ यही है कि वे प्रभु अन्तर्बाह्य रज से सर्वथा अस्पृष्ट है। यहाँ तक कि कमला (लक्ष्मी) की विभूति भी उन्हें विभूति अर्थात् धूलि तुल्य है जिसे वे स्पर्श भी नहीं करते।

Goods, O visualize creat lotuses, wherever they fell, having the luster of a collection of newly flower golden lotuses and to which charm has been imparted by the luster of the skining nails, are placed. 36.

O Jinendra ! Gods arrange lotuses at wherever you set your feet which, being beautified by the rays of light, reflected from the sparking nails, possesses the luster of a large number of recently blown lotuses of gold. 36.

मूल-श्लोक (दुष्टता प्रतिरोधक)

इत्थं यथा तव विभूतिरभूज्जिनेन्द्र !
धर्मोपदेशनविधौ न तथा परस्य।
यादृक् प्रभा दिनकृतः प्रहतान्धकारा,
तादृक् कुतो ग्रहगणस्य विकासिनोऽपि ।।३७।।

अलौकिक विभूति संयुक्त समवशरणस्थ श्री अरहंतप्रभु
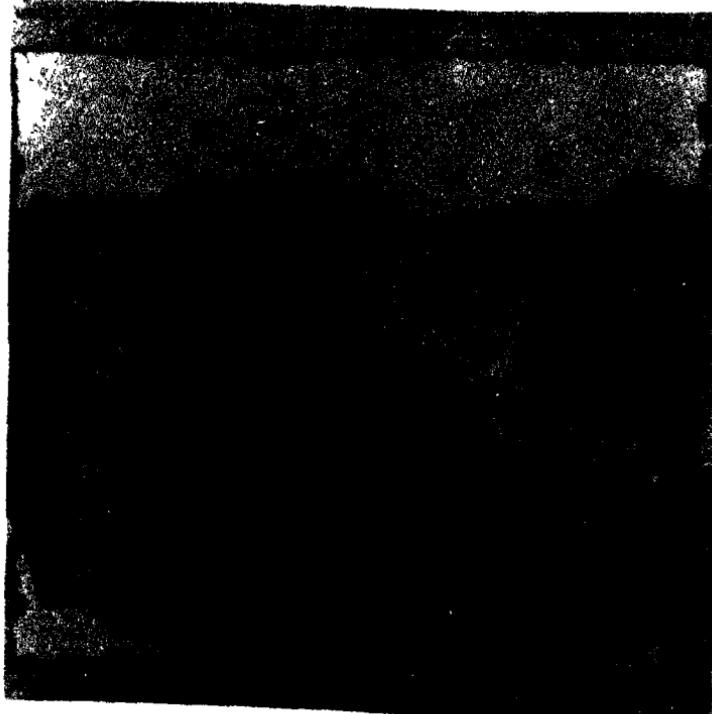
धर्म देशना के विधान में, था जिनवर का जो ऐश्वर्य।
वैसा क्या कुछ अन्य कुदेवों में भी दिखता है सौन्दर्य ।।
जो छवि घोर तिमिर के नाशक रवि में है देखी जाती।
वैसी ही क्या अतुल कान्ति, नक्षत्रों में लेखी जाती ।।३७।।

अन्वयः

जिनेन्द्र ! इत्थम् तव धर्मोपदेशनविधौ यथा विभूतिः अभूत् तथा परस्य न, दिनकृतः प्रभा यादृक् प्रहतान्धकारा तादृक् विकासिनः अपि ग्रहगणस्य कुतः ?

शब्दार्थः

जिनेन्द्र.—हे जिनेश्वर !

इत्थम्—इसी पकार, इसी तरह से, पूर्वोक्त प्रकार से ।

विशेषार्थ :—इससे पूर्व स्तुति का एक प्रकार से वर्णन किया अब स्तुतिकार उसी स्तुति को दूसरी तरह से वर्णन करते हैं । उसका अनुसंधान श्लोक में आये **इत्थं** शब्द से परिज्ञात होता है ।

तव—तुम्हारी, आपकी ।

धर्मोपदेशनविधौ—"वत्थुसहावोधम्म:" वस्तु का स्वभाव ही धर्म है, उसका **उपदेश**—देशना, हित की बात बताने, सो वही हुआ **धर्मोपदेशन** उसकी **विधि**—विधान, नियम, क्रिया वह हुआ **धर्मोपदेशनविधि** ।

यथा—जैसी, जिस प्रकार की ।

विभूतिः—वैभव, समृद्धि, अतिशय रूपी समृद्धि ।

अभूत्—हुई थी ।

तथा—वैसी, उसी प्रकार की ।

परस्य—दूसरो की, दूसरे धर्मप्रवर्तकों को ।

न—नही हुई ।

दिनकृतः प्रभा—सूर्य की ज्योति ।

यादृक्—जैसा, जितना ।

प्रहतान्धकारा—अन्धकार को नाश करने वाली ।

विशेषार्थ :—**प्रहत्**—नष्ट किया जाता है, **अन्धकार**—अंधियारा जिसके द्वारा वही हुआ **प्रहतान्धकार** ।

यह पद प्रभा का विशेषण होने से प्रथमा एक वचन मे आया है ।

तादृक्—वैसी, उतनी ।

विकासिनः—उदय प्राप्त करते हुए ।

अपि—भी ।

ग्रहगणस्य—ग्रह समूह की ।

विशेषार्थ :—**ग्रह**—ग्रह उनका **गण**—समूह वह हुआ **ग्रहगण** । मगल, बुध,

गुरु, शुक्र, शनि, राहु, केतु वगैरह की गणना ग्रहों में होती है। जैन शास्त्रो म इसके सिवाय दूसरे भी ग्रहों का उल्लेख होता है। उनकी कुल सख्या ८८ मानी गई है (देखो त्रिलोकसार गा० ३६३)।

कुतः—कहाँ से ?

भावार्थ

हे धर्म सभानायक !

समवशरण में विराजमान होकर आप जब धर्मोपदेश का विधान कर रहे थे, उस समय पूर्वोक्त श्लोकों में बतलाया हुआ जैसा ऐश्वर्य आपका था वैसा ऐश्वर्य अन्यान्य लौकिक देवों मे किञ्चित भी नही पाया गया। सो ठीक ही है क्योंकि अन्धकार को नष्ट कर देने वाली जैसी ज्योति सूर्य के पास है वैसी ज्योति टिमटिमाते हुए तारागणों के पास कहाँ से हो सकती है ?

विवेचन

अभी तक अष्ट महाप्रातिहार्यों से सेव्यमान तथा समस्त दैवी अतिशयों एवं चमत्कारों से संयुक्त परम वीतराग तीर्थंकर प्रभु की अलौकिक रूपराशि और अनन्त गुण सौन्दर्य की अनुपमेय स्तुति की जा रही थी। विगत पद्य में उन्ही सर्वज्ञ प्रभु के बिहार काल का वैभव दर्शाया गया। अब आगे उनकी प्रभुता की पराकाष्ठा का दिग्दर्शन कराने के लिए मुनिवर्य्य मानतुगजी कहते हैं—

हे समीचीन धर्मप्रवक्ता तीर्थेश्वर ! जो अपूर्व समृद्धि समवशरण मे धर्मोपदेश देते समय आपकी हुई वैसी विभूति तथाकथित हरिहरादिक देवों को छू तक न गई। भले ही असख्य तारागण ज्योतिष मंडल में अपनी शक्तिभर टिमटिमाने का उपक्रम करते रहें और अपनी प्रभा का मिथ्या दभ भरते रहे, किन्तु क्या अन्धकार का विनाश करने वाले मार्तण्ड के प्रचण्ड तेज के समान उनका क्षीण आलोक कभी ठहर भी सकता है ? कदापि नही। आखिर कहाँ से लावें वे सूर्य के समान प्रतापवंत ज्योति ?

हे परमज्योति ज्ञानधन ! कहाँ तो आपके क्षायिकज्ञान का अखण्ड कैवल्य-सूर्य और कहाँ खण्ड खण्ड ज्ञान के असंख्य ग्रह नक्षत्र तारागणरूपी ये तथाकथित नारायण रुद्रादिक ?

बिहार करते हुए आप जिस स्थान पर पहुँचते थे और वहाँ आपके उपदेश के लिए जो महती धर्म-सभा जुड़ती थी; जो अभूतपूर्व समागम समारोह होता था, वह समवशरण के नाम से प्रख्यात था। धर्मोपदेश से बड़ा दूसरा

समागम समारोह संसार में और कोई नहीं हो सकता क्योंकि समारोह में वस्तु स्वरूप का भान और ज्ञान उस महामना नेता द्वारा कराया जाता है जिसने अपनी आत्मा में ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य नामक स्वाभाविक गुणों का चरम विकास कर लिया है; जिसका मानवत्व शुद्धि, शक्ति और शान्ति की पराकाष्ठा पर पहुँच कर परमात्मा बन गया है; जो संसारी जीवों को सन्मार्ग का उपदेश देने के लिए, उनकी भूल सुझाने, बन्धन मुक्त करने ऊपर उठाने, दुःख मेटने के लिए, बिहार कर रहा है; लोक हित साधना की जो असाधारण भावना युगों पूर्व चल रही थी और जिसका गहरा संस्कार भवों पूर्व आत्मा में पड़ा हुआ था, अब वह सम्पूर्ण रुकावटों के हट जाने से अपने आप कार्यरूप परिणत होने लगा है। अस्तु।

ऐसे वे मोक्षमार्ग के अद्वितीय नेता अपने पौरुष से स्वकीय कर्मशैल को चकचूर करके जब स्वयं सर्वदर्शी सर्वज्ञ होगये तब कहीं लोक हितैषी प्रामाणिक वक्ता बनकर बिहार को निकले हैं और स्थान-स्थान पर देवों द्वारा अभूतपूर्व समवशरण बनाये जा रहे हैं। इन समवशरणों के द्वार प्राणिमात्र के लिए खुले हैं। सर्वोदय तीर्थ के ये साक्षात् प्रतीक हैं। भेदभाव और विषमताओं का तो वहां नाम भी नहीं है। विश्वमैत्री, अहिंसा, प्रेम और सहअस्तित्व के आनन्दपूर्ण वातावरण का ही एकच्छत्र राज्य है। समवशरण में प्रवेश करते ही अहि, नकुल जैसे जन्मजात विरोधी जीव भी अपना आपसी बैर बिसार कर परस्पर में आलिंगन करते हैं। सचमुच ही उनकी आत्मा में अहिंसा की प्रतिष्ठा हो जाती है।

"अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ बैरत्यागः"

ऐसा परम प्रभाव समशरण की धर्मसभाओं का बतलाया गया है। यह तो हुआ तीर्थंकर देवों की आध्यात्मिक विभूति का प्रभाव। अब देखिये बाह्य विभूतियों से युक्त समवशरण रचना की एक मनमोहक झलक। इसकी रचना कमल के समान होती है। गंधकुटी जहां तीर्थंकर विराजते हैं—कली समान व बाहर रचना कमल-पत्र के समान रहती है। भूमि का रंग नीलमणि समान होता है। इसे मानांगण भी कहते हैं जहां इन्द्रादिकदेव दूर से ही नमन करते हैं। मानांगण की चार दिशाओं में चार वीथी होती हैं। उनसे मध्य में मानस्तम्भ होते हैं। उनपर प्रतिमाएँ होती हैं। सब वहां पूजन करते हैं। उस भूमि को "आस्थानांगण" कहते हैं। मानस्तम्भों से आगे चार दिशा में सरोवर होते हैं। फिर पहला कोट सफेद चांदी के समान होता है। इसके चारों ओर खातिका (खाई) होती है। खातिका क[illegible] ों तरफ बन होता है। कोट के

चारों दिशाओं में बृहताकार चार द्वार होते हैं। इन पर व्यन्तर जाति के देव द्वारपाल की तरह शस्त्र लिए खड़े रहते हैं। द्वारों के भीतर जाकर ध्वजापीठ है। चारों दिशाओं में चार करोड़ अड़सठ लाख छत्तीस हजार कुछ अधिक ध्वजाएँ होती हैं। फिर स्वर्णमयी दूसरा कोट है। इसके द्वारों पर हाथ में बेत लिए भवनवासी देव खड़े रहते हैं। फिर कल्पवृक्षों के वन है। वहां मुनि व देवों के बैठने योग्य सभागृह है। फिर तीसरा कोट स्फटिक मणिमयी है। इसके द्वारों पर कल्पवासी देव द्वारपाल वत् खड़े रहते हैं। फिर आगे लतागृह आदि हैं। अनेक स्तूपादि होते हैं। इसी के भीतर मध्य में तीन पीठ पर श्रीमंडप होता है। मध्य में गंधकुटी है उसके चारों तरफ १२ सभाएँ होती हैं, जिनमें क्रम से (१) मुनिगण (२) कल्पवासीदेवी (३) आर्यिकाएँ (४) ज्योतिषी देवी (५) व्यन्तरदेवी (६) भवनवासी देवी (७) भवनवासी देव (८) व्यंतरदेव (९) ज्योतिषीदेव (१०) कल्पवासी देव (११) मनुष्य (१२) पशुगण बैठते हैं। ये चारों तरफ होती है।

क्या इस प्रकार के समवशरण की रचना और दिव्य-देशनारूप वैभव किसी भी तथाकथित देव को नसीब हुआ अर्थात् कभी भी नही ?

The glory, which Thou attained at the time of giving instruction in religious matters, is attained, O Jinendra ! by nobody else. How can the lustre of the shining planets and stars be so (bright) as the darkness-destroying effulgence of the sun ? 37.

× × ×

Thus no other gods can aspire to resemble you in superhuman excellence which is the distinctive characteristic of your instructive style of expounding Tatvas. How can the light of stars possess the same faculty of destroying darkness as is owned by the sun. 37

× × ×

मूल-श्लोक (हस्तिमद भंजक तथा वैभव वर्द्धक)

श्च्योतन्मदाविल - विलोल - कपोलमूल—
मत्तभ्रमद् भ्रमर - नाद - विवृद्ध-कोपम् ।
ऐरावताभमिभमुद्धतं[1] - मापतन्तं,
दृष्ट्वा भयं भवति नो भवदाश्रितानाम् ।।३८।।

हस्ति आतंक से मुक्त भगवद्-भक्त

लोल कपोलों में झरती है, जहाँ निरन्तर मद की धार ।
होकर अति मद मत्त कि जिस पर, करते हैं भौंरे गुंजार ।।
क्रोधासक्त हुआ यों हाथी, उद्धत ऐरावत सा काल ।
देख भक्त छुटकारा पाते, पाकर तव आश्रय तत्काल ।।३८।।

---

१. "उत्कटम्" भी पाठ है ।

अन्वयः

(भगवन्) भवदाश्रितानाम् श्च्योतन्मदाविलविलोलकपोलमूलमत्तभ्रमद्-भ्रमरनादविवृद्धकोपम् ऐरावताभम् आपतन्तम् उद्धतम् इभम् दृष्ट्वा भयम् नो भवति ।

शब्दार्थः

भवदाश्रितानाम्—आपके शरणागत पुरुषों को ।

विशेषार्थ:—**भवत्**—आपकी, **आश्रित**—शरण में आए हुए वही हुआ **भवदाश्रित** ।

श्च्योतन्मदाविलविलोलकपोलमूलमत्तभ्रमद्भ्रमरनादविवृद्धकोपम्—झरते हुए मद-जल (गन्धयुक्त द्राव) से जिसके गण्डस्थल (गण्ड प्रदेश) मलीन, कलुषित तथा चंचल हो रहे है और उन पर उन्मत्त (बेसुध) होकर मँडराते हुए काले रंग के भौंरे अपने गुञ्जन से जिसका क्रोध बढ़ा रहे हैं ऐसे ।

विशेषार्थः—**श्च्योतत्**—चू रहे, झर रहे, ऐसे **मद**गंध युक्त द्राव से **आविल**—कलुषित, दूषित, मलिन बना हुआ और **विलोल**—चचल ऐसा **कपोलमूल**— गण्ड-प्रदेश (गण्डस्थल) कनपटी पर **मत्त**—उन्मत्त, मदान्ध, बेसुध होकर **भ्रमद्**-मंडरा रहे ऐसे **भ्रमरनाद**—भौंरों की गुजन से गुनगुनाहट से **विवृद्ध**—बढ़ गया है, **कोप**—क्रोध जिसका ऐसा वही हुआ **श्च्योतन्मदाविलविलोल कपोलमूलमत्त-भ्रमद्भ्रमरनादविवृद्धकोप** ।

ऐरावताभम्—ऐरावत हाथी जैसा आकार वाला मोटा अथवा ऐरावत के समान है आभा जिसकी ऐसा ।

विशेषार्थः—**ऐरावत**—के जैसी आभा जिसकी वही हुआ **ऐरावताभ्**—यहाँ आभा शब्द सामान्य सूचित करने वाला है । ऐरावत अर्थात् इन्द्र का हाथी जो कद में, आकार में बहुत बड़ा विशालकाय होता है ।

आपतन्तम्—सामने आते हुए ।

'आपतन्तं आगच्छन्तं'

उद्धतम्—उद्दण्ड, उच्छृङ्खल, अवश, अविनीत, अशिक्षित, दुर्दान्त ।

इभम्—हाथी को ।

दृष्ट्वा—देख कर ।

भयं नो भवति—भय उत्पन्न नहीं होता ।

भावार्थ

हे अभयङ्कर !

साक्षात् ऐरावत के समान भीमकाय कोई विकराल और निरंकुश हाथी क्रोध से मतवाला होगया है क्योंकि उसके कपोलों से झरते हुए गन्ध युक्त द्राव पर मडराते हुए भौंरे गुन-गुन कर के कोलाहल कर रहे हैं। ऐसा बिगड़ा हुआ उच्छृङ्खल, अवश हाथी भी जब आपके शरणागत के सन्मुख आता है तो वह आस्थावान् भक्त उससे किञ्चित मात्र भी भयभीत नहीं होता।

विवेचन

अभी तक भक्त शिरोमणि मुनिवर्य मानतुंग जी ने अपने परमाराध्यदेव श्री आदिनाथ भगवान की स्तुति वन्दना भाव पूर्वक की है। अब इस श्लोक से प्रारम्भ करके अन्तिम श्लोक तक वे उन लौकिक और तात्कालिक सफलताओं का वर्णन करेंगे जो श्री जिनेन्द्रदेव की शरण में आए हुओं को, उनका कीर्तन करने वाले भक्तों को, नामस्मरण करने वालों को प्राप्त होती हैं। अर्थात् अभी तक अरहंत प्रभु के गुणों की भाव पूजा मुनिश्री के द्वारा की गई। अब उस भाव पूजा के फल पर प्रकाश डाला जा रहा है।

कवि कहते है—कि हे देवाधिदेव ! जिसने भी आपका आश्रय ग्रहण कर लिया है उसे किसी भी प्रकार का भय नहीं रहता ! यहां तक कि क्रोधोन्मत्त विकराल हाथी जिसके कपोलों से मद चू रहा हो और उस पर भौंरे मडरा रहे हों। फल स्वरूप उसका क्रोध भड़क रहा हो ऐसा हाथी भी आपके शरणागत भक्त का कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता।

हाथी एक भीमकाय्य निरंकुश पशु होता है। उसे वश में करना वस्तुत: अत्यन्त कठिन है। इतने पर भी यदि वह क्रोध से मतवाला हो जाता है तो चारों ओर विध्वंस का दृश्य उपस्थित हो जाता है। भगवान महावीर स्वामी के बाल्यकाल का एक पौराणिक आख्यान है, कि उन्हें देखकर एक निरंकुश क्रोधोन्मत्त विकराल हाथी अपनी पाशविकता छोड़कर सौम्य-शान्त बन गया था। इसी भाँति भरत ने भी निरंकुश त्रिलोक मंडन हाथी को सहज ही में वश कर लिया था। अस्तु। महावीर और भरत तो पौराणिक पुरुष थे। उनका आध्यात्मिक प्रभाव ही कुछ और होता है कि विश्व भी उनके चरणों में झुक जाता है। यहां स्तुतिकार कहते हैं कि एक सामान्य भक्त भी आपकी शरण में आने से निर्भय हो जाता है और मतवाला हाथी उसके सामने सौम्य शांत हो जाता है। वैसे तो हमें ज्ञात है कि सम्यक्दृष्टि भक्त को सप्त-भय होते ही नहीं

क्योंकि उसके हृदय में अनन्त शक्तिमान परमात्मा का आस्तिक्य भाव विद्यमान है। अतएव उस समय वह स्वयं ही अत्यन्त शक्तिशाली होता है। शान्ति और सौम्यता ही भक्त की शक्ति है और शान्ति ने सदैव ही क्रोध पर विजय प्राप्त की है। इस मनोवैज्ञानिक आधार पर बर्बर पशु यदि अपनी पाशविकता छोड़ दें तो इसमे कोई आश्चर्य नही। भगवद्भक्त की शक्ति सचमुच मे अतुलनीय होती है।

Those, who have resorted to You, are not afraid even at the sight of the Airavata-like infuriated elephant, whose anger has been increased by the buzzing sound of the tintoxicated bees hovering about its cheeks soiled with the flowing rut, and which rushes forward. 38.

× × ×

Your devotees are not terrified even in the least when they see themselves attacked by the unruly and huge (Aravat-like) elephant, provoked to anger by the humming of bees ; which being excited, fly near the frontal globes of the elephant, which are dirty and unsteady on account of the dripping down of ichor. 38

× × ×

मूल श्लोक (सिंह-शक्ति-संहारक)

भिन्नेभकुम्भ-गलदुज्ज्वल-शोणिताक्त—
मुक्ताफल-प्रकर-भूषित-भूमिभागः ।
बद्धक्रमः क्रमगतं[1] हरिणाधिपोऽपि:
नाक्रामति क्रमयुगाचलसंश्रितं[2] ते ॥३९॥

सिंह-भय से विमुक्त जिनेन्द्र-भक्त

क्षत विक्षत कर दिये गजों के, जिसने उन्नत गंडस्थल ।
कान्तिमान गज-मुक्ताओं से पाट दिया हो अवनीतल ॥
जिन भक्तों को तेरे चरणों के गिरि की हो उन्नत ओट ।
ऐसा सिंह छलांगे भर कर, क्या उस पर कर सकता चोट ॥३९॥

---

१. "क्रमगतान्" ऐसा भी पाठ है । २. "चल मश्रितास्ते" ऐसा भी पाठ है ।

अन्वयः

भिन्नेभकुम्भगलदुज्ज्वलशोणिताक्तमुक्ताफलप्रकरभूषितभूमिभागः बद्धक्रमः हरिणाधिपः अपि क्रमगतम् ते क्रमयुगाचलसंश्रितम् न आक्रामति ।

शब्दार्थः

भिन्नेभकुम्भगलदुज्ज्वलशोणिताक्तमुक्ताफलप्रकरभूषितभूमिभागः— विदीर्ण किये गये हाथियों के गण्डप्रदेशों से गिरे हुए धवल, उज्ज्वल और रक्त प्लावित गज मुक्ताओं के समूह से सुशोभित कर दिया है भूतल-तल को जिसने ऐसा...

विशेषार्थ :– **भिन्न** - भेद किये हुए, विदारे हुए, विदीर्ण किये हुए। **इभ**—हाथी के, **कुम्भ**—गण्डस्थल (हाथी के सिर के दोनों ओर का ऊपर वाला भाग) जिसमें से, **गलत**—निकल रहे, गिर रहे, **उज्ज्वल**—धवल-श्वेत तथा **शोणित**—रक्त से **अक्त**—लिप्त, सने हुए, ऐसे **मुक्ताफल**—गजमुक्ता (मदोन्मत्त हाथियों के मस्तकों में मोती उत्पन्न होते हैं जिन्हें गजमुक्ता कहते है) उसका **प्रकार**—समूह उससे **भूषित**—सुन्दर, सुशोभित बना दिया है **भूमिभागः**—पृथ्वी का भाग जिसने ऐसा...

बद्धक्रमः[1]—अपने पराक्रम को समेट कर आक्रमण करने के लिए—छलांग भरने के लिए कटिबद्ध-सन्नद्ध ऐसा...

विशेषार्थ :—**बद्धः**— समेटा हुआ, बांधा हुआ, तैयार किया हुआ **क्रम**—पराक्रम वही हुआ **बद्धक्रम** ।

हरिणाधिपः—सिंह ।

विशेषार्थ :– **हरिण**—पशु जिसका **अधिप**—अधिपति-स्वामी, वह हुआ **हरिणाधिप** अर्थात् सिंह ।

अपि—भी ।

क्रमगतम्—छलांग मार चुका हुआ, चंगुल में फँसा हुआ, पंजों के बीच पड़ा हुआ ।

विशेषार्थ :– **क्रम** - पैर, पजे मे **गत**—गया हुआ अर्थात् फँसा हुआ वह हुआ **क्रमगत** ।

ते—तुम्हारे, आपके ।

क्रमयुगाचलसंश्रितम्—दोनों चरणरूपी पर्वत के आश्रित भक्त पुरुष पर ।

विशेषार्थ :—**क्रम**—पद उसकी **युग**—युगल जोड़ी वह हुआ **क्रमयुग** वही

१—'बद्धक्रमः" का "बंधे हुए हैं पाँव जिसके" यह भी तात्पर्य है ।

हुआ अचल—पर्वत, सो हुआ क्रमयुगाचल उसके संश्रितम्—आश्रित, वही हुआ क्रमयुगाचलसंश्रित उस पर ।

न आक्रामति—आक्रमण नहीं करता, नहीं सताता ।

भावार्थ

जिस बलिष्ठ सिंह ने, मन्दोन्मत्त बड़े बड़े विशालकाय हस्तियों के उन्नत गण्डस्थलों को, अपने नुकीले नाखूनों से क्षत-विक्षत करके उनसे निकलने वाले रुधिर से सने गज मुक्ताओं को बिखेर कर अवनीतल को अलंकृत कर दिया हो और अपने शिकार पर छलांग भरकर आक्रमण करने के लिए उद्यत ऐसे दहाड़ते हुए खूंखार सिंह के पंजों के बीच पड़े हुए आपके परम भक्तों पर वह वार नहीं कर सकता । अर्थात् हिंसक मृगपति आपके भक्त के समक्ष अपनी नैसर्गिक क्रूरता को भी छोड़ देता है ।

विवेचन

भक्त कवि श्री मानतुंग जी स्तुति के पावन क्षणों में जब जब आत्मानुभूति का साक्षात्कार करते हैं तब तब निश्चयत: वे स्व केन्द्रित शुद्धोपयोग की नैसर्गिक भूमिका में टिकते हैं किन्तु अस्थिरता के कारण पुन: प्रशस्तराग की व्यावहारिक भूमिका पर जब उतरते हैं तो पर से निषेधात्मक शुभ भावों की धारा उनके भावुक हृदय मे बहती है । यही कारण है कि भक्तामर-काव्य के इस खंड में शरणागत भक्त की लोकोत्तर निर्भयता के साथ ही साथ भौतिक विजयों एवं उपलब्धियों का उल्लेख भी समानान्तर स्तर पर वे करते जा रहे है । आचार्य-श्री कहते है कि न केवल मतवाले हाथी ही भक्त के वशीभूत हो जाते है अपितु दुर्दान्त खूंख्वार सिंह भी आपके भक्त के ऊपर झपटते-झपटते रुक जाता है । यहां पर कवि रौद्र, भयानक, वीर, शृङ्गार, करुण, बीभत्स, शान्त, वात्सल्य और हास्य रस के साहित्यिक दृश्य एक ही चित्रपट पर प्रस्तुत करते हैं। देखिये नवरस के प्रतीक पात्र किस प्रकार दृश्य काव्य के मंच पर उतारे जा रहे हैं : —

(१) मदोन्मत्त भीमकाय विकराल हाथी । —भयानक-रस

(२) चौकड़ी भरता हुआ आक्रमणोद्यत पराक्रमी सिंह । —वीर-रस

(३) अपने तेज नाखून वाले पंजों से उस विकराल उन्मत्त हाथी के गण्डस्थल को विदीर्ण करने वाला सिंह । —रौद्र-रस

(४) मृत प्राय गजराज । —करुण-रस

(५) खून में सने हुए गजमोती। —बीभत्स-रस

(६) श्वेत एव रक्तवर्ण से जगमगाते हुए मोतियों के गिरने से वसुन्धरा का अनुपम शृंगार। —शृंगार-रस

(७) श्री जिनवरेन्द्रके प्रशान्त गम्भीर और उत्तुग चरण युगलरूपी पर्वत की ओट। शान्त-रस

(८) आपकी उत्कृष्ट भक्त वत्सलता। —वात्सल्य-रस

(९) निर्भयतारूपी आनन्द की प्राप्ति। - हास्य-रस

अन्ततोगत्वा उनके कहने का अभिप्राय केवल इतना ही है कि जो भक्त आस्तिक आपके चरण-युगल (निश्चय और व्यवहार चारित्र) रूपी पर्वत की ओट होता है, उसपर दहाड़ते हुए बर्बर सिंह का पराक्रम भी विफल हो जाता है। अर्थात् आपकी सर्वोत्कृष्ट मानवता के चरणों मे दुर्दान्त और बर्बर पाशविकता भी अपने घुटने टेक देती है। यह वस्तुत: आपका आध्यात्मिक प्रभाव है. जो भक्तो को भौतिक लाभ के लिए प्रयुक्त होता है।

Even the lion, which has decorated a part of the earth with the collection of pearls besmeared with bright blood flowing from the pierced heads of the elephants though ready to pounce, does not attack the traveller who has resorted to the mountain of Thy feet. 39.

× × ×

The lion (King of the beasts) who has aporned the ground by (scattering) lot of white pearls, which, being covered with blood, have fallen down from the rent temples of an elephant and has assumed a posture for assailing, can not attack upon men, even fallen in his clutches after their having taken refuge under your mountain like feet 39.

× × ×

मूल-श्लोक (सर्वाग्नि-शामक)

कल्पान्तकाल-पवनोद्धत वन्हिकल्पं,
दावानलं ज्वलित मुज्ज्वलमुत्स्फुलिङ्गम् ।
विश्वं जिघत्सुमिव सम्मुखमापतन्तं,
त्वन्नामकीर्तनजलं शमयत्यशेषम् ॥४०॥

जिनेन्द्र नाम स्मरण से दावाग्नि शमन

प्रलय काल की पवन उठाकर जिसे बढ़ा देती सब ओर ।
फिकें फुलिंगे ऊपर तिरछे, अंगारों का भी हो जोर ॥
भुवनत्रय को निगला चाहे, आती हुई अग्नि भभकार ।
प्रभु के नाम-मंत्र-जल से वह बुझ जाती है उसही बार ॥४०॥

अन्वयः

त्वन्नामकीर्तनजलम् कल्पान्तकालपवनोद्धतवन्हिकल्पम् ज्वलितम् उज्ज्वलम् उत्स्फुलिङ्गम् विश्वम् जिघत्सुम् इव सम्मुखम् आपतन्तम् दावानलम् अशेषम् शमयति ।

शब्दार्थः

त्वन्नामकीर्तनजलम्—आपके नाम का कीर्तन (स्मरण) रूपी जल (प्रथमांत एक वचन)

विशेषार्थ :—**त्वत्**—आपके, **नामकीर्तन**—नामस्मरण रूपी **जल**—सलिल, वही हुआ **त्वन्नामकीर्तनजल** ।

कल्पान्तकालपवनोद्धतवन्हिकल्पम्—प्रलयकाल की महावायु के तेज झकोरों से उत्तेजित हुई—धधकती हुई प्रचण्ड आग के समान (द्वितीयांत एक वचन)

विशेषार्थ :—**कल्पान्तकाल**—प्रलयकाल, उस समय का **पवन**—वेगयुक्त महावायु, उससे **उद्धत**—उग्र-उत्कट उत्तेजित भभकती हुई **वन्हि**—अग्नि—के **कल्प**—जैसा समान सदृश वही हुआ **कल्पान्तकालपवनोद्धतवन्हिकल्प** ।

ज्वलितम्—भडभडाट करके जलती हुई-धधकती हुई ।

उज्ज्वलम्—निर्धूम होने से उज्ज्वल

उत्स्फुलिङ्गम्[1]—चारों ओर ऊपर को उड़ती हुई, फेंकती हुई चिनगारियों से युक्त

विश्वम्—संसार को- जग को—जगत को

जिघत्सुम् इव—निगल जाने को—नाश करने की इच्छा लिए हुए की तरह ।

सम्मुखम्—सामने-समक्ष में ।

आपतन्तम्—आती हुई ।

दावानलम्—दावाग्नि को—जंगली आग को

अशेषम्—सम्पूर्ण रूप से, पूरी तरह से ।

शमयति—शान्त कर देता है—बुझा देता है ।

१—"उत्फुलिङ्ग" भी पाठ मिलता है, परन्तु कोष ग्रन्थों में सकारयुक्त फुलिंग शब्द सिद्ध होता है अतः "उत्स्फुलिङ्ग" ही पढना उचित है ।

भावार्थः

हे अग्रजिन !

सामान्य अग्नि की बात तो दूर प्रत्युत जंगल में लगी हुई वह प्रचण्ड आग भी जो कि प्रलय कालीन तीव्र हवा के झकोरों से धधक रही हो। जिसमें से चारों ओर चिनगारियाँ उड़-उड़ कर फैल रही हों तथा जो समस्त भूमण्डल को निगल कर भस्मसात करती हुई सी प्रतीत होती हो। वह भी आपके पवित्र नाम-स्मरण रूपी जल से सर्वथा बुझ जाती है—शान्त हो जाती है। अर्थात् आपका नाम-स्मरण-जल का कार्य करता है।

विवेचन

यह तो सर्व विदित तथ्य है कि सर्व भक्षी अग्नि ने संसार के किसी भी पदार्थ को भस्मसात करने से कभी छोड़ा नहीं। जो भी उसकी लपेट में आया उसी को उसने अपना ग्रास बनाया। अपनी लपलपाती हुई लपटों की जिह्वा से उसने सभी को आत्मसात् करके स्वाहा कर दिया। सारा संसार भी यदि ईंधन बनकर उसकी क्षुधा को शान्त करना चाहे तो नहीं कर सकता। ईंधन पाकर तो वह और भी अधिक भभकती है—उत्तेजित होती है। आग की एक कणिका अर्थात् चिनगारी भी कभी इतना विकराल रूप धारण कर लेती है कि गाँव के गाँव स्वाहा हो जाते हैं। उसे बुझाने के लिए कुएँ के कुएँ खाली हो जाते है। फिर भी वह बुझती नहीं। रेत, बालू आदि का उपयोग भी उसकी प्रचण्डता का शमन करने के लिए किया जाता है परन्तु वह भी विफल देखा जाता है। आधुनिक अग्नि-शामक कलें भी उसे बड़ी कठिनाई से शान्त कर पाती हैं। यह तो हुई सामान्य अग्नि की बात जिसकी चर्चा आचार्य मानतुंग जी यहाँ नहीं कर रहे है। वे तो उस प्रचण्ड दावानल—जंगल की आग की ओर संकेत करते हुए हमारा ध्यान केन्द्रित कर रहे हैं कि जिसे शांत करने के लिए समस्त मानवीय पुरुषार्थ हथियार डाल देते है। सरिताओं और समुद्रों का जल भी उसे शान्त करने में असमर्थ रहता है। एक बार की लगी हुई दावाग्नि से जंगल के जंगल स्वाहा हो जाते हैं। उसे बुझाने के लिए तो सिर्फ दैवी कृपा ही चाहिए और वह भी घनघोर मूसलाधार वर्षा !!

यहाँ पर आचार्यश्री आज कल की जंगल में लगी हुई आग की चर्चा नहीं कर रहे हैं बल्कि वे तो उस प्रचण्ड विकराल दावानल की बात कर रहे हैं जो कि प्रलय काल में चलने वाली तेज आँधी के झकोरों से भभक-भभक उठती हो। एक ही बार में अपनी लपटों से समस्त भूमण्डल को निगलने

की इच्छा रखती हो। इतनी भयावह हो कि जिसकी चिनगारियाँ चारों ओर आड़े-तिरछे, ऊपर-नीचे की ओर उचट-उचट कर फैल रही हों। उसे बुझाने की सामर्थ्य भला किसमें है ? दैव में भी जब नहीं तो मनुष्य की क्या बिसात ? दुनियाँ में ऐसा कोई अग्नि-शामक यंत्र और मंत्र नहीं जो इस पावक की क्रोधाग्नि को शान्त करदे ! इन्द्रदेव की दैवी मेघमाला द्वारा होने वाली घन-घोर मूसलाधार वर्षा भी सर्वभक्षी हुताशन को बुझाने में असमर्थ है। इतने भयानक और विकराल दृश्य को उपस्थित करने के उपरान्त आचार्य महाराज ऐसी भयावह अग्नि के शमन करने का एक अत्यन्त सुगम उपाय प्रस्तुत करते हैं कि लौकिक जल से तो ऐसी बीभत्स और प्रचण्ड अग्नि शान्त नहीं होगी। वह तो आपके (वीतराग प्रभु के) नाम-स्मरण रूपी जल से ही क्षण भर में पूरी तरह बुझ सकती है। आपके पावन नाम का स्मरण मात्र ही अनोखा, अद्‌भुत, बेमिशाल अग्नि शामक यंत्र है—मंत्र है !!! अर्थात् जो आपको द्रव्य-गुण-पर्याय से ध्याता हुआ अपने को ही ध्यान का ध्येय बनाता है, उसको विकराल से विकराल अग्नि का भी भय नहीं रहता। उसके हृदय में शान्ति सुधा का वह शीतल सलिल बहता है कि जिससे भय-क्रोध आदि संतापों का कोई अस्तित्व ही नहीं रहता।

यद्यपि लोक में अग्नि का विरोधी तत्त्व जल को कहा गया है परन्तु वह भी अग्नि से परास्त होकर शोषण कर लिया जाता है। इसलिए आचार्य मान-तुंग जी ने लौकिक जल की निःसारता और अलौकिक जल अर्थात् भगवन्नाम स्मरण की उपादेयता यहाँ सिद्ध की है। अन्तस में तो नामस्मरण ही निश्चयतः जल है परन्तु बाह्य में वही मंत्रित जल के प्रतीक रूप में दिखाई देता है। उसके छिड़कने मात्र से सामान्य अग्नि ही नहीं, दावाग्नि भी एकदम शान्त हो जाती है।

संसार के समस्त प्राणी ऐसी ही दावाग्नि में फँसे हुए हैं। इस भव-अटवी में चारों ओर आग लगी है—निकलने का कोई मार्ग नहीं !! और आग को बुझाने के सभी पुरुषार्थ निष्फल हो रहे है ! केवल वे ही इस दावाग्नि से सुरक्षित हैं जिनके निष्कपट हृदय में अपाके पावन नाम का भाव-स्मरण हो रहा है। वे संसार की राग की आग में नहीं जल रहे हैं बल्कि वीतरागता और साम्यरस के शीतल सरोवर में निमग्न हैं। ऐसे श्रद्धालु सम्यक्त्वी भक्तों को न भय है, न भव है, न संताप है। उनकी दृष्टि में तो भवों के भावों का अभाव है।

The conflagration of the forest, which is equal to the fire fanned by the winds of the doomsday and which emits bright burning sparks and which advances forward as if to devour the world, is totally extinguished by the recitation of Thy name. 40

The repeating of your name is a water, capable to put out the conflagration of a forest, which, rising up infront kindled by wind, (blowing) at the time of deluge, tossing up sparks and blazing up in flames, is, as it were, going to swallow up the whole creation. 40.

मूल-श्लोक (भुजंग भय भंजक)

रक्तेक्षणं समद - कोकिल - कण्ठ - नीलं,
क्रोधोद्धतं फणिनमुत्फणमापतन्तम् ।
आक्रामति क्रमयुगेन निरस्तशङ्क—
स्त्वन्नाम-नागदमनी' हृदि यस्य पुंसः ॥४१॥

भुजङ्ग भय हारिणी जिन नाम-नाग दमनी

[illegible]

कंठ कोकिला सा अति काला, क्रोधित हो फण किया विशाल,
लाल-लाल लोचन करके यदि, झपटे नाग महा विकराल ॥
नाम-रूप तव अहि दमनी का, लिया जिन्होंने हो आश्रय,
पग रख कर निःशंक नाग पर, गमन करें वे नर निर्भय ॥४१॥

१— 'नागदमनो' यह भी पाठ है ।

अन्वयः

यस्य पुंसः हृदि त्वन्नामनागदमनी (सः) निरस्तशङ्कः रक्तेक्षणम् समद-कोकिलकण्ठनीलम् क्रोधोद्धतम् आपतन्तम् उत्फणम् फणिनम् क्रमयुगेन आक्रामति ।

शब्दार्थः

यस्य—जिस (के)

पुंसः—पुरुष के—मानव के—मनुष्य के ।

हृदि—हृदय में—चित्त में—मानस में ।

त्वन्नामनागदमनी—आपके नाम रूपी नागदमनी सर्प को शान्त कर देने वाली जडी नागदौन (अस्ति) है।

विशेषार्थ :—त्वत्—आपके नाम—उस रूपी नागदमनी वही हुआ त्वन्नामनागदमनी ।

नागदमनी एक प्रकार की जड़ीबूटी होती है। जिसे नागदौन भी कहते है। यह शिमले तथा हजारे में पाया जाने वाला छोटे आकार का एक पहाड़ी वृक्ष जिसकी लकडी भीतर से सफेद और मुलायम होती है। लोगों का विश्वास है कि इस लकड़ी के पास सांप नहीं आते। कहीं-कहीं इसे नागदौना भी कहते हैं। नागदौना एक पौधा होता है जिसमें डालियां और टहनियां नहीं होती। इसकी पत्तियां हाथ भर लम्बी तथा दो या ढाई अंगुल चौड़ी होती हैं। वैद्यक के अनुसार यह चरपरा, कडुआ, हलका, त्रिदोषनाशक तथा सूजन प्रमेह ज्वर को दूर करने वाला होता है। यह विषनाशक होता है। इसके द्वारा सर्प को वश में किया जाता है—अथवा सर्प को दमन करने वाली ऐसी जंगली विद्या जिसे नागदमनी कहा जाता है।

(सः) (वह मनुष्य)

निरस्तशङ्कः—भय रहित होता हुआ—शंका रहित होता हुआ।

विशेषार्थ :—निरस्त—दूर हुई है शङ्का जिसकी वही हुआ निरस्तशङ्क अर्थात् निःशङ्क-निर्भय होता हुआ।

रक्तेक्षणम्—लाल आँखों वाले—रक्तवर्ण नेत्रों वाले।

विशेषार्थ :—रक्त—लाल रंग की ईक्षण-आँखें हैं जिसकी वही हुआ रक्तेक्षण। (द्वितीयान्त एक वचन)

समदकोकिलकण्ठनीलम्—उन्मत्त कोयल की ग्रीवा के समान काले।

विशेषार्थ :—मद सहित वही हुआ समद—उन्मत्त ऐसा कोकिल—कोयल

उसके कण्ठ—ग्रीवा के समान नील—श्यामवर्ण वाला वह हुआ समदकोकिल कण्ठनील (द्वितीयान्त एक वचन)।

क्रोधोद्धतम्—क्रोध (गुस्से) के कारण उद्दण्ड—अत्यन्त क्रोधायमान।

विशेषार्थ:— क्रोध—गुस्से से उद्धत—उदण्ड हुआ वह क्रोधोद्धत (द्वितीयान्त एक वचन)।

आपतन्तम्—सामने आते हुए (द्वितीयान्त एक वचन)।

उत्फणम्—ऊपर की ओर फन उठाये हुए (द्वि० एक वचन)।

विशेषार्थ:—उत्—ऊपर की ओर उठाये हुए है। फण—फन (पत्ते के से आकार में फैलाया हुआ सांप का सिर)

फणिनम्—सर्प को-भुजङ्ग को (द्वितीयान्त एक वचन विशेषण)।

क्रमयुगेन—दोनों पैरों से।

आक्रामति—लांघ जाता है।

भावार्थ

हे विषापहारिआद्यदेव!

जिस पुरुष के हृदय में आपके नामस्मरण स्वरूपी नागदमनी जड़ी है। वह अपने दोनों पैरों से उस लाल-लाल आँखों वाले विकराल कृष्ण सर्प को भी नि:शंक-निर्भय होकर लांघ जाता है जिसका वर्ण मतवाली कोयल के कण्ठ के समान एकदम काला है और जो क्रोधोद्धत होकर अपने फण को ऊपर की ओर उठाता हुआ डसने के लिए सीधा बढ़ा चला आ रहा है।

अर्थात् हे भगवन्! आपका निरन्तर कीर्तन करने वाला भक्त उस भयंकर नाग पर दोनों पांव देकर निर्भय चला जाता है।

विवेचन

भक्तामर स्तोत्र के समान ही एक और महाप्रभावक स्तोत्र संस्कृत स्तोत्र साहित्य में सुप्रचलित है जो विषापहार स्तोत्र कहा जाता है। उसकी रचना की पृष्ठ भूमि में भी सत्य की धरातल पर स्थित एक चमत्कारी ऐतिहासिक कथावस्तु विद्यमान है। आठवीं-नवीं शताब्दी का मध्ययुग वस्तुत: एक ऐसा भारतीय युग था जिसमें शैव, वैष्णव, जैन एवं बौद्ध धर्म में परस्पर संप्रदाय-गत प्रतिस्पर्द्धा मची हुई थी। तत्कालीन राजर्षि संत-श्रमण-महात्मा आदि राजा और प्रजा को अपने प्रभाव में लाने के लिए विविध प्रकार के मंत्र-तंत्र-औषधि आदि का प्रयोग अपनी साधनाओं-तपस्याओं और ऋद्धियों के बल पर

करने के लिए अग्रसर थे। दैवी चमत्कारों से आकर्षित होकर राजा और प्रजा समेत सारा देश का देश ही तद्धर्मानुयायी हो गया था।

विषापहार स्तोत्र के रचयिता श्री धनञ्जय कवि भी उस युग के एक ऐसे ही भक्त थे जिन्होंने अपनी भावपूर्ण जिनेन्द्रभक्ति द्वारा अपने उस मरणासन्न इकलौते शिशु को पुनर्जीवन प्रदान किया था जिसे कि एक भयकर काले नाग ने डस लिया था। तात्पर्य यह कि भावपूर्वक स्मरण किया हुआ यह एक ऐसा मंत्र है कि जिसके प्रभाव से सर्पादिक विषधर जन्तु द्वारा डसे जाने पर भी उनकी मूर्च्छा या बेहोशी दूर हो जाती है। कहा भी है—

विघ्नौघा: प्रलयं यान्ति, शाकिनी-भूत-पन्नगा: ।
विषं निर्विषतां याति, स्तूयमाने जिनेश्वरे ॥

यही नहीं बल्कि अपने चैतन्य स्वरूप के विस्मरण स्वरूप जो अनादि-कालीन मूर्च्छा जीव के साथ लगी है वह भी स्वरूप स्मरण से तुरन्त दूर हो जाती है—कहा भी है:—

"अनादीनी मूर्च्छा विषतणी त्वरा थी उतरती" (गुजराती)

आध्यात्मिकता के बल पर यह तो हुआ मंत्र साधकों का चमत्कार। इसके अतिरिक्त मणि-औषधि और रसायन साधकों के भौतिक चमत्कार भी लोक में बहुलता से देखे सुने जाते हैं। ऐसी-ऐसी जड़ी-बूटियाँ दुनिया में विद्यमान हैं जिनके प्रयोग से सर्पादिक जहरीले जन्तुओं के विष भी निष्प्रभाव हो जाते हैं। आयुर्वेद शास्त्र में एक ऐसी जड़ी बूटी का प्रकरण है जिसको हाथ में लिए रहने से ही सर्प का विष अपना कुछ भी असर नहीं करता। संस्कृत में उसे नागदमनी और बोलचाल की भाषा में उसे नागदौन कहा जाता है। भले ही इस नागदमनी जड़ी। ने आज अपना वह प्रभाव खो दिया हो तो भी हम देखते हैं कि अभी भी बहुत से सपेरे ऐसे हैं जो मंत्र तंत्र विद्या से अथवा विविध जंगली जड़ीबूटियों के द्वारा सर्प से दंशित व्यक्ति को अल्पकाल में निर्विष कर देते हैं।

संसार के क्रूर प्राणियों में जहाँ सिंहादिक की गणना प्रमुख रूप से होती है वहाँ विषधर प्राणियों में काले नाग का नाम भी मुख्यता से लिया जाता है। काले नाग को देखने मात्र से हृदय काँप जाता है। डसे जाने पर तो क्वचित् कदाचित् ही कोई मनुष्य जीवित बच सकता है। साक्षात् यमराज का वह अवतार होता है। दुर्भाग्य से यदि उस पर पैर पड़ जाय तो वह अपना बदला निश्चित ही अपने वैरी से लेता है। उसके क्रोध का ठिकाना नहीं रहता

आँखें लाल-लाल हो जाती हैं। फण को ऊपर उठाकर एकदम अपने शत्रु पर वह झपटता है !!

आचार्य मानतुंग जी इस श्लोक में संकेत करते हैं कि कोई फणधर नाग इतना काला होता है जितना कि मतवाली कोयल का कण्ठ !! फिर यदि उस पर पैर पड़ जाये तो उसके क्रोध का क्या कहना ? वह फण उठा करके पदाक्रांता को कभी भी जीवित नहीं छोड़ता। परन्तु ऐसा सर्प भी उस व्यक्ति का कुछ नहीं बिगाड़ सकता जिसने कि आप के पावन नाम का सहारा लिया हो। वह तो ऐसे भयंकर सर्प को भी निडर होकर जानबूझ कर लाँघ जाता है। क्योंकि उसके पास एक ऐसी जड़ी है जिसके बल पर भयंकर से भयंकर सप भी वशीभूत हो जाता है। नागदमनी जड़ीबूटी तो उसका बाह्य प्रतीकात्मक नाम है, असली जड़ी तो, हे भगवन् ! भाव पूर्वक स्मरण किया गया आपका नाम है। अर्थात् आपके द्रव्य-गुण-पर्याय को लक्ष्य में रखकर जिसने आत्म स्वरूप को पहिचाना उसका ही भव-भ्रमण रूपी विष तुरन्त उतर जाता है।

The man, in whose heart abides the Mantra that subdues serpents, viz, Your name, can interpidly go near the snake, which has its hood expanded, eyes blood-shot, and which is haughty with anger and black like the throanof the passionate cuckoo. 41.

× × ×

A man possessing at his heart Nagdamini of your name, fearlessly treads on a serpant who, being mad with fury and bearing red eyes has raised up its head to file with and whose neck is as black as that of a cuckoo. 41.

× × ×

मूल-श्लोक (युद्ध भय-विनाशक)

वल्गत्तुरङ्ग - गजगर्जित - भीमनाद-
माजौ बलं बलवतामपि[1] भूपतीनाम्।
उद्यद्दिवाकरमयूख - शिखापविद्धं,
त्वत्कीर्तनात्तम इवाशु भिदामुपैति ॥४२॥

संग्राम-भय विनाशक जिन नाम-कीर्तन

जहाँ अश्व की और गजों की, चीत्कार सुन पड़ती घोर।
शूरवीर नृप की सेनायें, रव करती हों चारों ओर॥
वहाँ अकेला शक्तिहीन नर, जपकर सुन्दर तेरा नाम।
सूर्य तिमिर सम शूर सैन्य का, कर देता है काम तमाम ॥४२॥

१—"बलवतामरि" ऐसा भी पाठ है।

अन्वय:

आजौ त्वत्कीर्तनात् बलगत्तुरङ्गगजगर्जितभीमनादम् बलवताम् अरिभूपतीनाम् बलम् उद्यद्दिवाकरमयूखशिखापविद्धम् तम इव आशु भिदाम् उपैति ।

शब्दार्थ:

आजौ—संग्राम में—रणभूमि में-युद्ध स्थल मे—लड़ाई के मैदान मे ।

विशेषार्थ :—**आजि**—युद्ध उसमें, उसके विषय मे । सप्तमी एक वचन ।

त्वत्कीर्तनात्—आपके नाम के कीर्तन से—आपका स्मरण करने से—आपकी स्तुति करने से—आपका वारम्बार नाम जपने से ।

बलगत्तुरङ्गगजगर्जितभीमनादम्—उछल-उछल कर हिनहिनाते हुए घोड़ों और गर्जना करते हुए हाथियों की भयंकर आवाज हो रही है जिसमे ऐसी ।

विशेषार्थ :—**वल्गत्**—उछलते हुए ऐसे **तुरङ्ग**—घोड़े तथा **गज**—हाथी उनके द्वारा **गर्जित**—गर्जना की गई और उससे जिस प्रकार की **भीमनाद**—भयंकर आवाज हो रही है जिसमें ऐसा यह पद बलम् का विशेषण है ।

बलवताम्—पराक्रमी-शक्तिशाली सेनाओं से युक्त ।

विशेषार्थ :—यह पद अरिभूपतीनाम् पद का विशेषण होने से षष्ठी के बहुवचन में प्रयुक्त हुआ है ।

अरिभूपतीनाम्—शत्रु राजाओं की ।

विशेषार्थ :—**अरि**—शत्रु ऐसे वे **भूपति**—राजा वही हुए **अरिभूपति** उनके द्वारा । यह पद षष्ठी के बहु वचन में प्रयुक्त हुआ है ।

बलम्—सैन्य-सेना-फौज ।

उद्यद्दिवाकरमयूखशिखापविद्धम्—उदीयमान दिवाकर की किरणों के अग्र-भाग से भेदे गये ।

विशेषार्थ :—**उद्यत**—उदय होता हुआ ऐसा **दिवाकर**—सूर्य उसकी **मयूख**—किरण उसकी **शिखा**—अग्रभाग उसके द्वारा **अपविद्ध**—दूर किया हुआ वही हुआ **उद्यद्दिवाकरमयूखशिखापविद्ध** ।

यह पद **तमः**—का विशेषण है इससे प्रथमा के एक वचन मे आया है ।

तमः इव—अन्धकार के सदृश ।

आशु—तत्काल-जल्दी से जल्दी । अति शीघ्र ।

भिदाम् उपैति—विनाश को प्राप्त होती है ।

भावार्थ

हे कर्मारिविजेता आदीश्वर !

ऐसे भीषण रणक्षेत्र में, जहाँ कि घोड़े उछल-उछल कर हिनहिना रहे हों। भीमकाय हस्ती भयंकर चिंघाड़ कर रहे हों। शत्रुपक्ष के राजाओं की फौज अत्यन्त शक्तिशाली और अपराजेय हो। तो भी वह आपकी चरण-कृपा से झटपट तितर-वितर हो जाती है। अर्थात् शीघ्र ही नष्ट हो जाती है। मानो कि उदित होता हुआ सूर्य अपनी प्रखर किरणों की नोकों से अन्धेरे को छिन्न-भिन्न कर रहा होता है !!

विवेचन

विविध प्रकार के लौकिक भयों से मुक्ति दिलाने वाले श्लोकों की रचना करने के पश्चात् स्तुति कर्ता मुनिवर्य्य मानतुंग जी ३८ तथा ३९ वें छंद में भीषण रण संग्राम का दृश्य उपस्थित करते हुए कहते हैं कि आपका भक्त भले ही अपराजेय शक्तिशाली शत्रु सैन्य के बीच घिर गया हो, कभी भी परास्त नहीं होता बल्कि सामान्य होते हुए भी शत्रुओं की फौजों को तुरन्त तितर-बितर कर देता है।

महाभारत का युद्ध साक्षी है कि पाण्डव पक्ष अल्प संख्यक, राज्य सत्ता विहीन और साधन हीन होने पर भी अंततोगत्वा विजयी हुआ। इसके विपरीत उनके शत्रुपक्ष वाले कौरव गण न केवल बहु संख्यक सुभट महारथियों से युक्त थे अपितु साम-दाम-दंड-भेद आदि शक्तियों के कूट नीतिज्ञ थे। दुःशासन, दुर्योधन, कर्ण, द्रोण आदि सभी शूरवीर सुभटों की शक्ति एक ओर ही लगी थी। सच-मुच में ऐसे एक पक्षीय सबल शत्रुओं से लोहा लेना और उन्हें जीतना किसी दैवी कृपा का ही फल होता है। वह दैवी कृपा और कुछ नहीं बल्कि साक्षात् नारायण कृष्ण का स्वयं पाण्डव पक्ष की ओर झुकाव था। तात्पर्य यह कि जिसने भगवद्भक्ति का पक्ष लिया वह भले ही असंख्य प्रबल शत्रु सेनाओं के बीच घिर गया हो। भले ही उस पर अनायास जबरदस्त आक्रमण कर दिया गया हो। शत्रु पक्ष के घोड़े उछल-उछल कर हिनहिना रहे हों !! हाथी चिंघाड़ रहे हों !! चारों ओर भाग दौड़ और लूटपाट मची हुई हो ! घोर निराशा का वातावरण हो !! इतने पर भी भक्त यदि अपनी विजय चाहता हो; शत्रुओं को नष्ट कर देना चाहता हो; एक वीर की भाँति अपनी छाती पर ही शत्रु शस्त्रों के वार झेलना स्वीकार करता हो; विवश पीठ दिखाने की स्थिति में हो, तो ऐसे आड़े वक्त में जिसने भी आपका स्मरण किया, कीर्तन किया,

आपका पक्ष ग्रहण किया-वह तत्काल ही प्रबल मे प्रबल शत्रुओं को परास्त कर देता है। शत्रु सैना उसी प्रकार छिन्न-भिन्न हो जाती है जैसे सूर्य की किरणों की नुकीली नोकों से अंधेरा पलायमान हो जाता है। अर्थात् जिसने एक अति शक्तिमान शुद्धात्मा-परमात्मा का सहारा लिया उसके सामने अनन्त निर्बल शक्तियाँ क्षण भर भी नहीं टिकती !!

यह श्लोक आचार्य महाराज ने विशेष रूप से संग्राम विजय, राज्य विजय, शत्रु विजय की कामना रखने वाले राजाओ के निमित्त ही रचा है !! यह श्लोक विजय का मूल मत्र ही नही वल्कि उनमे वीरता और जोश भरने वाला है !! सुषुप्त पुरुषार्थ को जगाने वाला है !!

Like the Darkness dispelled by the luster of the rays of the rising sun, the army, accompanied by the loud roar of the prancing horses and elephan's, even of powerful kings, is dispersed in the battle-field with thn mere recitation of Thy name. 42.

× × ×

As the sun (at the dawn) is able to dispelse the dark, similarly your name is powerful enough to soon disperse the army of the great kings in a battle, resounding with the noise of the galloping horses and roaring elephants. 42.

× × ×

मूल-श्लोक (सर्वशान्ति दायक)

कुन्ताग्रभिन्न - गजशोणित - वारिवाह—
वेगावतार - तरणातुर - योधभीमे।
युद्धे जयं विजितदुर्जयजेयपक्षा—
स्त्वत्पादपङ्कजवनाश्रयिणो लभन्ते ॥४३॥

जिनेन्द्र शरणागत की युद्ध में अपूर्व विजय

रण में भालों से बेधित गज, तन से बहता रक्त अपार।
वीर लड़ाकू जहँ आतुर हैं, रुधिर-नदी करने को पार॥
भक्त तुम्हारा हो निराश तहँ, लख अरिसेना दुर्जयरूप।
तव पादारविन्द पा आश्रय, जय पाता उपहार स्वरूप॥४३॥

अन्वय:

त्वत्पादपङ्कजवनाश्रयिण: कुन्ताग्रभिन्नगजशोणितवारिवाहवेगावतारतरणा-तुरयोधभीमे युद्धे विजितदुर्जयजेयपक्षा: (सन्त:) जयम् लभन्ते ।

शब्दार्थ:

त्वत्पादपङ्कजवनाश्रयिण:—आपके चरण रूपी कमलों के समूह का सहारा लेने वाले भद्र परिणामी भव्य पुरुष ।

विशेषार्थ :—**त्वत्**—आपके, **पाद**—चरण रूपी **पङ्कज**—कमल वही हुआ **त्वत्पादपङ्कज** जिसका **वन**—समूह अथवा उपवन उसका **आश्रय**—सहारा-शरण ग्रहण करने वाले वही हुआ **त्वत्पादपङ्कजवनाश्रयिन्** (यह पद प्रथमा के बहु वचन में है ।

कुन्ताग्रभिन्नगजशोणितवारिवाहवेगावतारतरणातुरयोधभीमे—बरछी व भालाओं के नुकीले अग्रभाग से भेदित-क्षत-विक्षत-घायल हाथियों के रक्त रूपी *जल प्रवाह में वेग से—तेजी से उतर कर तैरने में उतावले ऐसे योद्धाओं* से भयंकर ।

विशेषार्थ :—**कुन्त**—भाला व बरछी, उसका **अग्र**—नुकीला भाग वह हुआ **कुन्ताग्र** जिससे **भिन्न**—भेदित हुए, क्षत-विक्षत हुए-घायल हुए, ऐसे **गज**—हाथियों उनका **शोणित**—रक्त रूपी **वारिवाह्**—जल प्रवाह, उसमें **वेग**—वेग से-तेजी से **अवतार**—प्रवेश करने में, उतरने में तथा **तरण**—तैरने में, पार करने में **आतुर**—उतावले ऐसे **योध**—योद्धाओं से युक्त **भीम**—भयंकर वही हुआ **कुन्ताग्रभिन्नगजशोणितवारिवाहवेगावतारतरणातुरयोधभीम** ।

यह पद युद्ध का विशेषण होने से सप्तमी के एक वचन में प्रयुक्त हुआ है ।

युद्धे—युद्ध में, संग्राम में, रण भूमि में ।

विजितदुर्जयजेयपक्षा:—कठिनता से जीता जा सके ऐसे शत्रु पक्ष को जीत लिया है जिन्होंने ऐसे ।

विशेषार्थ :—**विजित**—जीते जा चुके हैं ऐसे **दुर**—अत्यन्त कठिनता से **जय**—जीते जाने वाले **जेयपक्ष**—शत्रुपक्ष ।

जो जीतने योग्य होय वह जेय ऐसा जो पक्ष वह जेय पक्ष अर्थात् शत्रु-पक्ष यह पद **त्वत्पादपङ्कजवनाश्रयिण:** का विशेषण होने से प्रथमा के बहु-वचन में प्रयुक्त हुआ है ।

जयम् लभन्ते—जय को प्राप्त होते हैं—विजय प्राप्त करते हैं ।

भावार्थ

हे अनन्तशक्तिमन् !

घनघोर भीषण संग्राम हो रहा हो। हाथियों को बरछी-भाले की नोकों से इतना अधिक छेदा-भेदा जा रहा हो कि उनसे खून की नदियां पानी जैसी बह निकली हों। उसके प्रवाह में योद्धा लोग अतरा रहे हों। उसे तैर कर पार करने के लिए वे उतावले हो रहे हों। शत्रु पक्ष इतना प्रबल हो कि उसे जीतने में दांतों पसीना आ रहा हो। तो भी हे भगवन् ! आपका वह भक्त योद्धा बात की बात मे ऐसे दुर्जेय दुश्मन को परास्त कर देता है। क्योंकि वह आपके मंजुल चरण रूपी कमलों के शीतल वनों की छत्रच्छाया में आ पहुँचा है !!

विवेचन

भक्त शिरोमणि आचार्य मानतुंग मुनि जिनेन्द्र भक्ति रस में इतने ओत प्रोत है कि तथाकथित साहित्यिक नव रस भी अपनी समस्त आलंकारिक छटा समेत उसमें समर्पित हो चुके है।

प्रस्तुत श्लोक मे युद्ध क्षेत्र के बहाने रौद्र, भयानक, वीर और वीभत्स रस का स्पष्ट चित्र खीचा गया है परन्तु भगवान के चरण-कमल रूपी शीतल शान्त वन के आगे वे सभी रस अपने घुटने टेक देत है ?? देखिये कितना वीभत्स दृश्य है युद्ध क्षेत्र का :— कि हाथियों के खून की नदियां जल की भांति बह निकलती है। योद्धा लोग उन्हें तैर तैर कर लड़ने को उतावले हो रहे हैं। यह वीररस का शब्दांकन है। शत्रुओं के क्रोध का ठिकाना नहीं है। यह रौद्र रस का चित्रांकन है। संग्राम इतना भीषण भयंकर और घमासान है कि हृदय कांप कांप उठता है, दिल दहल उठता है···आदि-आदि भयानक और करुण रस के उदाहरण है—तो भी प्रशान्त रस उन पर विजयी होता है। क्योंकि आपके शीतल-शान्त-चरण-कमल वन की छत्रच्छाया में आपका भक्त आ पहुँचा है। क्रोधादिक सारे वैभाविक रस एक स्वाभाविक शान्त रस के समक्ष अपना अस्तित्व विलीन कर देते है। "त्वत्पादपङ्कजवनाश्रयिणो लभन्ते" पद मे यही आध्यात्मिक अर्थ ध्वनित होता है !!

Those, who resort to Thy louts-feet, get victory by defeating the invincibly victorious side (of the enemy) in the battle-field made terrible with warriors, engaged in crossing speedily the flowing currents of the river of thd blood-water of the elephants pierced with the pointed spears. 43.

In a battle, the fierceness of which was enhanced by (the cries) of soldiers, being drifted away by and eager to cross over the blood-currents of elephants, rent by the points of lances the persons, by resotting to the forest of your lotus like feet, attain victory over invincible opponents. 43.

मूल-श्लोक (सर्वापत्ति विनाशक)

अम्भोनिधौ क्षुभितभीषण-नक्र - चक्र[1]—
पाठीनपीठ - भयदोल्बण - वाडवाग्नौ ।
रङ्गत्तरङ्ग शिखरस्थित - यानपात्रा—
स्त्रासं विहाय भवतः स्मरणाद्[2] व्रजन्ति ॥४४॥

भव-समुद्र तारिणी जिनेन्द्र भक्ति

वह समुद्र कि जिसमें होवे, मच्छ-मगर एवं घड़ियाल ।
तूफां लेकर उठती होवें, भयकारी लहरें उत्ताल ॥
भँवर चक्रमें फँसी हुई हो बीचों बीच अगर जल-यान ।
छुटकारा पाजाते दुख से, करनेवाले तेरा ध्यान ॥४४॥

१—"चक्रे" ऐसा भी पाठ है । २—"तब सस्मरणात्" ऐसा भी पाठ है ।

अन्वयः

क्षुभितभीषणनक्रचक्रपाठीनपीठभयदोल्बणवाडवाग्नौ अम्भोनिधौ रङ्गत्तरङ्गशिखरस्थित यानपात्राः भवतः स्मरणात् त्रासम् विहाय व्रजन्ति ।

शब्दार्थः

क्षुभितभीषणनक्रचक्रपाठीनपीठभयदोल्बणवाडवाग्नौ—अत्यन्त डरावने मगर-मच्छ, घड़ियाल आदि के कुपित होने से तथा भीमकाय पाठीन नाम के मत्स्य की पीठ जहाजों से टकराने के फल स्वरूप संघर्षण से उत्पन्न विलक्षण बडवानल सुलग रहा है जिसमें ऐसे भयंकर क्षुब्ध ।

विशेषार्थ :—**क्षुभित**—क्षोभ को प्राप्त होने से, **भीषण**—डरावने बने हुए, ऐसे **नक्र**—मगर मच्छ, **चक्र**—घड़ियाल तथा **पाठीन**—भीमकाय मछली की, **पीठ**—शरीर में पेट की दूसरे ओर के भाग की टक्कर से, **भयद्**—भयंकर (तथा) **उल्बण**—अद्भुत, विलक्षण, **वाडवाग्नि**—बडवानल से युक्त । वही हुआ **क्षुभितभीषणनक्रचक्रपाठीनपीठभयदोल्बणवाडवाग्नि**—यह पद अम्भोनिधौ का विशेषण होने से सप्तमी के एक वचन में प्रयुक्त हुआ है ।

अम्भोनिधौ—समुद्र में-सागर में ।

रङ्गत्तरङ्गशिखरस्थितयानपात्राः—उछलती-लहराती ऊपर नीचे को होती हुई लहरों की शिखर पर-चोटी पर-सिरे पर डगमगा रहे—विचलित हो रहे हैं जहाज जिनके ऐसे पुरुष ।

विशेषार्थ :—**रङ्गत्**—तीव्रता से उछलती हुई **तरङ्ग**—मौजों-लहरों के **शिखर**—अग्रभाग (चोटी-सिरे) पर **स्थित**—विचलित हो रहे है—डगमगा रहे हैं **यान**—जहाज जिनके ऐसे **पात्र**—पुरुष । वही हुआ **रङ्गत्तरङ्गशिखरस्थित यानपात्र** । यह पद प्रथमा के बहु वचन में है ।

भवतः—आप के ।

स्मरणात्—स्मरण करने से ।

त्रासं—आकस्मिक भय को ।

विहाय—छोड़कर ।

व्रजन्ति—आगे बढ़े चले जाते है—गन्तव्य स्थान को पा लेते है ।

भावार्थ

हे तरणतारण तीर्थङ्करदेव !

विकराल मगरों, घड़ियालों तथा पाठीन पीठ जाति के भीमकाय मत्स्यों

से युक्त भयंकर समुद्र में गजब का विलक्षण बडवानल सुलग रहा हो, जिसके कारण उसमें विकट खलबली मची हुई हो ऐसे डरावने सागर (समुद्र) को भी वे मनुष्य बिना किसी कष्ट के— आसानी से, मजे से पार हो जाते हैं जो आपका स्मरण करते हैं। भले ही उनके जहाज जिन पर वे स्थित हों उछलती हुई उत्ताल तरङ्गों की छाती पर अतराते हुए डांवाडोल हो रहे हों !

विवेचन

काव्य ग्रंथों में समुद्र को, महासमुद्र को जहां गम्भीरता और मर्यादा का प्रतीक मानकर उनकी स्तुति की गई है, वहां नैतिक धर्म-ग्रन्थों में भव-भ्रमण का अथाह क्षारीय पारावार कहके उसकी निन्दा की गई है !! कुछ भी हो असंख्यात् द्वीप-समुद्रों से मध्यलोक वेष्ठित है। थल भाग की अपेक्षा जल भाग दूने-दूने विस्तार वाला है ! जितने अधिक थलचर प्राणियों से हम परिचित हैं उतने जलचर जीव जन्तुओं के आकार-प्रकार और नाम से नहीं। मगरमच्छ-घड़ियाल आदि इनेगिने भीमकाय प्राणियों के नाम ही हमें मालूम हैं !! समुद्रीय गोताखोर एवं अन्वेषकों ने उनके अन्दर पैठकर अवश्य ही विविध भाँति के भयावह विद्रूप जल जन्तुओं का पता लगाया है। ऐसे ऐसे विशाल-काय, वज्र शरीर वाले प्राणी उनमें पाये जाते हैं कि बड़े-बड़े जहाज उनसे टकराकर आगे नहीं बढ़ पाते या डूब जाते हैं। कभी-कभी तो जहाज के जहाज ही उनके मुख द्वारों में प्रवेश कर जाते है ! पाठीन जाति का एक ऐसा महा-मत्स्य होता है कि जिसकी पीठ और जहाजों के संघर्षण से अग्नि उत्पन्न होकर वडवानल का रूप धारण कर लेती है। पानी में आग का लगना कुछ विचित्र सा अवश्य प्रतीत होता है परन्तु वैज्ञानिक तथ्य यह है कि पानी से लदे उड़ते हुए मेघ जब आपस में टकराते हैं तब उनके धनात्मक और ऋणात्मक संघर्ष से विद्युत् उत्पन्न होती है। वह अग्नि यदि क्षणिक न हो तो ब्रह्माण्ड ही भस्मी भूत हो जावे। आज के वैज्ञानिक भी जलशक्ति से कृत्रिम विद्युत्-अग्नि उत्पन्न कर रहे हैं। यहाँ केवल तात्पर्य इतना ही है कि एक तो महासागर वैसे ही अतल-अथाह अपार और भयङ्कर होते हैं कि उन्हें सामान्य पुरुष तैर कर पार नहीं कर सकते। स्वयं चौथे श्लोक में आचार्य मानतुंग महाराज ने स्वीकार किया है कि—

कल्पान्तकाल पवनोद्धत नक्र - चक्रं।
को वा तरीतुमलमम्बुनिधिं भुजाभ्याम् ॥

भले ही कवियों की दृष्टि में समुद्र अपनी मर्यादा का उल्लंघन नहीं करता हो तथापि जब उसमें ज्वारभाटा उत्पन्न होता है तो उसकी लहरें आसमान को छूतीं हैं। तूफान उठने पर तो सम्पूर्ण समुद्र क्षुब्ध हो जाता है। आलोडित होने पर तो उसमें ओर-छोर खलबली मच जाती है। उसके अन्दर रहने वाले असंख्य जलचर प्राणी घबड़ा कर उसे और भी अधिक क्षुब्ध करते हैं। चारों ओर अशान्ति का वातावरण छा जाता है। कल्पना मात्र से भय की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। ऐसे ही क्षोभयुक्त महा समुद्रों में यदि बडवानल सुलग उठी हो, ज्वार भाटा आया हो! प्रलय कालीन तूफान चल रहे हों! मगर मच्छ, घड़ियाल खलबली मचा रहे हों! और फिर उनकी उत्ताल तरङ्गों की छाती पर यदि कोई जहाज तैर रहा हो तो क्या उसकी कुशलता की कल्पना भी कोई कर सकता है?···कदापि नहीं!! डांवाडोल होकर भँवर चक्र में फँसकर वह तो यात्रियों समेत कभी भी जल में डूब कर नष्ट हो सकता है। तथापि ऐसे आड़े वक्त में तो केवल अपना पुण्य कर्म अथवा भगवन्नाम स्मरण रूपी धर्म कार्य ही अपनी रक्षा कर सकता है!!

कवि कहते है कि—

हे भगवन् आपका संकीर्तन करने से जहाज में बैठे हुए मनुष्य मजे से बिना किसी कष्ट के पार हो जाते है। मौत के मुंह में बैठे हुए भी वे अभय रहते है और किनारे लग जाते है!!

भव-समुद्र भी अथाह खारा पारावार है। विविध प्रकार के कर्म रूपी भयावह जलचर प्राणियों से यह संसार-सागर क्षुब्ध हो रहा है। शुभाशुभ रागकी आग समुद्र में लगी हुई है। मानव पर्याय की जहाज उस सागर में अतरा रही है। उसे कुशलता पूर्वक किनारे लगाने वाला केवल भाव पूर्वक किया हुआ जिनेन्द्र भगवान का नाम-स्मरण ही एक मात्र सहायक है!! उक्त च-

> **यह भव-समुद्र अपार तारण, के निमित्त सुविधि ठही।**
> **अतिदृढ़ परमपावन जथारथ, भक्ति वर नौका सही॥**

—कविवर द्यानतराय जी

Even on that ocean, which contains the dreadful submarine fire, the agitated and therefore, terrific alligators and fishes fearlessly move those, though their ships are placed on high dashing waves, who but remember Thee. 44.

× × ×

Persons in the ships, balancing on the rising waves in ocean, agitated by the terrible crocodiles, porpoises and whales as well as by submarine fire, sail to the shore without any fear by repeating your name. 44.

× × ×

मूल-श्लोक (जलोदरादि रोग एवं सर्वापत्ति नाशक)

उद्भूतभीषण - जलोदर - भारभुग्नाः[1]
शोच्यां दशामुपगताश्च्युतजीविताशाः ।
त्वत्पाद पङ्कज रजोऽमृत दिग्धदेहा,
[2]मर्त्या भवन्ति मकरध्वजतुल्यरूपाः ॥४५॥

सर्व व्याधि विनाशक जिनेन्द्र चरण-रज

असहनीय उत्पन्न हुआ हो, विकट जलोदर पीड़ा भार ।
जीने की आशा छोड़ी हो, देख दशा दयनीय अपार ॥
ऐसे व्याकुल मानव पाकर, तेरी पद-रज संजीवन ।
स्वास्थ्य लाभ कर बनता उसका, कामदेव सा सुन्दर तन ॥४५॥

१—"भग्नाः" ऐसा भी पाठ है । २—"सद्यो" ऐसा भी पाठ है ।

अन्वय:

उद्भूतभीषणजलोदरभारभुग्ना: शोच्याम् दशाम् उपगता: च्युतजीविताशा: मर्त्या: त्वत्पादपङ्कजरजोऽमृतदिग्धदेहा: (सन्त:) मकरध्वजतुल्यरूपा: भवन्ति ।

शब्दार्थ:

उद्भूतभीषणजलोदरभारभुग्ना:—उत्पन्न हुए भयंकर 'जलोदर' के भार से या वजन से वक्र (टेढ़े) हो गये हैं ऐसे;

विशेषार्थ :—**उद्भूत**—उत्पन्न हुए-पैदा हुए, **भीषण**—भयङ्कर ऐसा **जलोदर**—रोग विशेष, उसके **भार**—वजन, से **भुग्न**—टेढ़े होगए-वक्र होगए वही हुआ **उद्भूतभीषणजलोदरभारभुग्न** । यह पद मर्त्या: का विशेषण होने से प्रथमा के बहु वचन में प्रयुक्त हुआ है ।

भुग्ना: के स्थान पर भग्ना. ऐसा पाठ भी मिलता है जिसका अर्थ टूटा हुआ अर्थात् बीच से टूटा हुआ ऐसा समझना चाहिए ।

जिस रोग विशेष से पेट में पानी भरता जाय और फल स्वरूप पेट फूलता ही जाय अर्थात् वृद्धि को प्राप्त करता जाय तथा उदर के अतिरिक्त शरीर के अन्य अवयव गलते जायें—क्षीण पड़ते जायें उसको आयुर्वेद शास्त्र में 'जलोदर' कहा गया है । इस रोग की गिनती कष्ट साध्य महारोगों में की जाती है ।

शोच्याम्—शोचनीय-दयनीय ।

दशाम्—हालत को—अवस्था को .

उपगता :—प्राप्त होने वाले ।

विशेषार्थ :—**उपगता: मर्त्या:** का विशेषण होने से प्रथमा के बहुवचन में प्रयुक्त हुआ है ।

च्युतजीविताशा:—और जिन्होंने जीवन की आशा छोड़ दी हो, ऐसे ।

विशेषार्थ :—**च्युत**—त्यक्त अर्थात् त्याग दी है—छोड़ दी है जिन्होंने **जीवित**—जीवन की आशा-जिन्दा रहने की आशा । वह हुआ **च्युतजीविताशा:**

यह पद भी मर्त्या: का विशेषण होने से प्रथमा के बहुवचन में प्रयुक्त हुआ है ।

मर्त्या:— मनुष्य;

त्वत्पादपङ्कजरजोऽमृतदिग्धदेहा:—आपके पाद-पद्मों की रज (धूलि) रूपी अमृत से लिप्त कर लिया है अपने शरीर को जिन्होंने ऐसे ।

विशेषार्थ:—**त्वत्**—आपके **पादपङ्कज**—चरणरूपी कमल उसके **रजोऽमृत**—

रज रूपी अमृत—(विभूति) जिसमें दिग्ध—लिप्त है देहा—शरीर जिन्होंके ऐसे वही हुआ त्वत्पादपङ्कजरजोऽमृतदिग्धदेहः।

यह पद भी मर्त्याः का विशेषण होने से प्रथमा के बहु वचन में प्रयुक्त हुआ है।

मकरध्वजतुल्यरूपाः—कामदेव के समान सुन्दर रूप वाले।

विशेषार्थ :—मकरध्वज—कामदेव, जिसके तुल्य—समान है रूप सौन्दर्य जिसका वह हुआ **मकरध्वज तुल्यरूप**।

भवन्ति—हो जाते है।

भावार्थ

हे भवरोग चिकित्सक !

जिन मनुष्यों को अत्यन्त भयंकर जलोदर रोग उत्पन्न हो गया हो। फल स्वरूप उसके भार से जिनकी कमर टेढ़ी पड़ रही हो। जो नितान्त शोचनीय अवस्था को प्राप्त होकर जीने की आशा छोड़ चुके हों। वे यदि आपके चरण-कमलों की भभूत (विभूति) को अमृत मानकर शरीर पर लपेट लेते हैं तो वे सचमुच ही कामदेव के समान स्वरूपवान बन जाते है।

विवेचन

अभी तक स्तोत्र कर्त्ता मुनीश्वर बाह्य भयंकर दैविक और भौतिक आधियों (विपत्तियों) के निवारण का ही उपाय बतला रहे थे परन्तु अब इस छंद में वे दैहिक व्याधियों के निराकरण का भी सफल उपाय निरूपित कर रहे हैं। वे कहते है कि जिनके चरण-कमलों की रज से जन्म-जरा और मृत्यु जैसे महा भयंकर रोग भी सदैव के लिए विनष्ट हो जाते हैं। तब इन सांसारिक व्याधियों की तो बात ही क्या है ? श्री जिनेन्द्रदेव के चरणारविन्दों का पराग, विभूति, धूलि वह अमृत है कि जिसको शरीर पर लगाने से कुरूप से कुरूप व्यक्ति भी कामदेव के समान सुंदर दैदीप्यमान हो जाते हैं ! मरणासन्न से मरणासन्न व्यक्ति भी दीर्घायुष्य हो जाते हैं—अमर हो जाते हैं !! जब ऋद्धिधारी मुनीश्वरों को स्पर्श करके आने वाली वायु से भी नाना प्रकार की व्याधियें दूर हो जाती हैं तो साक्षात् तीर्थङ्करों की चरण-विभूति के प्रताप का तो क्या कहना ? सैकड़ों पौराणिक दृष्टान्त हमारे सामने हैं कि श्रीपालादिक करोड़ों कोटिभटों को भी जब गलित कुष्ट जैसे महा भयंकर रोग उत्पन्न हुए तो गंधोदक को शरीर पर लगाने मात्र से ही वे कामदेव के समान पुनः स्वरूपवान

बन गए। एकीभाव स्तोत्र के कर्त्ता श्री वादिराज जी मुनीश्वर का कायाकल्प भी इसका एक सुन्दर उदाहरण है। सन्तों, महासन्तों और तीर्थङ्करों के चरण कमल जहाँ पड़ते हैं वहाँ की धूल भी इतनी पवित्र और अमृतमयी हो जाती है कि उसको माथे पर लगाने से कुरूप काया भी कंचन काया बन जाती है। रहीम कवि का एक दोहा है कि—

धूर धरत नित शीश पर, कहु रहीम केहि काज।
जेहि रज मुनि पतनी तरी, सो ढूंढत गजराज ।।

हाथी अपनी सूंड से निरन्तर धूलि स्नान इसलिए करता है कि वह उन रामचन्द्र जी के चरण-कमलों की धूल को खोज रहा है जिसके स्पर्श से पाषाणी भी अहिल्या बन गई थी ! वह भी चाहता है कि कहीं न कहीं तो वह धूल मिलेगी और मेरा उद्धार होगा ! रामायण में संत तुलसीदास जी कहते हैं कि केवट श्री रामचन्द्र जी को नाव पर इसलिए नहीं चढ़ने देता कि कहीं उनके चरण-कमलों की धूल से नाव सजीव न हो उठे ! और इस भांति वह आजीविका से वंचित हो जावेगा ! यहाँ धूल का महत्त्व नहीं बल्कि संतों की वीतरागता का ही महत्त्व समझना चाहिए ! बहुत से मंत्र-तंत्र-वादी भभूत या भस्म देते हैं और दावा करते हैं कि इसका लेप करने से रोग दूर हो जायेंगे पर वे यह नहीं जानते कि यह भभूत धूल या भस्म काहे का प्रतीक है ? उस भभूत (विभूति) का क्या रहस्य है ?……असल में यह रज तो वह पुण्य विभूति है जो तीर्थङ्करों के चरण तल में रहती है ! पुण्य तो धर्म का मैल है !! जहाँ रत्नत्रय रूपी धर्म रहेगा वहाँ पुण्य तो नियम से चरणों की धूल बनकर रहेगा ही ! यह रज तो वह विभूति है जो तीर्थङ्करों द्वारा चार घातिया कर्मों के नष्ट करने पर प्राप्त हुई है ! यह वह विभूति है जो अनन्त चतुष्टय के नाम से प्रसिद्ध है।

"अरि-रज रहस विहीन"

तीर्थङ्करों की रज वास्तव में अमृत का काम करती है। जब मात्र जिन बिम्ब की रज ही माथे पर लेने से रोग दूर होकर शरीर सुन्दर बन जाता है तो साक्षात् वीतराग तीर्थङ्कर देवों की चरण-रज शरीर पर लगाने से क्या भव रोग दूर नहीं होते होंगे ? अवश्य ही होते होंगे। यह उन संयमी वीतराग तीर्थङ्करों की रज रूपी अमृत है जिसको लगाने से शरीर सुंदर ही नहीं बल्कि आत्मा भी अशरीरी हो जाती है !!

संसार में राजयक्ष्मा, विशूचिका, महामारी, कुष्ट, कैंसर आदि सैकड़ों रोग हैं। यही नहीं नित नये-नये रोग पैदा होते जा रहे हैं ! इन सब में जलो-

दर महा रोग बड़ा ही दुःखदायी प्राण लेवा और शरीर को विद्रूप कर देने वाला होता है । आचार्य श्री कहते हैं—कि

जो मनुष्य आपके चरण-कमलों की रज को अमृत मान कर अपने शरीर पर लपेटता है वह कामदेव के समान सुन्दर बन जाता है ।

Even those, who are drooping with the weight of terrible dropsy and have given up the hope of life and have reached a deplorable condition, become as beautiful as Cupid by besmearing their bodies with the nectarlike pollen dust of Thy lotus-feet. 45.

Persons, bent down under the weight of the horibly risen dropsy, being in pitiable plight and with lost hopes of life, attain equality with the cupid in beauty by applying to their bodies the nectar of pollen of your lotus-like feet. 45.

× × ×

मूल-श्लोक (बन्धन-विमोचक)

आपादकण्ठ - मुरुशृङ्खल - वेष्टिताङ्गा,
गाढं बृहन्निगड कोटि निघृष्टजङ्घाः ।
त्वन्नाममन्त्रमनिशं मनुजाः स्मरन्तः,
सद्यः स्वयं विगतबन्धभया भवन्ति ॥४६॥

सर्व बन्धन-भय निवारक जिन-स्मरण
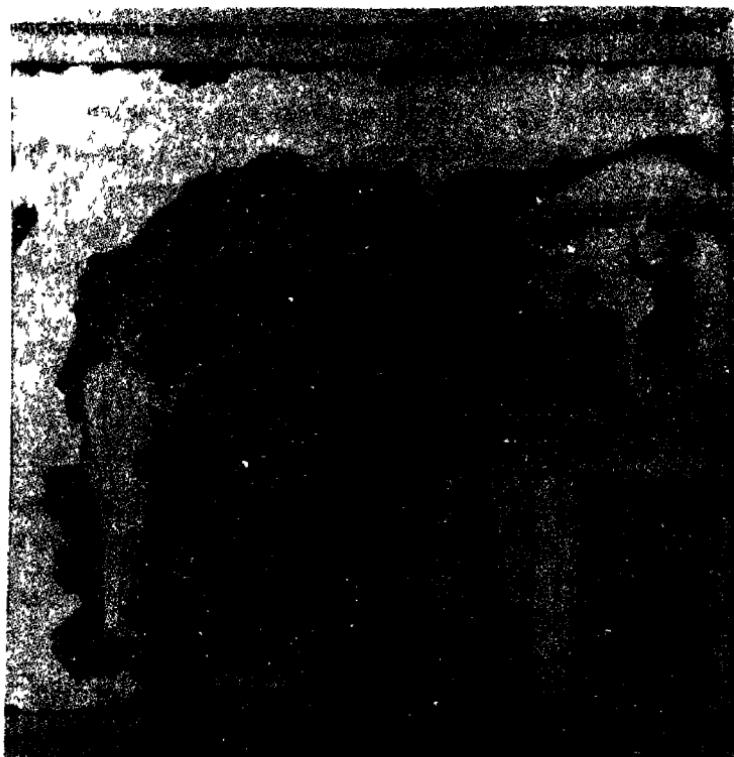
लोह-शृंखला से जकड़ी है, नख से शिख तक देह समस्त ।
घुटने जांघें छिले बेड़ियों, से अधीर जो है अति त्रस्त ॥
भगवन् ऐसे बंदीजन भी, तेरे नाम मन्त्र की जाप ।
जपकर गत-बन्धन हो जाते, क्षण भर में अपने ही आप ॥४६ ॥

अन्वयः

आपादकण्ठम् उरुशृंखलवेष्टितांगा गाढम् बृहन्निगडकोटिनिघृष्टजंघाः मनुजाः त्वन्नाममन्त्रम् अनिशम् स्मरन्तः सद्यः स्वयं विगतबन्धभया भवन्ति ।

शब्दार्थः

आपादकण्ठम्—चरणों (पैरों) से लेकर ग्रीवा (गले) तक ।

विशेषार्थ :—**आ**—शब्द मर्यादा सूचित करता है, **पाद**—चरण-पग-पैरों उससे लेकर **कण्ठ**—ग्रीवा अथवा गले तक, वह हुआ **आपादकण्ठ** ।

उरुशृंखलवेष्टितांगाः—लम्बी चौड़ी बड़ी-बड़ी मजबूत सांकलों से-जंजीरों से जकड़ दिया है शरीर का अंग-अंग जिनका ऐसे ।

विशेषार्थ :—**उरु**—लम्बी चौड़ी-बड़ी-बड़ी-मोटी ऐसी **शृंखल**—सांकलों-जंजीरों-बेड़ियों से **वेष्टित**—जकड़ दिया है—कस दिया है । **अंग**—शरीर का अंग-अंग अथवा अवयव जिसका । वह हुआ **उरुशृंखलवेष्टितांग** ।

यह पद मनुजाः का विशेषण होने से प्रथमा के बहु वचन में प्रयुक्त हुआ है ।

गाढम्—यथा स्यात्तथा अर्थात् खूब अधिक मजबूत रूप में (अव्ययीभाव समास) ।

बृहन्निगडकोटिनिघृष्टजंघाः—बड़ी-बड़ी बेड़ियों तथा लौह शृङ्खलाओं के अग्रभाग से-किनारों से रगड़ कर छिल गई है जंघायें जिनकी ऐसे ।

विशेषार्थ :—**बृहत्**—बड़ी मोटी मजबूत ऐसी **निगड**—लोहे की जंजीरों-बेड़ियों उनके **कोटि**—अग्रभाग-किनारों उससे **निघृष्ट**—घिसट रही है-रगड़ कर छिल रही है जिनकी **जंघाः**—जंघायें वही हुआ **बृहन्निगडकोटिनिघृष्टजंघ** ।

यह पद पुनः मनुजा. पद का विशेषण होने से प्रथमा के बहुवचन में प्रयुक्त हुआ है ।

मनुजाः—मानव-मनुष्य-आदमी ।

त्वन्नाममन्त्रम्—आप के नाम रूपी मन्त्र को ।

विशेषार्थ :—**त्वत्**—आपके **नाम-मन्त्र**—नाम रूपी मंत्र को, वही हुआ **त्वन्नाममन्त्र** ।

अनिशम्—निरन्तर-सतत-अन्तराल रहित, अनवरत ।

स्मरन्तः—स्मरण करते हुए-जपते हुए ।

सद्यः—तत्काल-अति शीघ्र ।

स्वयम्—अपने आप-खुद बखुद ।

विगतबन्धभयाः—दूर हो गया है बन्धन का भय जिनका ।

विशेषार्थ :—विगत—चला गया है जिसका **बन्ध**—बन्धन का **भय**—डर वही हुआ **विगतबन्धभय** ।

यह पद भी मनुजाः का विशेषण होने से प्रथमा के बहुवचन में प्रयुक्त हुआ है।

भवन्ति—हो जाते हैं।

भावार्थ

हे बन्धनमुक्त !

जिनका शरीर एड़ी से लेकर चोटी तक बड़ी-बड़ी सांकलों से जकड़ कर कस दिया गया हो। मजबूत लोहे की जंजीरों की नोकों से रगड़-रगड़ कर जिनकी जंघायें बुरी तरह छिल गई हों !! ऐसे कारागार में बन्दी—परवश पुरुष आपके नाम स्मरण रूपी मन्त्र का निरन्तर जाप्य करने से तुरन्त ही बन्धन के भय से अपने आप स्वयमेव छूट जाते हैं—मुक्त हो जाते हैं।

विवेचन

ससार का प्रत्येक प्राणी अर्थात् जीवमात्र स्वतंत्रता प्रिय होता है। भले ही वह स्वतन्त्रता का शाब्दिक अर्थ न समझता हो परन्तु उसकी अनुभूति और भाव-भासन का आनन्द उसे अवश्य ही आता रहता है। पराधीनता, परतन्त्रता, परवशता कितनी ही सुन्दर व सुखदायी क्यों न हो, उससे छुटकारा पाकर स्वच्छन्दता और खुले वातावरण में प्रत्येक जीव सांस लेना चाहता है। तोते को भले ही आप सोने के पिंजड़े में कैद करके रखिये ! उसे विविध मेवा-मिष्ठान्न खिलाइये; तब भी वह खुली खिड़की पाकर यथावसर खुले प्रकाश मे उड़ ही जावेगा। स्वतन्त्र और स्वावलम्बी जीव लाख-लाख कष्ट और अभावों में भी आजादी के आनंद की अनुभूति के लिए छटपटाता रहता है !! उसे परावलम्बन, परमुखापेक्षिता से प्राप्त सोने के ग्रास भी जहर के कौर से लगते है ! कैदी चाहे लोहे की बेड़ियो से बंधा हो, चाहे सोने की मोटी जजीरों मे ! आखिर कहलाएगा तो वह कैदी ही। यही कारण है कि भारत जब-जब पराधीन हुआ-गुलाम हुआ तब-तब उसने स्वतंत्रता के लिए संग्राम किये !! कहते हैं कि अंग्रेजी राज्य इतना सुव्यवस्थित और अनुशासित था कि उसके शासन काल में सूर्य नहीं डूबता था; सभी प्रकार की सुख सम्पन्नता होने पर भी देशभक्त नेताओं ने पराधीन भारत को यह नारा लगा लगाकर मुक्त करा ही लिया कि—

"स्वतन्त्रता हमारा जन्म सिद्ध अधिकार है"
—लोकमान्य तिलक

इतिहास साक्षी है, कि परतंत्र और गुलाम भारत मुगलों और अंग्रेजों से मुक्ति पाने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहा !! यह तो हुई राजनैतिक स्वतन्त्रता की व्यवस्था !! दार्शनिक व्यवस्था तो केवल दो ही तत्त्वों पर आधारित है ! वे दो तत्त्व है बंध और मोक्ष। बंध अर्थात् गुलामी-पराधीनता-सम्पूर्ण मोक्ष अर्थात् स्वतंत्रता, आजादी, सम्पूर्ण स्वावलम्बीपना !!

जैनधर्म में कण-कण, परमाणु-परमाणु की स्वतंत्रता डके की चोट पर घोषित की गई है। प्रत्येक द्रव्य स्वतन्त्र, गुण स्वतन्त्र, और पर्याय स्वतंत्र है। एक दूसरे का कर्त्ता कोई द्रव्य है ही नहीं। एक मे दूसरे को मिलाने की मान्यता, जानकारी और आदत ही यथार्थ में बन्ध है। जब कि वस्तु स्वरूप यह है कि जीव त्रैकालिक स्वभाव से निर्बन्ध ही है। वैभाविक बन्धन तो काल्पनिक ही है। द्रव्यदृष्टि से तो वह त्रिकाल ही स्वतंत्र है। पर्याय दृष्टि से उसको अवस्था में बन्धन है। गाय यद्यपि हमको खूंटी और रस्सी से बधी हुई प्रतीत होती है परन्तु परमार्थ दृष्टि से देखा जाये तो गाय उस समय भी निर्बन्ध व मुक्त ही है। क्योंकि गाय रस्सी नहीं बन गई है !! गाँठ तो रस्सी की रस्सी में लगी है !! अर्थात् रस्सी ही बँधी है। तात्पर्य यह कि स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल, स्वभाव में रहना ही स्वतंत्रता है—स्वावलम्बन है, आजादी है, स्व-समय है। पर-द्रव्य, पर-क्षेत्र, पर-काल, पर-भाव में रहना ही परतंत्रता पराधीनता, बन्धन और गुलामी है। आध्यात्म और आगम ग्रन्थों का कथन है कि जीव, अजीव, आश्रव, बंध, संवर निर्जरा और मोक्ष तत्त्वों के अर्थों को जो यथार्थ रूप से मान लेता है, जान लेता है, अनुभव कर लेता है वह कर्म बन्धन से मुक्त हो जाता है। उनको ज्ञेय-हेय-और उपादेय रूप से जानना ही प्रथम कर्त्तव्य है। परतन्त्रता अन्य कुछ नही बल्कि अपनी दृष्टि में, श्रद्धा में स्व और पर का मिश्रण करके देखना-जानना-मानना और तदनुसार चलना ही है। इसे ही जिन परिभाषा में मिथ्यात्व कहा है। मिथ्यात्व ही बन्धन है। सम्यक्त्व ही स्वतन्त्रता है। स्वभावाश्रय ही स्वतंत्रता है। विभावाश्रय ही बन्धन है—गुलामी है !!

यहाँ पर आचार्य महाराज लौकिक और राजकीय बन्धनों से मुक्ति का उपाय बतलाते हुए कहते है—कि जो व्यक्ति आपके नाम स्मरण रूपी मन्त्र को निरन्तर रटता है, जपता है वह अपने आप तुरन्त ही मुक्त हो जाता है। बंधन मुक्त हो जाता है। संसारी जीव कर्म बन्धनों की मजबूत सांकलों से

जकड़ा हुआ है। पापमयी लोहे की तथा पुण्यमयी सोने की जंजीरों से निरन्तर जकड़े रहने से चौरासी के चक्कर लगा रहा है। भव भ्रमण से उसकी आत्मा मानो छिल रही है। परन्तु जो अपने त्रिकाली पूर्ण स्वभाव का आश्रय लेता है वह तुरन्त तत्क्षण ही निर्बन्ध और मुक्त हो जाता है। क्रमशः दृष्टि मुक्त, भावमुक्त, जीवन्मुक्त होता हुआ कर्ममुक्त हो जाता है।

विशेष

दूर जाने की आवश्यकता नहीं। भक्तामर स्तोत्र के इस ४६वें श्लोक के प्रभाव का प्रत्यक्ष चमत्कारी फल स्वयं स्तोत्रकर्ता आचार्यश्री मानतुंग जी को प्राप्त हुआ था। ऐतिहासिक तथ्य है कि आचार्य महाराज तत्कालीन नरेश के कोपभाजन बनने के कारण उनको ऐसी जेल में बंद कर दिया जिससे निकलना ४८ द्वारों से होता था। उन ४८ दरवाजों को बंद करके प्रत्येक कोठरी में मजबूत ताला लगाया गया था। लोहे की बड़ी-बड़ी मजबूत जंजीरों से उनके नग्न तन को जकड़ दिया गया था। यही नहीं वरन् चौकसी के लिए पहरेदारों को भी खड़ा कर दिया गया। आदीश्वर भक्ति में निमग्न आचार्य महाराज ने ज्यों ही इस श्लोक की रचना की त्यों ही ४८ ताले और मजबूत लौह शृङ्खलाएँ तड़ातड़ टूटती गईं और ध्यान मग्न निर्ग्रन्थ मुनीश्वर निर्बन्ध, मुक्त राजा और प्रजा के समक्ष दृष्टिगत हुए। इस चमत्कारपूर्ण घटना से प्रभावित होकर नृपति सहित उपस्थित प्रजा ने जैनत्व को अंगीकार किया। यही नहीं बल्कि अतिशय की प्रभावना स्वरूप देवताओं ने आकाश से पुष्प वृष्टि की !!

By muttering day-and-night the sacred syllables of Thy name, even those, whose bodies are fettered from head to feet by heavy chains and whose shanks are lacerated by the night gyves, instantaneously get rid of the fear of their bondage. 46.

× × ×

Perhaps, constantly in irons from top to toe and with their thighs scratched over with the edges of the fast (bound) strong chains instantly get themselves off the fear of confinement by restoring to the charm of your name. 46.

× × ×

मूल-श्लोक (अस्त्र शस्त्रादि निरोधक)

मत्तद्विपेन्द्र - मृगराज - दवानला-हि,
संग्राम - वारिधि - महोदर-बन्धनोत्थम् ।
तस्याशु नाशमुपयाति भयं भियेव,
यस्तावकं स्तवमिमं मतिमानधीते ॥४७॥

अष्ट भय निवारक जिन-स्तवन
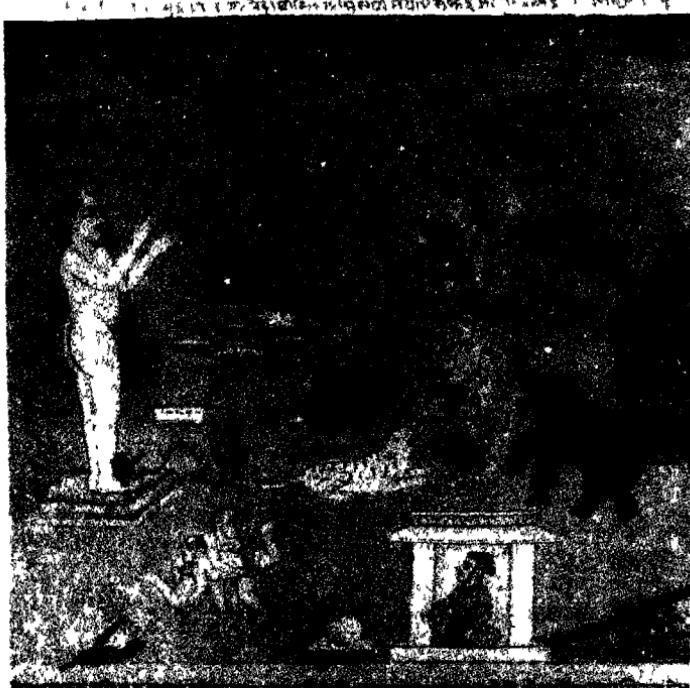
वृषभेश्वर के गुण-स्तवन का, करते निश दिन जो चिंतन ।
भय भी भयाकुलित हो उनसे, भग जाता है हे स्वामिन् ! ॥
कुंजर, समर, सिंह, शोक, रुज, अहि, दावानल, कारागार ।
इनके अति भीषण दुखों का, हो जाता क्षण में संहार ॥४७॥

अन्वयः

यः मतिमान् तावकम् इमम् स्तवं अधीते तस्य मत्तद्विपेन्द्रमृगराजदवानला-हिसङ्ग्रामवारिधिमहोदरबन्धनोत्थम् भयम् भिया इव आशु नाशम् उपयाति ।

शब्दार्थः

यः—जो ।

मतिमान्—बुद्धिमान—प्रज्ञावान पुरुष,

तावकम्—आपके,

इमम्—इस,

स्तवम्—स्तोत्र को;

अधीते—पढ़ता है—पाठ करता है—अध्ययन करता है । कंठस्थ करता है;

तस्य—उसका ।

मत्तद्विपेन्द्रमृगराजदवानलाहिसङ्ग्रामवारिधिमहोदरबन्धनोत्थम् — उन्मत्त-मदोन्मत्त हाथी, सिंह, दावाग्नि, सर्प, संग्राम, सागर, जलोदर तथा बन्धन से उत्पन्न हुआ ।

विशेषार्थ :—मत्त—उन्मत्त ऐसा, द्विपेन्द्र—हाथी, मृगराज—सिंह, दवानल—दावानल-वनाग्नि, अहि—सर्प, संग्राम—युद्ध, वारिधि—समुद्र, महोदर—जलोदर तथा बन्धन—बन्धन (प्रतिबंध रुकावट) उनके द्वारा उत्थम्—उत्पन्न हुआ ।

भयं—भय-डर ।

भिया—डर के कारण से ही ।

विशेषार्थ :—भी—भय, भिया—भय ।

इव—मानो ।

आशु—तत्काल ही—शीघ्र ही ।

नाशम् उपयाति—विनाश को प्राप्त करता है ।

भावार्थ

इस प्रकार जो विवेकशील, बुद्धिमान, प्रज्ञावान भद्रपुरुष आपके इस परम पवित्र स्तोत्र का अनवरत, नियमित, श्रद्धा सहित चिन्तवन, अध्ययन, आराधन और मनन करते हैं उनके, मदोन्मत्त हाथी, विकराल सिंह, भभकता दावानल भयंकर सर्प, बीभत्स संग्राम, विक्षुब्ध समुद्र, कष्ट-साध्य जलोदर और बन्धन जनित भय भी भयाकुल होकर अर्थात् भय खुद या स्वतः भय पाकर शीघ्र

नष्ट हो जाते हैं। तथा आपके भक्तजनों की ओर लौटकर वार नहीं करते।

विवेचन

सामान्य रूप से स्तोत्र के अंत में फल-श्रुति कहने में आती है। तदनुसार भक्तामर स्तोत्र के ३८ वें श्लोक से लेकर ४६ वें श्लोक पर्यन्त आठ भयों के भयंकर शब्द-चित्र स्तोत्र कर्ता आचार्य श्री मानतुंग जी द्वारा क्रमशः खींचे गये हैं। साथ ही उन भयों से मुक्ति दिलाने का एक ही उपाय इन श्लोकों में अभी तक निरूपित किया गया है, वह है—श्री जिनवरेन्द्रदेव का भाव पूर्वक किया हुआ नाम-स्मरण, नाम-संकीर्तन !!

४७वें श्लोक मे इन्हीं नौ श्लोकों का उपसंहार पुनरावृत्ति विधि से करके स्तुति पाठ का लाभ दर्शाया गया है। वे आठ भय क्रमशः निम्न प्रकार हैं :—

(१) ३८वें श्लोक में—मतवाले हाथी जैसे विकराल प्राणियों का भय !

(२) ३९वें श्लोक में—सिंहादिक जैसे क्रूर हिंसक जानवरों का भय !

(३) ४०वें श्लोक में—दावानल आदि जैसे नानाविध आकस्मिक अग्नि का भय !

(४) ४१वें श्लोक में—पृथ्वी पर उत्पन्न होने वाले जिनकी दाढ़ों में विष रहता है तथा जिनकी संख्या ८० है ऐसे फणवाले दर्वीकर २६ मंडली २२ राजिल १० निर्विष १२ तथा मंडली और राजिल के संयोग से पैदा होने वाले ७ इस प्रकार सभी प्रकार के सर्पादिक विषधर जन्तुओं का भय !

(५) ४२ तथा ४३वे श्लोक में—घनघोर संग्राम का भय !

(६) ४४वें श्लोक मे—वडवानल जैसे समुद्र तूफान आदि का आकस्मिक भय !!

(७) ४५वें श्लोक मे—जलोदर आदि बहुविध आधि-व्याधियों का भय !

(८) ४६वे श्लोक मे—गुलामी की जंजीरों, पराधीनता व बन्धन के भय !

वैसे तो सम्यग्दृष्टि भव्य भक्त सप्त भयों से सर्वथा मुक्त ही होता है। ये आठ भय उन्हीं सातों भयों मे गर्भित हो जाते है। बड़े से बड़े भक्त भी उपरोक्त आठ भयों के आकस्मिक रूप से आ पडने पर कभी-कभी आत्म श्रद्धा से-आस्था से च्युत हो जाते है। इसलिए उनको दृढ करने के लिए इन नौ श्लोकों की रचना की गई है। स्वभाव से तो त्रिकाल ही भव के भय के भाव का अभाव सर्वथा ही है। भय तो परावलम्बीपने मे है। स्व में-आत्मा में काहे का भय ?

भक्त कवि श्री मानतुंग जी उपसंहार करते हुए कहते हैं कि जो भी व्यक्ति भाव-भक्ति से इस स्तोत्र का पाठ करता है। उसके पास सात या आठ प्रकार के भय कभी फटकते ही नहीं। जिसने अपने पूर्ण स्वभाव की भक्ति की, वही भव के भय से मुक्त हो गया। यहाँ यही मुख्य तात्पर्य है।

The intelligent man, who chants this prayer offered to Thee is in no time liberated from the fear born of wild elephants, lion, forest-conflagration, snakes, battles, oceans, dropsy and shackles. 47.

× × ×

Of a wise man who recites this eulogy of yours the fear, arising from these eight sources, such as intoxicated elephant, lion, fire, serpent, battle, ocean, dropsy, and bonds suddenly dies away, as it were, being frightened. 47.

× × ×

मूल श्लोक (सर्व सिद्धि-दायक)

स्तोत्रस्रजं तव जिनेन्द्र ! गुणै-र्निबद्धां,
भक्त्या मया रुचिरवर्णविचित्र-पुष्पाम् ।
धत्ते जनो य इह कण्ठगतामजस्रं
तं 'मानतुङ्ग' मवशा समुपैति लक्ष्मीः ॥४८॥

आशीर्वादात्मक मंगल-कामना

हे प्रभो ! तेरे गुणोद्यान की, क्यारी से चुन दिव्य-ललाम ।
गूंथी विविध वर्ण सुमनों की, गुण-माला सुन्दर अभिराम ॥
श्रद्धा सहित भविक जन जो भी, कंठाभरण बनाते हैं ।
'मानतुङ्ग' सम निश्चित सुन्दर, मोक्ष-लक्ष्मी पाते हैं ॥४८॥

अन्वयः

जिनेन्द्र ! इह यः जनः भक्त्या मया तव गुणैः निबद्धाम् रुचिरवर्णविचित्र-पुष्पाम् स्तोत्रस्रजं अजस्रं कण्ठगताम् धत्ते तम् मानतुङ्गम् अवशा लक्ष्मीः समुपैति ।

शब्दार्थः

जिनेन्द्र !—हे जिनवर !—हे जिनेश्वर देव !

इह—इस विश्व में—इस संसार में ।

यः जनः—जो मनुष्य—जो पुरुष ।

भक्त्या—भक्ति पूर्वक ।

मया—मेरे द्वारा ।

तव—आपके ।

गुणैः—प्रसाद, माधुर्य, ओज आदि गुणों से (मालापक्ष में—धागों से)

निबद्धाम्—रची गई, बनाई गई (माला पक्ष में गूँथी गई)

रुचिरवर्णविचित्रपुष्पाम्—मनोज्ञ, मनोहर, अकारादि स्वर वर्णों तथा ककारादि व्यंजन वर्णों के यमक श्लेष अनुप्रासादिक रूपी सुन्दर सुमनों से युक्त (माला पक्ष में मनोहर रंग-रंग के विविध-विचित्र फूलों से युक्त) ।

विशेषार्थ :—**रुचिर**—सुन्दर, मनोज्ञ, मनोहर, मनहर, **वर्ण**—वर्ण-रंग अथवा अक्षर, उनसे बडे **विचित्र**—विविध, अनेक प्रकार के सुन्दर ऐसे **पुष्प**—सुमन, फूल अथवा वाणी वही हुआ **रुचिरवर्णविचित्रपुष्प** ।

स्तोत्रस्रजं—आदिनाथ स्तोत्र (अपरनाम) भक्तामर स्तोत्र रूपी माला को, हार को-गजरा को ।

अजस्रं—सदा-सर्वदा, हमेशा ।

कण्ठगतां धत्ते—कण्ठस्थ करता है, याद करता है (माला के पक्ष में) गले में धारण करता है, पहिनता है ।

तम्—उस,

मानतुङ्गम्—प्रतिष्ठा प्राप्त स्वाभिमानी, सन्मान से समुन्नत पुरुष को अथवा महाप्रभावक इस महान् स्तोत्र के रचयिता मानतुङ्गाचार्य को ।

अवशा—विवश होकर अथवा स्वतन्त्र ।

लक्ष्मीः—मोक्षलक्ष्मी ।

समुपैति—प्राप्त होती है ।

भावार्थ

हे त्रैलोक्यमाल !

जैसे सुन्दर नयनाभिराम रंग-बिरंगे फूलों का हार कंठ मे धारण करने से मनुष्य शोभायमान होता है, वैसे ही इस महाप्रभावशाली स्तोत्र रूपी माला को पहिरने से—कण्ठस्थ करने से, राज्य, स्वर्ग, सम्पदादि अभ्युदय और मोक्ष रूपी लक्ष्मी आदि निःश्रेयस की प्राप्ति स्वयमेव होती है।

विवेचन

बहु प्रचलित प्रख्यात महाप्रभावक भक्तामर स्तोत्र का यह अन्तिम ४८वाँ श्लोक है; इसे हम आशीर्वादात्मक काव्य के रूप में स्वीकार कर सकते है।

जैन भक्ति, पूजापाठ आदि में यह परम्परा है कि आह्वानन, स्थापन, सन्निधिकरण पूर्वक ही पूजन—अर्चन उपासनादिक क्रियाएँ होती है। जयमाला के अन्त में पूजा-उपासना का फल प्राप्त किया जाता है; जो स्तुति कर्त्ता कवि के द्वारा भक्त पुजारी को दिया जाता है। तदुपरान्त विसर्जन की परम्परा है। भक्ति काव्य रचना में कवि गण तीन परम्पराओं का पालन करते है। आद्य छन्दों में मंगलाचरण, मध्य में स्तवन और अन्तिम छंद मे उपसंहार पूर्वक आशीर्वाद।

यहाँ सम्पूर्ण भक्तामर स्तोत्र का भाव पूर्वक पाठ करने के उपरान्त किस लौकिक एवं अलौकिक विभूति की प्राप्ति होती है, वे उसी का दिग्दर्शन यहाँ करा रहे है।

अन्तिम श्लोक के अन्तिम चरण मे मानतुंग शब्द से जो कवि के नाम का निर्देश हुआ है उसका एक अर्थ तो इस प्रकार है—

'मान' जिसका 'तुंग' हो ऐसा वह मानतुंग अथवा विश्व में जिसका सन्मान ऊँचा हो, उन्नत हो, प्रचण्ड हो वही व्यक्ति 'मानतुग' है।

दूसरा—प्रस्तुत स्तोत्र काव्य में म, न, त अक्षर पुनः पुनः आवर्त है। इनका अर्थ है कि जो म न त (मान्यता) को प्राप्त हों ऐसे वे है आचार्य श्री 'मानतुंग' हैं।

वैसे तो समूचे भक्तामर स्तोत्र के शब्द शब्द में यमक, श्लेष, अनुप्रास आदि विविध अलंकारों की साहित्यिक छटा है। उसके अक्षर-अक्षर में ऋद्धि सिद्धि और मन्त्रों का अनुपम चमत्कार प्रतिष्ठित है। इसीलिए इस भक्तामर को मंत्र स्तोत्र भी कहते हैं। मन्त्र शब्द का निर्माण निम्न अवयवों से हुआ है—

म् + अ + न् + त् + र् + अ = 'मन्त्र' इसमें रेखांकित ४ वर्ण

व्यंजन तथा शेष दो स्वर वर्ण हैं। इससे सिद्ध है कि प्रत्येक छंद में मंत्र शब्द अवश्य गूंजता है और उसमें निहित मन्त्रत्व शक्ति को प्रकट करता है।

भक्तामर स्तोत्र के अन्तिम श्लोक में अलंकारों की साहित्यिक छटा स्पष्ट रूप से दर्शनीय है। यह स्तोत्र जितना साहित्य रसिक कवियों के लिए आनन्द देने वाला है उतना ही अधिक जिनेन्द्र भक्तों को भाव विभोर करने वाला है। जरा उपमा, रूपक, यमक, श्लेषात्मक अलंकारों के सु—संयोजन पर ध्यान दीजिये—

रूपक अलंकार श्लेषार्थ में

श्लोकान्तर्गत-अलंकार प्राप्त शब्द	स्तोत्र पक्ष	कण्ठमाल पक्ष
स्तोत्रस्रजं	स्तोत्र रचना को	फूलों की माला को
भक्त्या	भक्ति पूर्वक	विविध प्रकार की रचनापूर्वक
गुणैः	अनन्तचतुष्टयादिक गुणों से अथवा प्रसाद, माधुर्य, ओजादि गुणों से	सूत्रों से—धागों से
निबद्धा	बनाया हुआ	गूंथी हुई
रुचिर वर्ण	मनोज्ञ अक्षरों वाले, अलंकारों से युक्त	सुन्दर-सुन्दर रंग बिरंगे पुष्पों से युक्त
कंठगतां धत्ते	भाव पूर्वक जपता है अथवा मुखाग्र याद करता है	कंठ में धारण करता है अथवा पहिरता है
मानतुंगम्	मानतुंग मुनीश्वर को (कवि का नाम निर्देश वाचक शब्द)	स्वावलम्बी, स्वाभिमानी विवेकी, प्रामाणिक पुरुष को; ऊँचे सम्मान वाले भक्त को
लक्ष्मी	मोक्ष लक्ष्मी निःश्रेयस	पुण्य-वैभव अभ्युदय

निर्ग्रन्थ मुनीश्वर उपसंहार पूर्वक व्यवहार से दूसरों को लक्ष्य करते हुए तथा निश्चय से 'स्व' के लिए ही आशीर्वाद देते हैं कि जो भद्र-भव्यभक्त इस स्तोत्र रूपी माला को पहिनते हैं वे स्वर्ग राज्यादिक पुण्य विभूति तो पाते ही हैं। परम्परा से मुक्ति लक्ष्मी को भी पा लेते हैं!! यह माला विविध भाँति के रंगीन पुष्पों से बनाई गई है! सूत्र, मन्त्र, ऋद्धि आदि के धागों से गूँथी गई है! जिनेन्द्र भगवान की अनन्त गुणावली इसका मूलाधार तत्त्व है!! सम्पूर्ण माला द्रव्य है! सभी रंगीन फूल विविध क्षणवर्ती पर्यायें हैं! उन पुष्प रूपी पर्यायों में निरन्तर प्रवहमान गुण रूपी धागा है! जो भक्त द्रव्य-गुण-पर्यायों की स्वतंत्रता को समझ कर, भेद विज्ञान करके, अभेद का आनन्द लेता है—वह लौकिक सुख को तो अपने आप प्राप्त करता ही है। अलौकिक, निःश्रेयस लक्ष्मी भी उसे इस पुरुषार्थ द्वारा मिलती है। माला के रूप रंग आदि में रुचि वाला, विकल्प करने वाला आदि को आनन्द प्राप्त नहीं होता—इसी प्रकार गुण और पर्यायों के विकल्पों मे अटक जाने वाले को आध्यात्मिक आनन्द प्राप्त नहीं होता। उस आनन्द को तो द्रव्यदृष्टि से अभेद वस्तु को स्वीकार करने वाला—पहिनने वाला व्यक्ति ही उठा सकता है! माला तो माला ही है—द्रव्य ही है। वह सूत्र नहीं, फूल नहीं अर्थात् गुण नहीं, पर्याय नहीं। भेद होते हुए भी अभेद है। इस प्रकार इस श्लोक से यही आध्यात्मिक ध्वनि निकलती है!!

The Goddess of wealth of her own accord resnrts to that man of high self-respect in this world, who always place round his neck, O Jinendra this garland of orisons, which has been sturng by me with the strings of The excellences out of devation, and which looks charming on account of the multi-coloured flowers in the shape of beautiful words. 48.

× × ×

In this world the Goddess of prosperity is compelled to approach the respectable person who constantly put on round his neck the garland of merits produced in this eulogic form by me in devotion to you ann composed of narious pretty flowers of literary beauty. 48.

× × ×

जन्माभिषेक शोभा-यात्रा

मति-श्रुत अवधि समेत, ऋषभ जिन अवतरे।
मुग्ध हुआ त्रैलोक्य, देव विभ्रम भरे॥
घंटे बजने लगे, सोलहों स्वर्ग में।
सिंहनाद हो उठा, ज्योतिषी वर्ग में॥१॥

गूंजी मधुरःध्वनि, शंख की स्वयमेव, प्रति सुर-भवन में।
दुन्दुभि तथा शहनाइयाँ, बज उठीं व्यन्तर-सदन में॥
डोला सिंहासन, इन्द्र का जिन, जन्म निश्चय हो गया।
धनराज तब मायामयी गजराज लेने को गया॥२॥

सौ मुख वाला ऐरावत सु विशाल था।
मुख में थे दन्ताष्ट दंत प्रति ताल था॥
ताल-ताल में बनी सवासौ कमलिनी।
कमल बेल में खिले कमल पच्चीस ही॥३॥

प्रत्येक कमलों में पंखुड़ियां, एक सौ ही आठ थीं।
प्रत्येक पंखुड़ि मध्य नव-रस, अप्सराएँ नाचतीं ॥
मणि स्वर्ण रत्नों से अलंकृत, देव-मण्डप बन रहा।
घन झल्लरी चामर पताका, देखता त्रिभुवन रहा ॥४॥

ऐसे अद्भुत गज पर, सुर परिवार ले।
उतरा भूपर इन्द्र, महा जयकार ले ॥
अवधपुरी की परिक्रमाएँ हो चुकीं।
इन्द्राणी चुपके से जा भीतर रुकीं ॥५॥

जाकर प्रसूति गृह सुलाया, देवि 'मरु' माँ के लिये।
नवजात शिशु को उठा लाईं, इन्द्र ने दर्शन किये॥
दर्शन हजारों नेत्र से, करके अघाये वे नहीं।
सौधर्म ने तब गोद में, शिशु को उठाया झुक वहीं ॥६॥

शिर छत्र लगाया शिशु पर ईशानेन्द्र ने।
फिर चँवर ढुराये सनत्कुमार महेन्द्र ने ॥
शेष इन्द्र उत्सव में जय-जय बोलते।
पहुँचे पांडुक वन में नभ से डोलते ॥७॥

लाँघ करके लक्ष योजन, की ऊँचाई मेरु की।
पांडुक-शिला पर गये सज्जा, पूर्व जिसकी हो चुकी ॥
थी अर्द्ध चन्द्राकार मणिमय, अष्ट मंगल युत शिला।
शुभ स्वर्ण सिंहासन विमल, जिस पर रहा था झिलमिला ॥८॥

मणिमय मंडप मध्य रखा कमलासनं।
उस पर शिशु वृषभेश्वर थे पद्मासनं ॥
पूर्व दिशा में मार्तण्ड मुख मंडलम्।
था अति ही दैदीप्यमान शुभ मंगलम् ॥९॥

इन्द्राणियां मिल गा रहीं, मांगल्य पूर्ण बधाईयां।
नच रहीं देवांगनाएं, बज रहीं शहनाईयां॥
जल ला रहे क्षीराब्धि से, सुर वृन्द हाथों हाथ ही।
अभिषेक करते कलश लेकर, इन्द्र दोनों साथ ही॥१०॥

वदन उदर अवगाह कलश गत जानिये।
एक बार अष्टादश लाख प्रमानिये॥
इन्द्र कलश ले धारावाह उड़ेलते।
वृषभ शीर्ष पर क्रमशः उनको झेलते॥११॥

झेलते प्रभु कलश धारा, आठ एक हजार की।
प्रक्षाल के उपरान्त शोभा क्या कहें शृंगार की॥
उत्सव हुआ संपन्न यों मरुदेवि के सुत लाड़ले।
वापिस मिले उनको उन्हें, देवेन्द्र अपने घर चले॥१२॥
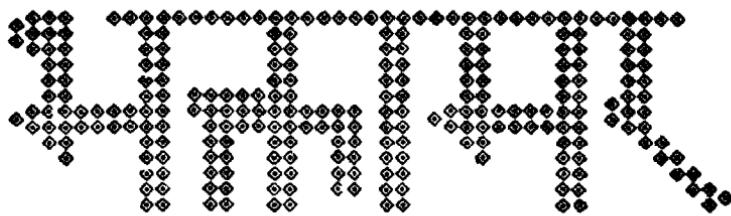
क
था
लो
क

(द्वितीय-खण्ड)

जंगल में मंगल

कितना ही कुशल कलाकार क्यों न हो, एक ही बार की असावधानी से अपनी प्रतिष्ठा से हाथ धो बैठता है; कितना ही कुशल लक्ष्य-वेधक क्यों न हो, ध्यान बटते ही निशाना चूक जाता है।······

हां ! तो सुदत्त भी एक कलाकार था—चौर्य-कला में सिद्धहस्त !! किन्तु······संभवत: अनहोनी उस दिन अपना रूप बदल कर ही आई होगी; क्योंकि तभी तो राज्य-शासन की आंखों में सदा धूल झोंकने वाला वही सुदत्त सहसा राजनीति के चक्रव्यूह में बुरी तरह फँस गया और रंगे हाथों पकड़ा गया······।

इसमें सन्देह नहीं कि चोर की चौर्य-कला जब घुटने टेक देती है, तो मिथ्या मायाचारी मानो कवच बनकर उसकी रक्षा करने सेवा में उपस्थित हो जाती है।···राजा ने प्रश्न किया—

"वर्षों से परेशान करने के पश्चात् आखिर आज हाथ में आ ही गये; धन तो खूब जोड़ा है चुरा-चुरा कर, पर पहिनने को फटी हुई कोपीन भी नहीं है; अवश्य ही किसी पूंजीपति धन्नासेठ की छत्रच्छाया में तुम्हारे ये जघन्य अपराध पनपते रहे होंगे। भला, साफ-साफ तो बताओ किनके यहाँ रखी है तुम्हारी अपार दौलत···?"

"···पूंजीपति हेमदत्त श्रेष्ठी; महाराज !"···चोर के मुँह से अनायास ही निकला।

"हूँ······।"

× × ×

भोलापन सदैव से ही छला जाता आ रहा है—छलनाओं द्वारा। इसलिये यह कथन कोई नवीनता नहीं रखता कि राजा के सामने लाये जाते ही श्रेष्ठि हेमदत्त ने बचाव के लिये सत्यता की कोई दलील उनके समक्ष उपस्थित न की हो। उन्होंने अति विनम्र शब्दों में कहा—

"राजन् ! जब इसकी शक्ल भी मैंने आज ही देखी है तो इसके साथ मेरा किसी प्रकार का संबंध कैसे संभव है? और तब जब कि वह ऐसे लोक निन्दित घृण्य कार्य को अपनाता है।"...

"नरेश ! जिनदेव उपासक जैनी फूंक-फूंक कर पैर रखने वाले होते हैं—फिर मैं ही क्यों यह आत्मघाती अनर्थ करने का दुस्साहस करता ?... मैं निर्दोष हूँ—निरपराध हूं—मुझ पर प्रतीति लाईये और मुक्त कीजिये।"...

राजा विवेकी था; श्रेष्ठी की सीधी सच्ची सरल बातों ने उसके हृदय पर गहरा प्रभाव डाला। परन्तु इस प्रभाव का चोर की मिथ्यावादिता द्वारा तत्काल ही अभाव हो गया ! जल में खींची हुई गहरी रेखा के समान ही सेठ का प्रभाव तो दूर उल्टे चौर-कर्म को बढ़ावा देने का दोष भी सेठ जी के मत्थे मढ़ा गया।...

गहरी सिसकियें भरते हुए चोर बोला—"सेठजी ! धर्म का भी डर नहीं रहा आपको ? "आप डुबन्ते पांड़े ले डूबे जजमान—" आप डूबते हैं तो भले ही डूब जायें साथ में मुझ गरीब को क्यों घसीटते हैं ? मेरा परिवार तो भूखों मर जावेगा। आप को क्या ? आप मर भी जायें तो भी मजे में गुजारा चल सकता है—आप के परिवार का ! सेठ जी ! न्याय अन्याय को न देखते हुए; रोती हुई आत्मा का मुंह बंद करते हुए तथा सब कुछ देखने वाले परमात्मा की आँखें फोड़ते हुए मैंने अपना यह शरीर तुम्हारे हाथ बेच दिया था, जैसा तुमने कहा, वैसा मैंने किया। क्या यह आज उसी का पारितोषिक है, जो आप स्वयं बचकर मुझे बरबाद करने की सोच रहे हैं ?"...

चोर अपनी बात पूरी भी न कह पाया था कि राजा ने तत्काल ही आज्ञा दी—"कोटपाल ! ले जाओ इसे; मैं अब अधिक सुनना नहीं चाहता इस सेठ की बात ! यह राजद्रोही है; चोरों का सरदार है।...यहाँ से आठ मील दूर बियावान जंगल है और उसमें जो घोर तिमिर ग्रस्त बावड़ी है, उसमें इस भयंकर अपराधी के हाथ-पैर बाध कर डलवा दिया जाय।"

कहने की देर थी, कि सेठ यथास्थान ले जाया गया और निर्दयता से उस भयंकर अंध-कूप में छोड़ दिया गया।

हमारे कुछ पाठक सत्य की दुर्दशा और असत्य की विजय देख कर मन में

कुछ कुंद रहे होंगे परन्तु अन्ततोगत्वा 'सत्यमेव जयते' का शाश्वत स्वर्ण सिद्धान्त भी भला क्या कभी झूठ हो सकता है ! सत्य के शासन में देर है······अन्धेर नहीं······ ।

× × ×

अन्ध-कूप में क्षुधित-दुखित-प्रपीड़ित पड़े सेठ जी को तीन दिन तीन रात हो गये । जीवन की एक-एक घड़ी वर्ष बन कर कटती । सोचते—"इस इंच-इंच रेंगने वाली बीभत्स मृत्यु से तो झपट कर आने वाली मौत ही श्रेयस्कर है ।"······परन्तु नहीं, सदा सत्य का पालन करने वाला व्यक्ति सम्यग्दृष्टि होता ही है । शारीरिक वेदना का अनुभव न होने देने के लिये हेमदत्त श्रेष्ठि आत्मध्यान में तल्लीन हो गए और प्रथम तीर्थङ्कर भगवान आदिनाथ की आदर्श झांकी उनकी बंद आँखों में चित्रपट की भाँति झूलने लगी ।······महाप्रभावक श्री भक्तामर जी पर उनकी अटूट आस्था थी ।······ज्यों ही उन्होंने भक्तामर के प्रथम द्वितिय श्लोकों का स्मरण उनकी ऋद्धि और मंत्र सहित किया कि तत्काल एक देदीप्यमान ज्योति से उनकी बन्द आंखें खुल गई ।······और उन खुली हुई आँखों ने देखा कि सामने एक देवी हाथ जोड़े खड़ी है ।···अपने पर सेठ जी ने जब दृष्टि डाली तो आश्चर्य का ठिकाना न रहा । रत्नजटित सिंहासन पर विविध वस्त्रालंकृत और नाना प्रकार की विभूतियों से युक्त अपने को पाया ! !

"तुम कौन हो ?" हेमदत्त जी बोले ।

"शासन देवी विजया"—सौन्दर्य-प्रभा बिखेरती हुई देवी बोली ।

"तुम यहाँ इस अन्ध-कूप में क्यों आई ?"

"तुम्हारे इन दो श्लोकों की ऋद्धि एवं मंत्र मोहिनी के वशीभूत होकर ।" इतना कह कर देखते ही देखते वह कपूर की भाँति आँखों से ओझल हो गई ।

× × ×

लाश देख कर तो गिद्ध ही झपटते हैं ।···राजकर्मचारियों ने सोचा—चलो उस मरणासन्न श्रेष्ठी के पास चलें, बन्धन मुक्ति का प्रलोभन दिखाकर उससे कुछ स्वर्ण-मुद्रायें ऐंठें ।······पर वहाँ पहुँच कर जिन भक्त हेमदत्त श्रेष्ठि का जो अनोखा ठाठ देखा तो होश ठिकाने न रहे ।···उल्टे पैरों भागे । हाँपते-हाँपते राजा से निवेदन किया—

"हे उज्जयनी नरेश ! सेठ हेमदत्त जी अन्ध-कूप में पड़े सड़ रहे हों सो बात नहीं।"

साश्चर्य राजा बोला—"तो फिर ?"

राज कर्मचारी एक ही साथ एक स्वर में बोले—"वह तो जंगल में मंगल कर रहे हैं।"

इसके पश्चात् सनातन जैन-धर्म की कितनी प्रभावना हुई होगी—यह लिखने की नहीं, सोचने-समझने की चीज है।

●●●

जान बची तो लाखों पाये

"हे स्वामिन् ! नमोऽस्तु, नमोऽस्तु, नमोऽस्तु; आगच्छ, आगच्छ; अन्न-जल शुद्ध है; स्वामिन् आईये !"·········की मधुर स्वर लहरी एक बार पुनः वायुमंडल में थिरक उठी !

नव यौवन दम्पत्ति के सु-मधुर कण्ठों से एक साथ निकला हुआ यह स्वर केवल जड़ शब्दों के सहारे ही प्रस्फुटित नहीं हुआ था बल्कि उसमें आन्तरिक हार्दिक श्रद्धा, भक्ति, विनय एवं उपासनादि तत्त्वों की महक थी।

कवि लोग जिस प्रकृति की छटा से विमुग्ध होकर आत्मविभोर हो जाते हैं—उसी प्रकृति के आँचल में हमारे नग्न दिगम्बर मुनि और तपस्वी वास किया करते हैं।

प्रकृति क्या है ? आत्मा की खुली हुई एक पुस्तक ! जिस प्रकृति को हम नीरव, मौन और एकांकी बियावान जगलों और गुफाओं में देखते हैं, हरे-भरे स्थावर वृक्ष-लताओं में देखते हैं, कल-कल निनादनी नदियों में देखते हैं—वही सौम्य प्रकृति इन महामना महात्माओं की स्वयं अपनी प्रकृति है। इसलिये ऐसे नैसर्गिक क्षेत्र में वे आत्मविभोर तो होते ही हैं—साक्षात् आत्म-दर्शन करते हुए आत्म-कल्याण भी करते हैं; और जो आत्म-कल्याण कर सकते हैं; परोपकार भी उन्हीं से संभव है। जो स्वयं भव-सागर से तर सकें, वही अन्यों को तार सकते हैं। तभी तो इन परम गुरुओं की तरण-तारण संज्ञा है।

"परोपकाराय सतां विभूतय:" के चूंकि वे साक्षात् अवतार होते हैं अतएव उन्हें मानव के सामाजिक क्षेत्र में भी प्रविष्ट होना पड़ता है; आहार ग्रहण के उद्देश्य से नहीं। हम लोगों की भाँति वे खाने के लिये नहीं जीते बल्कि जीने के लिये खाते हैं !

हां ! तो पीत उत्तरीय ओढ़े, हाथ जोड़े वणिकपुत्र सुदत्त श्रेष्ठि सुमंगल-कलश गृहीता अपनी पत्नी के साथ खड़े हुए इन तरण-तारण गुरुवर्य का आह्वान कर रहे थे।

आज भी हम परम दिगम्बर मुनियों को आहार देते हैं। यद्यपि न तो वह संख्या साधुओं की है और न आहार-दान देने वाले श्रावक-श्राविकाओं की ही, तथापि उपर्युक्त स्वरों को श्रवण कर अवश्य ही हमारी सुषुप्त चेतना उस सांस्कृतिक वातावरण का स्पर्श पाते ही पुलक उठती है—आनन्द विभोर हो नाचने लगती है। भाव-पारखी मुनि ऐसे स्वरों के अभ्यस्त होते हैं। तत्काल ही भोजन-शाला में प्रविष्ट हुए एवं यथाविधि निरन्तराय आहार ग्रहण किये। उपरान्त गृहस्थ ने तत्त्वज्ञान श्रवण करने की इच्छा प्रकट की।

चूंकि वह भक्तिकाल का मध्य युग था; अन्यान्य सम्प्रदाय मन्त्रों के बल पर चमत्कार प्रकट कर अपने अपने धर्मों की महत्ता व्यक्त करते हुए होड़ाहोड़ी में संलग्न थे।·········जैन साधु भी समय की हवा पहिचानते थे इसलिये वे भी उस समय श्रावकों को तत्त्वज्ञान का पाठ "थ्योरिटिकल" (सैद्धांतिक) नहीं "प्रेक्टिकल" (प्रायोगिक) रूप से ही पढ़ाते थे। आज वैज्ञानिक यंत्रों से प्रयोगशालाएँ चलाते है, उस समय वे मंत्रों और तंत्रों से ही चलाई जातीं थीं। इस प्रकार समयानुकूल चलने से एक पंथ दो काज सिद्ध होते थे। गृहस्थ का लौकिक एवं पारलौकिक आत्म-कल्याण, आचार्यों का परोपकार लाभ तथा जैन तत्त्वज्ञान की प्रभावना। अतएव उन मुनिराज ने महाप्रभावक भक्तामर के द्वितीय युगल काव्य और उनकी मंत्र-ऋद्धि-साधना विधि आदि मौखिक रटादी और चल दिये बियावान जंगल की ओर !

× × ×

"व्यापारे वसति लक्ष्मी"·········। फिर भला वणिक्पुत्र अकर्मण्य या निष्क्रिय कैसे बैठा रह सकता है ?······जहाजों पर माल लदवा कर चल दिया समुद्र के उस पार रत्नद्वीप की ओर······।

रत्नद्वीप कहाँ है ? ······इस विषय में आज के इतिहास और भूगोल बिल्कुल ही मौन हैं; केवल पुरातन पुराणों के ही मुँह खुले हुए हैं।······

वस्तु ! समुद्र की छाती को रौंदते-चीरते हुए जहाज बढ़े आ रहे हैं।······ उनमें बैठे हुए मानव मानो उस अगाध जल पर विजय पाकर अट्टहास कर रहे हों; परन्तु उन्हें यह खबर कहाँ कि हमारी बनाई हुई रूप रेखाओं पर भाग्य-कर्म-या दैव सदैव चलेगा ही—यह निश्चित नहीं। कर्म की रेखाएँ या पगडंडियाँ तो उसकी अपनी निराली ही हैं—स्वतंत्र हैं। ······हाँ यह बात दूसरी है कि किसी जगह पुरुषार्थ की पगडंडी से कहीं कोई एकाध कर्म की पगडंडी क्रास कर जावे !·········इस क्रास स्थान को हमें "संयोग" कहना चाहिये; पर हम ऐसा न कहकर कर्त्तव्य बुद्धि के नशे में कुछ और ही बकते हैं और सिर पर आसमान उठाये फिरते हैं—अहंकार का !

·········हाँ तो होता क्या है कि एकाएक जोरों का तूफान आता है, घटाएँ घिर आती हैं, जहाजों का विजय-अभिमान डोलने लगता है। समुद्र की चौड़ी छाती पर रखे हुए उनके मजबूत पैर डगमगाने लगते हैं। खुर्राटे भरते हुये मनुष्य जग जाते हैं ! जगते हुए रोते हैं और रोते हुओं के प्राण कहाँ अटके होंगे ? कहा नहीं जा सकता है !! जहाजों में भरी हुई अपार दौलत के बदले प्राण-दान का सौदा करने वाला यदि वहाँ कोई होता तो निश्चय ही वहाँ मोल तोल का प्रश्न ही नहीं उठता और मनमाने हीरे जवाहरात पाता !!!

× × ×

सामायिक में लीन एक एकान्त कोने में बैठे हुये सुदत्त श्रेष्ठि के कर्ण-कपाट व नेत्र-द्वार तब विस्फारित हुये जब चारों ओर "बचाओ-बचाओ" का कर्णभेदी शोर होने लगा। अपने पति 'मानस' के साथ आत्म-ज्योति के दर्शनार्थ गई हुई पाँचों इन्द्रियाँ तो तब लौटीं जब उनका वहाँ बैठना ही कठिन हो गया।·········

वणिक्पुत्र सुदत्त श्रेष्ठि को स्थिति समझते देर न लगी। तत्काल उन मंत्र काव्यों का उच्चारण जोर जोर से करने लगे जो कि उन्हें मौखिक याद कराये गये थे। शुद्धोच्चारण के एक एक शब्द ने मानो सजीव प्रतिमा का निर्माण कर दिया। सौन्दर्य की उस प्रतिमा ने अपना नाम देवी 'प्रभावती' बतलाया और उन्हें 'चन्द्रकान्त' मणि प्रदान कर ज्यों ही वह विलीन हुई त्यों ही चन्द्रमा छिटक कर मुस्कराने लगा। बादल छट कर आसमान साफ हो गया और प्रलय-पवन सौम्य हो गई।··· · ···

सुनहरा प्रभात हुआ तो रत्नद्वीप के निवासियों ने देखा कि जहाज समुद्र तट पर खड़े हैं। यात्री उनसे उतर कर मुस्करा रहे हैं—मानो कुछ हुआ ही

नहीं। कृतज्ञता प्रकाशन के लिये यात्रियों ने सुदत्त श्रेष्ठि के सम्मुख रत्नों से भरी हुई झोलियाँ प्रस्तुत कीं किन्तु उस विवेकी वणिकपुत्र ने उन्हें लेने से इनकार कर दिया और अत्यन्त कोमल करुण स्वर में बोला :—

"लाल मणी तो लाखों पावें"

नक्शा ही बदल गया

सुभद्रावती नगरी में ही नहीं वरन् समस्त कोकण प्रदेश की गली-गली में यही चर्चा थी कि आखिर 'देवल' इतनी सम्पत्ति पा कैसे गया!······कल तो फटा जीर्ण-शीर्ण कुरता पहिने हुए लकड़ी को आरे से चीर रहा था। नन्हें-नन्हें बच्चे पास में खड़े रोटी के एक-एक टुकड़े को बिलला रहे थे। स्त्री ताने मार मार कर उसके पुरुषार्थ पर हथौड़े की सी चोटें कर रही थी तथा स्वयं मजदूरी कर परिवार के पेट पालने की डींगें हाँक रही थी और आज अचानक एकदम काया पलट!! रात्रि भर में इतना अद्भुत परिवर्तन!!! सोचने वाले हैरान थे, देखने वाले दाँतों तले अँगुली दबाकर रह जाते और पड़ौसी!··· उनकी छातियों पर तो साँप लोट रहे थे या ईर्ष्या की दावाग्नि में जले जा रहे थे वे!···हाँ, और उनके बारे में तो कहना भूल ही गया जो कल तक सीधे मुँह बात नहीं करते थे; पर आज अपनी ठकुर सुहाती से मानों उसके तलुए ही चाटे जाते थे और वे साहूकार जिन्होंने लाल लाल आँखें दिखाते हुए तकाजे पर तकाजे लगाए और घर के दरवाजे को रौंद डाला; आज चिकनी चुपड़ी बातों द्वारा अपने अत्याचारों पर पर्दा डालने को निकल पड़े—उसकी खुशामद में! बाहुरी गिरगिट जैसी रंग बदलने वाली दुनियाँ; धन्य है तुझे!!

सबहि सहायक सबल के, कोउ न निबल सहाय।
पवन जगावत आग को, दीपहिं देत बुझाय॥

परन्तु नहीं; इन सब के बीच में एक बहु मननीय वर्ग भी रहता है जिनका कार्य रहस्योद्घाटन करना ही होता है, वे सदैव कार्य में कारणों की ही

खोज किया करते हैं। ऐसे व्यक्ति वैज्ञानिक अथवा दार्शनिक होते हैं···मात्र तत्त्वान्वेषक। ऐसे ही तत्त्वान्वेषक महोदय भी इस रहस्य की भूमिका खोजने 'देवल' के पास आये और जिज्ञासु भाव से बोले : "अवश्य ही आपने किन्हीं मंत्रों का साधन किया है ? क्या बतलाने का कष्ट करेंगे कि वह कौन सा मंत्र है ? कहाँ से वह आप को प्राप्त हुआ और उसकी साधन विधि क्या है ?"

देवल एक सरल सीधी प्रकृति का मनुष्य था। आज वह भले ही अपार वैभव का स्वामी हो गया हो, पर कल तक तो वह एक साधारण कठफार (विश्वकर्मा-बढ़ई) से कुछ अधिक नहीं था। निर्धनता की ठोकरें ही कुछ ऐसी होती हैं कि निर्धन मनुष्य में कभी कभी देवत्व के दर्शन होने लगते हैं। 'देवल' की बाहिरी दुनियाँ तो अवश्य बदल गई थी पर अन्तरंग उसका अभी उतना ही निर्मल था—सरल था !······विनम्रता से यथाक्रम कहना प्रारम्भ किया—

श्रीमान् जी ! आप को निश्चय न होगा कि गिल्ली डंडे जैसे अल्पवयस्क बालकों के साधारण खेल से मेरे इस क्रान्तिकारी परिवर्तन की कहानी का आरम्भ होता है।···आज से सात दिन पहिले इस सामने वाले चौगान में छोटे बालकों का एक समूह उपर्युक्त खेल खेल रहा था। इतने में घूमता घामता एक सप्त वर्षीय बालक भी क्रीड़ास्थल पर आ पहुँचा। बगल में एक छोटी सी पुस्तिका दबाये था; इससे ज्ञात होता था कि वह अभी शाला से ही लौटा है और अपने समवयस्कों को खेलते देख कर उसका भी जी खेलने को ललचा गया है। मैं उस बालक को देखते ही उस पर मुग्ध हो गया। विचारने लगा, कितने निश्चिन्त होते हैं ये नन्हें नन्हें भोले बालक; न खाने की चिन्ता, न खिलाने की। एक मैं हूँ, कि दिन भर बसूला चलाता हूँ, तब कहीं मुश्किल से अपने पेट को रोटियाँ जोड़ पाता हूँ, परिवार पालन तो दूर ही रहा। जैसे तैसे विचारों का क्रम टूटा तो क्या देखता हूँ कि वह बालक खेलने की अभिलाषा रखते हुए भी खेल में शामिल इसलिए नहीं हो पा रहा था कि उसके पास डंडा नहीं है। निदान एक दयालु बालक ने डंडा दिया और उसने खेलना शुरू किया पर दिल खोलकर वह खेल भी न पाया था कि वह डंडा ही टूट गया। डंडे के टूटते ही उसका दिल टूट गया। उसके मुख पर छाये हुए विषाद के भाव मैंने स्पष्ट पढ़ लिए। वह दुखी था, इसलिए नहीं कि और अधिक न खेल सका पर इसलिए कि इस समय वह दूसरे का ऋणी था। लज्जा से उसका मुख लाल हो गया !···न जाने क्यों उसकी यह स्थिति मुझे असह्य हो गई। मैंने उसे संकेत से बुलाया और पुचकार कर पास बैठाया !

पूछा—"बेटा ! तुम्हारा नाम क्या है ?"

"सोमकान्ति"—भोलेपन से उसने उत्तर दिया।

"और बेटा ! पिता जी का ?"

"सुधन श्रेष्ठी।"

"बेटा सोमकान्ति ! बतलाना यह कौन सी पुस्तिका है ?"

"नहीं, बिना स्नान किये इसे नहीं छूने दूंगा मैं। यह जैन धर्म का पवित्र ग्रन्थ भक्तामर स्तोत्र है। इसे श्रद्धावान श्रावक ही छू सकते हैं।" बालक के मुंह से मानो सिखाये हुए शब्द नितान्त भोलेपन से निकलते गये और मैं मोहित होता गया। उसको उकताहट हो रही थी, इसलिए मैंने दो सुन्दर कन्के बनाकर उसे दिये और कहा कि एक से स्वयं खेलना और दूसरा उस लड़के को जाकर दे दो जिसका कि तुमने लिया था।

"वास्तव में भाई साहब !" देवल बोलता ही गया—निष्कपटता में ही मित्रता का वास रहता है। देखो न, कहाँ तो मैं अधबूढ़ा खूंसट और कहाँ वह सप्तवर्षीय बालक ? पर हम दोनों ऐसे घुलमिल कर बातें कर रहे थे, मानो समवयस्क हों। उसके साथ बातें करके तो सचमुच में मैंने इस पचपन वर्ष की उम्र में भी बचपन का आनन्द ले लिया था !···भोला बालक कन्के पाकर इतना खुश हुआ कि उसने पुस्तक देते हुए मुझ से कहा :—"पिता जी से न कहना" और दौड़ कर चला गया। अब मैंने पुस्तक के पत्र पलटे तो उसके पाँचवें श्लोक पर नजर ठहर गई और कुछ ऐसी श्रद्धा जगी कि उसे याद कर यथाविधि ऋद्धि और मंत्र की साधना के लिए पास के ही जंगल की एक निर्जन गुफा में जाकर ध्यान लगाने लगा ! बस फिर क्या था ? कल ही रात्रि को जब मैं उपर्युक्त काव्य और ऋद्धि-मंत्र की जाप जप रहा था कि एकाएक 'अजिता' नाम की देवी प्रकट हुई और बोली—

"हे वत्स ! क्या चाहते हो ?"

"धन" मेरे मुँह से बिना सोचे-विचारे ही निकल पड़ा।

"तो देखो, वत्स ! यहाँ से ईशान कोण में जो पीपल का झाड़ है—उसके चारों ओर की भूमि खोदो।" इतना कह कर देवी अन्तर्धान हो गई और मैं सर पर पैर रखकर भागा उस वृक्ष की तरफ ! खोदने पर वास्तव में करोड़ों के हीरे जवाहरात वहाँ गड़े हुए प्राप्त हुए हैं और इनका उपभोग मैं तभी करूंगा जब तक कि एक मनोरम आदिनाथ चैत्यालय का निर्माण कराकर उसमें उपर्युक्त 'भक्तामर' का पांचवां श्लोक ऋद्धि-मंत्र सहित उसकी दीवारों में अङ्कित न करा दूंगा।

●●●

गोबर-गणेश

अध्ययन शालाओं में एक जड़मति छात्र की क्या अवस्था होती है, उसे वह भुक्तभोगी विद्यार्थी ही अनुभव कर सकता है; जो बात बात में अध्यापक की प्रताड़ना, साथियों और सहपाठियों द्वारा उपहास एवं आत्म-ग्लानि उसके रसमय जीवन को निराशा से भर देते हैं ! निराशा ही क्यों ? कभी कभी तो आत्म-हत्या जैसा लोकनिंद्य जघन्य कार्य भी कर बैठता है वह, या अशरण सा घूमता हुआ विविधि मंत्र-तन्त्रों का अनुष्ठान करके कुशाग्र बुद्धि बनने के स्वप्न देखा करता है। ऐसे ही एक अन्तेवासी की यह लघु कथा है जिसने कि महाप्रभावक भक्तामर जी के छटवें काव्य का ऋद्धि-मंत्र सहित अनुष्ठान किया और ज्ञानावरणी कर्म के क्षयोपशम से व्युत्पन्नमति बनकर अपने जीवन को मधुर बनाया।

तत्कालीन भारत की राजधानी काशी; राजा हेमवाहन; उसके दो पुत्र— जेष्ठभूपाल, लघुभुजपाल। पहिला अतिमन्द बुद्धि—दूसरा कुशाग्रबुद्धि या आध्यात्मिक भाषा में उन्हें कह सकते हैं—जड, चेतन या निश्चय और व्यवहार।

बारह वर्ष कूकर की पूंछ नली में रखी गई, जब निकली तब टेढी की टेढी। बारह वर्ष तक पंडित श्रुतधर ने भूपाल के साथ माथापच्ची की और जब देखा कि उसके मस्तिष्क में सिवाय गोबर के और कुछ नहीं भरा है तब उनके पांडित्य ने जबाव दे दिया ! ···और दूसरी ओर बारह वर्ष में राजकुमार भुजपाल ने क्या प्राप्त किया, वह भी सुन लीजिये। पिंगल, व्याकरण तर्क, न्याय, राजनीति, सामुद्रिक, वैद्यक, शास्त्र, विज्ञान, मनोविज्ञान आदि आदि।

एक ही गुरु के पढ़ाये ये दो शिष्य, एक ही पिता के ये दो पुत्र परन्तु अन्तर, जमीन और आसमान का। यह दैव दुर्विपाक नहीं तो और क्या है ? परिणाम स्वरूप एक का जीवन लोकप्रियता के पथ पर और दूसरे का लोक-

मिथ्या के मार्ग पर चलने लगा !···

विवश परिस्थितियों से पराजित होकर उसने अपने लघुभ्राता भुजपाल की सम्मति के अनुसार उपर्युक्त मंत्र का अनुष्ठान किया और इक्कीस दिन के पश्चात् भूपाल का साक्षात्कार जिन शासन की अधिष्ठात्री 'ब्राह्मी' नाम की देवी से हुआ। उससे वर प्राप्त कर वह एक ऐसा धुरन्धर विद्वान हुआ कि पुराणों में उस घटना ने अपना एक विशिष्ट स्थान बना लिया है।

भयंकर चक्रवात

धूलिया एक ऐसा कु-तापसी था जिसने कि अपने मिथ्या पाखण्ड तथा ढोंग का जाल बिछाकर भोली जनता को उसमें फँसाने का उपक्रम रच रखा था। वैताली विद्या उसे सिद्ध हो गई थी···यह एक ऐसी विद्या है, जिसे कि चरित्र भ्रष्ट मनुष्य भी बिना आत्मज्ञान के प्राप्त कर लेते हैं और कुछ काल के लिए अपना आतङ्क जमाकर मनुष्यों की आँखों में धूल झोंक सकते हैं !··· पर कब तक ?···जब तक कि उनका साक्षात्कार किसी सम्यग्दृष्टि गुरु से नहीं हो जाता।

पाटलिपुत्र में 'धूलिया' और उसके शिष्यों ने कुछ ऐसा आतङ्क जमाया कि वहाँ कि प्रजा तो ठीक, राजा धर्मपाल भी उसकी चरण-रज लेने आने लगे। लौकिक चमत्कारों ने मानों उनके विवेक की आँखों में पट्टी बांध दी थी। जिन शासन के कट्टर भक्त ही बहुरूपिया मायाचारियों की नस पकड़ना जानते हैं। इनके सामने आते ही सत्य-सूर्य पर छाई हुई काली घटाएँ तत्काल छिन्न-भिन्न हो जाती हैं।···

एक किशोर पाखण्डी धूलिया के यह सब प्रपंच पूर्ण कृत्य देखता और उनके भण्डाफोड़ करने के अवसर की ताक में रहता। किशोर का नाम था—"रतिशेखर !"—वह कोई तपस्वी नहीं था; पर आत्मज्ञान अवश्य ही उसे कुछ अंशों में प्राप्त था ! साथ ही मंत्र-तंत्र आदि में भी उसकी पहुँच थी।

एक दिन रतिशेखर विद्या मन्दिर में बैठा हुआ अध्ययन में लीन था। धूर्त धूलिया का एक प्रमुख शिष्य उसके समीप जानबूझ कर इस उद्देश्य से आकर बैठा कि रतिशेखर उसे विनयावनत होकर नमस्कार करे; परन्तु क्या कभी सम्यक्त्वी भी मायाचारी मिथ्यात्वी के चरणों में झुक सकता है ?··· नमस्कार की तो कौन कहे उसने उसे देखा तक नहीं कि पास में कौन बैठा है ? बैठे बैठे चेले राम जब उकता गये तो चलते बने — अपना सा मुँह लिए; और आकर अपने गुरु धूलिया को एक-एक की दो-दो भिड़ा कर भड़काया ! बस फिर क्या था ? बुद्धिशून्य गुरु जी का पारा १०३ डिग्री पर चढ़ गया। आँखें चढ़ी हुईं देखीं तो बैताली विद्या की अनुगामिनी देवी हाथ बांधे आकर आगे खड़ी हो गई।

"क्या कार्य है, तापस !"···देवी बोली।

"रतिशेखर के प्राण हरण"—अट्टहास करते हुए धूलिया ने कहा।

"पर वह तो दृढ़ निश्चयी सम्यक्त्वी है; उसका सर्वनाश असंभव है; हाँ उसके तेज पर-उसके बढ़ते हुए प्रभाव पर धूल अवश्य बरसाई जा सकती है; और इस प्रकार आपके प्रभाव को अक्षुण्ण रखा जा सकता है।"

"तो जाओ, तत्काल यही करो देवी !"

आँधी उठी—इतने जोरों की कि मकान के मकान उड़ने लगे। धूलि वर्षा से आसमान भी नहीं दिखाई देता था। रतिशेखर की विशाल सुदृढ़ अट्टालिका तो मानो धूल के समुद्र में डूबी जा रही थी !···

रतिशेखर उस समय घर पर नहीं था; उसने जो यह हाल सुना तो महाप्रभावक श्री भक्तामर के सातवें श्लोक का स्मरण ऋद्धि-मंत्र जाप्य सहित कई बार किया। ध्यानस्थ होते ही वह किशोर क्या देखता है कि जिन शासन की अधिष्ठात्री देवी 'जृम्भा' बैताली विद्या की अनुचरी देवी के वक्षस्थल पर सवार है और उत्तप्त धूल का भयंकर चक्रवात धूर्त धूलिया की कुटी पर मंडरा रहा है।···इतनी धूल कि श्वांस लेना भी कठिन। निदान धूर्त धूलिया और उसके चेले चपाटे गिरते-पड़ते भागते रतिशेखर की शरण में आये और क्षमा याचना करते हुए सनातन जैन धर्म पर अपनी श्रद्धा व्यक्त की। और जैन धर्म की जय जयकार की।

सूखे ठूंठ में कोंपल

"आंख के अन्धे और नाम नयन सुख।" "जन्म के कंगाल पर नाम धनपाल!"...आखिर नाम से कुछ बनता बिगड़ता तो है नहीं, फिर भी दैव के प्रति मानो वह एक चुनौती अवश्य होता है! अथवा होता है एक तीखा व्यङ्ग!! और इस प्रकार वह नाम ही कभी-कभी आत्म-सन्तोष का साधन बन जाता है। पर इसे आत्म-सन्तोष तो क्या आत्म-वचना या आत्म-विस्मरण ही कहना अधिक उपयुक्त होगा।

वश्य धनपाल केवल निर्धन ही हों सो नहीं; निःसन्तान भी थे—अर्थात् "दुबले और दो अषाढ़" वाली कहावत के भी वे एक खासे जीते जागते प्रतीक थे। इन दोनों दुश्चिन्ताओं ने इनके जीवन के मधुर-रस को सोख लिया था। वह जमाना आज का जमाना तो था नहीं कि जो गरीब हैं, वे सन्तान की इच्छा न करें और जो धनवान हैं— लक्ष्मी पुत्र हैं, वे कुछ नहीं तो एक पुत्री का ही मुंह देखने के लिए देवी-देवताओं—पीर पैगम्बरों की देहली पर माथा रगड़ते फिरें! आज के युग की तो दिशा ही कुछ दूसरी हो गई है। जिनके यहां एक-एक लाल के लाले पड़े रहते हैं उनके यहां लालों की बोरियां भरी पड़ी रहती है। और जिनके यहां एक-एक दाने के लाले पड़े हैं उनके यहां इन बालों लालों की गिनती ही नहीं।

इसी प्रसङ्ग में इस युग के आदर्श 'सन्तति-निग्रह' के विषय में मैं कुछ भी नहीं लिखना चाहता; क्योंकि उससे कहानी की पौराणिक भूमिका के छूट जाने का भय है। यद्यपि कहानी मे भूमिका प्रायः नहीं के बराबर है परन्तु तथ्यांश उसमें अवश्य ही समूचा का समूचा ग्राह्य है। और वह तथ्यांश महाप्रभावक भक्तामर काव्य के अष्टम श्लोक, उसके मन्त्र एवं ऋद्धि आदि में गर्भित है। पुराणों में जो कुछ लिखा है वह विज्ञापन के लिए अथवा अपनी हाट खोलने के लिए नहीं प्रत्युत् सम्यग्दर्शन के मूल तत्त्व श्रद्धा के चमत्कार को प्राणिवर्ग

अपने व्यावहारिक प्रयोगों में देखकर लौकिक और पारलौकिक लाभ उठावें यही उनका मूल उद्देश्य समझ में आता है।

× × ×

धन्य हैं वे परमोपकारी उदारचित निःस्पृह संत चन्द्रकीर्ति और महीकीर्ति जिनकी अनन्य अनुकम्पा से धनपाल को उस श्लोक पर श्रद्धा हुई। यद्यपि जन्म जाति जैन वणिक् होने से भक्तामर काव्य उसको मौखिक रटा हुआ था तथापि तब वह स्वयं एक रूढ़िवादी शब्दतीर्थ और जड़तीर्थ था। युगल दिगम्बर जैन मुनियों की अपूर्व दया से जब उसने उन जड़ शब्दों की कबरें खोद-खोद कर उनमें विशाल ज्योति के दर्शन किये तो उसकी श्रद्धा और भक्ति उमड़ पड़ी और जब श्रद्धा और भक्ति उमड़ ही पड़ी तो उनका अवश्यम्भावी परिणाम कहाँ जाता ?···और एक दिन पर्यंकासन में ध्यानस्थ धनपाल श्रेष्ठि को उपर्युक्त-मंत्र की अधिष्ठात्री 'महिमदेवी' ने दर्शन दिये। बोली विनीत स्वर में :—"इस श्लोक के शब्दों में वास करने वाली मैं एक साकार शक्ति हूँ। तुम्हारी दोनों दुश्चिन्ताओं को मैं भलीभाँति जानती हूँ। चूँ कि तुमने निष्काम भाव से श्रद्धा के वशीभूत होकर इस पवित्र पद्य का पाठ किया था—इसलिए मुझे तुम्हारे पास आना पड़ा। यदि किसी कामना को लेकर तुम मंत्राराधन करते तो कदाचित् मेरा आना असंभव हो जाता। अस्तु—"कहो, क्या चाहते हो वत्स ! तुम्हारी किसी एक चिन्ता का समूल नाश ही इस समय मैं करूँगी।"

धन और सन्तान—इन दोनों अभावों में से किसकी पूर्ति के लिए वह प्रार्थना करे इस असमंजस में वह सेठ पड़ गया। निदान तर्क बोला :—जीवन जब तेरे पल्ले पड़ ही गया है तो उसकी यात्रा तो बिना पेट भरे कभी भी पूरी नहीं होगी ! अब रहा सन्तान का सवाल। सो उसका हल होना इतना आवश्यक भी क्या है ? वंश के नाम चलाने को ही सन्तान की आवश्यकता होती है न ?···सो वह तो तेरे नाम से चलती जायगी। जब धन नहीं होने पर भी तू धनपाल था अब धन हो जाने पर तू एक अमर धनपाल हो जायगा।

विश्वास ने तर्क को स्वीकार किया। अब धनपाल नाम से ही नहीं दाम से भी धनपाल हो गया।

●●●

सूनी गोद में खिलते कमल

जिसकी मधुर किलकारियों से घर का कोना कोना गुंजायमान हो जाता हो, जिसकी बाल-हठ लोक दुर्लभ वस्तुओं को भी अपने पास बुलाने की क्षमता रखती हो, जिसके धूल-धूसरित अङ्ग-प्रत्यङ्गों से सौन्दर्य टपका पड़ता हो, जिसकी सरलता में समस्त कृत्रिमताओं को एक अपूर्व चुनौती हो, जिसकी मन्द-मन्द मुस्कान में आनन्द का विशाल समुद्र लहराता हो और जिसके रोदन में भी संगीत की सरस स्वर लहरी गूँजती हो—ऐसा गोदी भरा लाल नन्हा सा नौनिहाल बालक जिस परिवार में नहीं है, उस घर की नीरवता का क्या कहना ? लाख-लाख आमोद-प्रमोद और भोग-विलास के सघन साधनों से गृहस्थी भरी पड़ी हो; किन्तु यदि जगमगाता हुआ कुल-दीपक उस गृह में नहीं है तो सर्वत्र नीरसता-शुष्कता एवं उदासीनता का घनीभूत कोहरा सा छाया रहता है। अपनी तोतली भाषा में जो वाङ्मय का रसास्वादन कराता हो या घुटनों के बल कुडरकर जो दिन भर आंगन को नापता रहता हो और रात में लोरियां सुन-सुन कर जो मीठी नींद में झपक जाता हो—ऐसा बालक यदि परिवार में नहीं, तो दाम्पत्य रूपी जीवन-तरु से फल क्या मिला ?...क्या लाभ दम्पत्ति के उस मधुर मिलन से जिसमें जीवन के सत्व की प्राप्ति न हुई हो ? सौभाग्यवती होकर भी जो जिव्हा से 'माँ' शब्द को सुनने के लिए सदा-सर्वदा लालायित बनी रहती हो, ऐसी अभागिनी—हतभागिनी के हृदय की टीस दूसरा कौन जान सकता है ? नौ माह—दो सौ सत्तर दिन—छै हजार चार सौ अस्सी घंटे या तीन लाख अठासी हजार आठ सौ सेकिंड उदर में रखने के उपरान्त भी जो नरक सदृश प्रसव की असह्य वेदना को हँसते-विहँसते सहने को लालायित बनी रहती हो वह 'सुत-शून्या' दिन-रात घड़ी घंटे कैसे काटती होगी उसे अन्तर्यामी के अतिरिक्त दूसरा कौन जानेगा—समझेगा ?

लावण्यमयी रानी हेमश्री का भी यही हाल था। आधी उम्र तक तो उनके यौवन-तरु में कोई फल लगा नहीं और शेष उम्र में तो फिर आशाओं पर पानी फिरा फिराया ही था।

× × ×

अधिकांश माताएँ अपनी अशिक्षित एवं अविवेक अवस्था में—"तेरा सत्यानाश हो, तू मर जाता तो अच्छा होता, तेरे पैदा होने की अपेक्षा तो मेरा बाँझ ही रहना भला था।" आदि नाना प्रकार की कर्ण कटु-वाणी अपनी सन्तान के

प्रति कहती हुई पाई जाती हैं। उन्हें स्मरण रखना चाहिए कि ऐसी स्त्रियाँ अगले भव के लिये बन्ध्या होने के कर्म का बंध करती हैं—यह आगमोक्त कथन है। अथवा जो स्त्रियाँ दूसरों के बालक को देख कर ईर्ष्या की अग्नि में जला करती हैं वे भी इसी निकृष्ट कर्म को बांधती हैं या जो नारियाँ प्रसूता की सेवा सुश्रूषा में उपेक्षा करती हैं वे भी बन्ध्या कर्म का बंध करती हैं।

आज-कल की शिक्षित महिलाएँ वासना की तृप्ति के लिए मनोरंजन तो खूब करती हैं और समय आने पर गर्भपात करती फिरती हैं—या बर्थ कंट्रोल की दवाओं का सेवन करती हैं; उन्हें याद रखना चाहिये कि वे अगले भव में अवश्य ही बन्ध्या होवेंगी। अष्टम तीर्थङ्कर भगवान चन्द्रप्रभु के जीवन पर दृष्टि-पात करने से विदित होगा कि उनकी माता ने भी यह पुत्र-रत्न यौवन की ढलती अवस्था में प्राप्त किया था, उसका कारण उनके द्वारा पूर्वोपार्जित कोई न कोई कर्म ही तो था।

× × ×

कुदेवों की देहली पर घंटों नाक रगड़ने और सिर फोड़ने पर भी जब कुछ फल प्राप्त नहीं हुआ तो कामरूप देश की भद्रावती नगरी का राजा 'हेमब्रह्म' और उनकी आज्ञाकारिणी भार्या 'हेमश्री' एक दिन वन क्रीड़ा को गये। जंगल में एक शिला खंड पर ध्यानस्थ वीतराग महा मुनिराज को देख दोनों उनकी शरण में पहुँचे। और दर्शन कर उनके चरणों के समीप बैठ गये।

मन:पर्यय ज्ञानी महा मुनिराज ने दोनों के मनोभावों को पढ़ा और उनके निवेदन करने के पूर्व ही उन्होंने कहा :—एक नवीन जैन मंदिर का निर्माण कर उसके शिखर पर स्वर्ण कलश चढ़ाओ। मंदिर की सजावट कर उसमें चतुर्विंशति तीर्थङ्करों की मूर्तियाँ स्थापित करो। इसके सिवाय सोने-चांदी अथवा कांसे की थाली में महा प्रभावक श्री भक्तामर जी का नौवाँ काव्य केशर से लिखो और उसे जल से धोकर प्रेम पूर्वक पी लिया करो! तुम्हारी मनो-कामना अवश्य ही पूर्ण होगी!

"मरता क्या न करता ?" राजा रानी ने महामुनिराज की बताई विधि को श्रद्धा पूर्वक स्वीकार किया और चरण छूकर राज-महल को लौट आये।

× × ×

वसंत पंचमी का दिन था। कामदेव पंचशरों से रति के साथ क्रीड़ा कर रहे थे। प्रकृति अँगड़ाईयाँ ले रही थी। खिले हुए कमलों पर भ्रमर मंडरा रहे थे। पक्षि युगल सरोवरों में ही जीवन-रस प्राप्त कर रहे थे।

उसी रात्रि की बात है कि पुष्पवती रानी हेमश्री का सौभाग्य फलित हो गया ! ···मधुर-मिलन में जो जीवन-रस प्रवाहित हुआ, उसका मनोरंजन नौ मास पश्चात् मानवीय आकार में प्रकट हुआ ।

राज-महल में बधाईयां गूंज उठीं, और नगर-भर में दीवाली मनाई गई !

नव-जात शिशु का नाम रखा गया "भुवन-भूषण"

●●●

भ्रान्त पथिक का भाग्य

अन्धकूप में पड़े हुए सेठ जी अपने अमूल्य जीवन की अन्तिम घड़ियाँ गिन ही रहे थे कि एकाएक छम···छम···छमा छम की मनोमुग्धकारी सुरीली ध्वनि से वे सिहर उठे ।

स्त्री वेद की भावना से नहीं; अपने उद्धार की कल्याणमयी कामना से । प्रश्न है कि एकान्त में स्त्री की कल्पना ही वासित होकर जब पुरुष में सिहरन पैदा कर देती है तो सेठ जी को क्यों उस प्रकार की सिहरन न हुई ? इस प्रश्न का हल एक अन्य प्रश्न खड़ा कर देने से सुगमता पूर्वक हो जायगा !

वह प्रश्न है:—क्या वासना की उत्पत्ति मौत के मुंह में जाते समय भी संभाव्य है ?···फिर वह स्त्री एक सामान्य मर्त्य लोक की नारी तो थी नहीं—साक्षात् लक्ष्मी रूप धारिणी रोहिणी थीं । जो महाप्रभावक श्री भक्तामर जी के दसवें काव्य से आहूत होकर उस निर्धन श्रीदत्त सेठ को लक्ष्मीपति बनाने आई थी । मानो "तुल्या भवन्ति भवतो ननु"- शब्दों की मूर्तिमती श्रद्धा ही सामने समुपस्थित होकर श्री जिनेन्द्रदेव के इस पुरातन साम्यवाद सिद्धान्त पर सेठ जी के हस्ताक्षर लेने आई हो ।

आज भी एक साम्यवाद है, जो केवल अपनी अदृश्य रूप रेखाओं से ही हमारे मन को मृग-तृष्णा की छलना के समान मुग्ध करता है । प्रयोगात्मक नाम की कोई वस्तु सचमुच उसमें है ही नहीं ।

हां, तो देवी को देखते ही सेठ जी तपाक से बोले:—"हे देव बाले ! मुझे इस अन्ध-कूप से निकालने की महती कृपा कीजिये ।"

देवी आश्चर्य में थी, कि आखिर मामला क्या है ? कुछ ही समय पूर्व तो इन्हीं सेठ जी को उसने विकराल सिंह के मुख में जाने से बचाया था और अब पुनः विपत्ति में फंस गये। एक से पिण्ड छूटा तो दूसरी बुरी बला सिर पर सवार ! 'छिद्रेष्वनर्था बहुली भवन्ति'—अस्तु। कारण तो पूंछना ही पड़ेगा—कि कैसे वह इस भयानक अंध कूप में आ गिरा। जिज्ञासु भाव से बोली :—

"क्या आप राह तो नहीं भटक गए थे सेठ जी ?"

"जी हां, लोभ के वशीभूत होकर मैं अपनी राह भूल गया। लालच के कारण मेरी बुद्धि भ्रष्ट होगई। परदेश से सामग्री लेकर सीधे घर की ओर आ रहा था कि रास्ते में श्री जिन मन्दिर दिखाई दिया और उसी के समीप पार्श्व में दिखाई दिया एक वैष्णव जोगी—जटाजूट धारी। जोगी एक तुम्बी से रस निकाल कर जन समूह को बांट रहा था। कटोरियां-प्याले और कलश लेकर जनता टिड्डी दल सी उमड़ी पड़ रही थी। रस का प्रभाव ही कुछ ऐसा था कि जिस धातु में वह लिया जाता वह देखते-देखते स्वर्ण में ही परिणत हो जाता था। यह आश्चर्य जनक घटना देख जैन चैत्यालय के दर्शन तो दिये मैंने छोड़ और दौड़ पड़ा उस जोगी के पास। परन्तु रस तब तक समाप्त हो चुका था। मुझे देख कर उसने कहा:—तुम दुखी मत होओ; तुम्हें रस ही चाहिये है, तो मेरे साथ चले चलो।

जोगी के आदेशानुसार मैं इस घनघोर अटवी में आगया। तब उसने मुझे एक चतुष्कोण चौकी पर बैठाया और उसके चारों कोने रस्सी से बांधकर तथा मेरे हाथ खाली तुम्बी देकर मुझे इस अंधी वीरान बावड़ी में लटका दिया। मैंने तुम्बी भरी; उसने मुझे खींच लिया। भरी हुई तुम्बियां वह जतन से अपने पास रखता जाता था। अंत की तुम्बी भर कर मैं लाही रहा था कि जोगी की दुर्भावना ने बीच से ही रस्सी पैनी छुरी से काट दी। उसे भय था कि कहीं मैं इस रहस्यपूर्ण बावड़ी का पता किसी दूसरे को बता दूंगा तो मेरे रहस्य की कोई कीमत ही नहीं रहेगी और स्वयं कूप में घुस कर वह अकेला रस ला सकता था। बस···यही मेरी विपत्ति की दुखभरी कहानी है और यहाँ इस अन्ध कूप में एक सप्ताह से सड़-सड़ कर मर रहा हूँ। हे देवाङ्गने ! कृपाकर मेरा उद्धार कीजिये।"

दयालु देवी ने उसे कूप से निकाला और अपार सम्पदा प्रदान करती हुई वह बोली :—लोभ-लालच के वशीभूत होकर मानव मात्र आज संसार के अंध कूप में पड़ा हुआ है। उनका उद्धार तुम्हारे द्वारा होना संभाव्य है। तुम्हें एक

कार्य करना होगा !

"वह क्या ?" जिज्ञासु भाव से श्रीदत्त श्रेष्ठि ने पूछा।

"यह कि तुमने जिस मंत्र व ऋद्धि आदि के द्वारा महाप्रभावक श्री भक्तामर जी के दशवें काव्य के आधार पर मुझे इस वियावान जंगल में आहूत किया है—वैसे ही जन साधारण के सामने उसे तुम्हें प्रकट करना होगा। साथ ही संयमधारी साधु महाराज की सत्कृपा से तुमने यह विद्या पाई है उन्हें भी कभी विस्मृत नहीं करना। इतना कहकर देवी अन्तर्धान होगई। सेठ जी भी अन्धकूप से ज्यों ही बाहर निकले कि उनकी अट्टालिका भी उन्हें सम्मुख ही दिखाई दी।

खारी बावड़ी और पनघट पर जमघट

यह सभी जानते हैं कि पानी से तृषा शान्त होती है, परन्तु यह कितनों को ज्ञात है कि पानी से पिपासा शान्त न होकर उल्टे बढ़ती भी है। इस विरोधाभास से आप चौंकिये नहीं; क्योंकि मेरा मन्तव्य खारे पानी से है। हम अपने दैनिक भोजन में जब कभी लवण की मात्रा अधिक कर देते हैं तब स्वाभाविक रूप से हमें बार-बार प्यास लगती है। लवण का यह एक विशेष गुण विज्ञान सम्मत है। वास्तव में खारे जल में लवणाधिक पदार्थ घुले रहने के कारण ज्यों-ज्यों उसे पिया जाता है त्यों-त्यों प्यास बढ़ती ही जाती है। अव्वल तो विष के घूंट के समान उसका कंठ के नीचे उतरना कठिन होता है, दूसरे हमारी प्रकृति के लिए प्रतिकूल अर्थात् अहितकर भी वह है। वैसे संस्कृत में जल का एक नाम अमृत भी है, परन्तु मैं समझता हूँ कि यह संज्ञा मधुर जल के लिए है न कि क्षारीय जल के लिए। आज का विज्ञान तो इस क्षारीय जल के लिए एक हलका विष सिद्ध कर रहा है। वैज्ञानिकों ने तो यहाँ तक कहा है कि लवण ही एक ऐसा पदार्थ है जिसके कारण सर्प के विष का असर हम पर होता है। यदि बारह वर्ष तक हम लवण का प्रयोग न करें तो सर्प के विष का हम पर रंच मात्र भी असर न होगा। प्रत्युत हमें काटकर

वह स्वयं मृत्यु को प्राप्त हो सकता है। यही कारण है कि प्रकृति ने पीने के लिए यदि हमें मधुर जल की देन दी है तो दूसरे उपयोगों के लिए खारे जल की। इस भांति जल को विष कहना असंगत प्रतीत नहीं होता और जिस प्रकार विष एक चिन्ता का विषय है, खारा जल भी उसी प्रकार चिन्ता का विषय हो सकता है। तात्विक लोग इसकी उपेक्षा कदापि नहीं कर सकते। भले ही वैज्ञानिक इस तथ्य की अवहेलना कर उस क्षारीय जल को मधुर रूप परिणत करने में असमर्थ बने रहें किन्तु पुरातन पुराण कहते हैं कि युवराज तुरंगकुमार जैसे तत्त्वदर्शी ने इसे एक महान् गहन चिन्ता का विषय समझा और उसे वैज्ञानिक ढंग से नहीं, अपितु मंत्रों के द्वारा मधुर बनाकर पिपासुओं का अपार उपकार किया।

युवराज तुरङ्गकुमार को महाप्रभावक श्री भक्तामर जी के ग्यारहवें काव्य पर अटूट श्रद्धा थी वह "पीत्वा पयः शशिकरद्युतिदुग्धसिन्धोः, क्षारं जलं जलनिधेरसितुं क इच्छेत् ॥" का पाठ प्रतिदिन किया करता था।

× × ×

कावेरी नदी के तट पर युवराज के क्रीड़ार्थ उनके पिता रत्नावतीपुरी के राजा रुद्रसेन ने जब एक मनोरम उद्यान बनवाया तो राजपुत्र तुरंगकुमार की इच्छा उस उपवन के बीचों बीच एक बृहत वापिका खुदवाने की हुई। खुदने को तो वह खोदी जा चुकी और पानी भी उसमें कई स्रोतों से द्रुतगति से आने लगा किन्तु जब उसे चखा गया तो लवण समुद्र के जल समान उसका स्वाद पाया। बस फिर क्या था, राजकुमार तुरंग इसी बात से अधिक चिन्तित रहने लगे।

राजकुमार को चिन्तित देख राजा रुद्रसेन ने औषधि, मणि, मंत्र एवं तंत्र आदि द्वारा अनेकानेक प्रयोग किये कि किसी भी प्रकार वह क्षारीय जल मधुरता को प्राप्त हो परन्तु यह साधारण सी दिखने वाली बात इतनी मामूली न थी। अन्ततोगत्वा एक दिन राजा रुद्रसेन निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनि चन्द्रकीर्ति महाराज के समीप आये और अन्यान्य धार्मिक तात्विक प्रश्नों के उपरान्त लवण जल को मधुर बनाने का उपाय पूंछने लगे। मुनि श्री ने कहा :—

"पांच स्वर्ण कलशों में प्रासुक जल भर कर श्रीमज्जिनेन्द्रदेव का बृहद् अभिषेक कीजिए। तदुपरान्त उसी क्षारीय जल का उपयोग कर शुद्ध पवित्र भोजन बनाकर दिगम्बर साधु को शुद्ध भाव से निरन्तराय आहार कराइये—

परन्तु इतना स्मरण रहे कि जिसने बावड़ी खुदवाई हो वही उसका जल भर कर लावे और जल भरते समय महाप्रभावक श्री भक्तामर जी के ग्यारहवें काव्य का पाठ ऋद्धि मंत्र सहित करता रहे।"

× × ×

दूसरे ही दिन युवराज तुरंग ने उपर्युक्त विधि से क्रिया करके एक परम दिगम्बर मुनि को निरन्तराय आहार दान दिया। वह आहार दे ही रहे थे कि इतने में उपवन के रक्षक ने आकर खुश खबरी सुनाई कि न जाने क्यों आज उद्यान की बावड़ी के पनघट पर महिलाओं का जमघट लगा हुआ है— सुनते ही तुरंग के हृदय की चिर पिपासा शान्त होगई और वह मधुरता से भर गया मानों आज युवराज ने पथिकों को क्षीर सागर के मधुर जल का पान कराया हो।

नगर में इस बात को लेकर सर्वत्र खुशियां मनाई गईं और जैनधर्म के जय जयकारों से आकाश गुंजायमान कर दिया।

●●●

भात परात भर ! पंगत बरात भर !!

किसी भी विषय को पढ़ लेना एक अलग चीज है और पढ़ने के उपरान्त उसका मनन करना दूसरी चीज है। अधिक या कम कितना भी पढ़ा जाय किन्तु उसके मनन द्वारा, उसके घोर पारायण द्वारा उसमें निहित मौलिक प्रवहमान शाश्वत तथ्य को अवश्य पहुंचा जाय तभी पठन-पाठन की सार्थकता है। तभी अमूल्य जीवन का साफल्य है।

जड़-चेतन, सत्य-असत्य, हित-अहित रूप मिश्रित पर्यायों में से अपने हंस वत् क्षीर-नीर विवेक द्वारा—भेदविज्ञान द्वारा सारभूत तत्त्व को अपने में आत्मसात कर लेना ही यथार्थ मनन है।···इसी मनन को चाहे आत्म-दर्शन कह लीजिए चाहे सम्यक्त्व! निश्चयतः तत्त्व एक ही है, व्यवहार अनेक। साध्य एक ही है, साधन अनेक। उपादान एक है, निमित्त अनेक। ग्रहण करने

वाला गृहस्थ उस तत्त्व को स्त्री-पुत्र-कलत्रादि में भी ग्रहण कर सकता है। न ग्रहण करने वाला एकान्त जंगल में रहने वाला योगी भी उसे ग्रहण नहीं कर सकता। पोथियों की पोथियें घोंट कर पीजाने वाला पंडित भी कहो तो उसे ग्रहण न कर सके और निरामूर्ख भी कहो तो एक ही वाक्य में दृढ़ श्रद्धा कर वस्तु स्वरूप की यथार्थता तक पहुंच जावे। यही सम्यक्त्व है। स्पष्टीकरण के लिए दो लघु दृष्टान्त देखिये :—

यद्यपि हमारी मूल कथा से इन दृष्टान्तों का कुछ भी सम्बन्ध नहीं है, तथापि सम्यक्त्व को समझने के लिए उनकी अनिवार्यता है। सम्यक्त्व का यथार्थ चित्रण करने के लिए दृष्टान्त जानबूझ कर अन्य मतों से लिए गये हैं ताकि सम्यक्त्व जैन धारणा का संकुचित पारिभाषिक शब्द मात्र न समझ लिया जाय। दृष्टान्त आँखों देखा होने के कारण ही यहाँ देना आवश्यक हो गया है :—

एक त्रिपुंडधारी पंडित जी थे। उनकी वाणी में जादू का सा वह असर कि श्रोता चित्र लिखित से और मंत्र मुग्ध से रह जाते थे। छाया चित्र के व्यसनी सिनेमा जाना भूल जाते, राही अपना गन्तव्य-पथ भूल कर वहीं कान लगा लेते।......वे तत्त्व की बात कहते थे; परन्तु स्वयं भी वे क्या उस तत्त्व तक—उसके रहस्य तक पहुँचे थे—जिनका कि बार-बार उच्चारण अपने मुखारविन्द से करते थे ? अधिकांश श्रोता भी या तो कथा मात्र पर ध्यान दे रहे थे या पंडित जी द्वारा अपने पर उल्लू की लकड़ी फेरे जाने के कारण ही उन पर मोहित थे।......प्रवचन के बीच-बीच में बार-बार वे कहते कि "राम को भजै सो भव पार हो जावे......।" प्रवचन नित्य सन्ध्या को होता, श्रोता भी अधिकाधिक संख्या में उपस्थित होकर अपनी व्यसन पिपासा शान्त करते अथवा यह कहिये कि अपनी औपचारिक उपस्थिति वहां अवश्य देते।

एक कृषक की पतिव्रता स्त्री थी। उसका नित्य कर्म था, सन्ध्या समय खेत में काम करने वाले अपने पतिदेव को भोजन देने जाना। उसे समय नहीं था, कि कभी प्रवचन सुने। अपने काम से काम था उसे तो ! परन्तु संयोग की बात तो देखिये कि अपने में मगन उस रास्ते से वह जा ही रही थी कि पंडित जी के वचन "राम को भजै सो भव सागर को पार होवै" उसके कान में पड़ ही गये। पड़ ही नहीं गये रास्ते भर वे उनमें गूंजते भी रहे। उस गूंज का हृदय पर न जाने क्या असर हुआ कि वह उन शब्दों के तद्रूप ही होगई। पंडित जी पर अटल अगाध श्रद्धा होगई थी। अतएव न जाने क्या

सोच कर लौटी उलटे पांव !! और धीरे से पंडित जी के कान के पास मुँह लेजाकर बोली :—आपकी ब्यालू नदी पार अमुक मकान पर होगी।··· अपना पूर्ण पता देकर कृषक पत्नी चलती बनी।······जोरों का पानी आया; इतना कि जिस सरिता को पार कर उसे दूसरे पार पहुँचना था उसमें एकाएक बाढ़ आगई। कृषक पत्नी तो श्रद्धा के तद्रूप निश्चल सम्यक्त्वी थी ही—आव देखा न ताव शीघ्र ही नदी में कूद पड़ी !! कूदना था कि दूसरे क्षण वह अपने घर बैठी नजर आई ! आनन-फानन विविध व्यंजन तैयार किये कि कहीं पंडित जी महाराज आ न जावें और लगी घंटों से उनकी बाट जोहने। देखते-देखते सबेरा होने को आया पर पंडित जी नहीं आये ! बेचारी बड़े असमंजस में थी। अन्ततोगत्वा दिन के १२ बज गये तब कहीं पंडित जी ने मकान में पदार्पण किया।

"पंडितजी महाराज ! देखिये भोजन ठंडा हो चुका है, मैं कब से आपकी बाट जोह रही हूँ—" कृषक पत्नी नम्रता पूर्वक बोली !

"मूर्खे ! तुम्हें नहीं मालूम नदी कितनी चढ़ी थी ? फिर भला मैं कैसे आता ? जब वह उतरी तभी तो मैं नाव में बैठ कर यहाँ आ सका हूँ !"

पर, महाराज जी ! मैं तो उसी समय आगई थी, आप ही ने तो कहा था कि जो 'राम भजे सो भव-सागर से पार हो जाये।' फिर यह बेचारी छोटी सी नदी क्या ?

श्रद्धा के साक्षात् दर्शन कर पंडित जी की भीतरी आँखें खुल गई और उन्हें ज्ञात होगया कि :—

> पोथी पढ़-पढ़ जग मुआ, पंडित भया न कोय।
> एक हि अक्षर तत्त्व का पढ़ै सो पंडित होय ॥

तात्पर्य यह कि सम्यक्त्व हो तो ऐसा हो; क्योंकि वह किसी एक धर्म की बपौती नहीं। अंजन चोर को भी तो इसी प्रकार का सम्यक्त्व हुआ था और यही सम्यक्त्व हुआ था मंत्री पुत्र महीचन्द्र को महाप्रभावक श्री भक्तामर जी के १२ वें काव्य की साधना-भक्ति के कारण से। उसका भी रसास्वादन कीजिये !

× × ×

नगरी अहिल्यापुर। राजा कुमारपाल; मंत्री विलासचन्द्र। मंत्री पुत्र का नाम था महीचन्द्र। महीचन्द्र की घनिष्ट मित्रता एक वैश्य पुत्र से थी।

दोनों ने एक साथ एक दिगम्बर मुनिराज के पास महाप्रभावक श्रीभक्तामर जी के १२वें श्लोक के ऋद्धि-मंत्र आदि की साधन-विधि का पठन किया। वणिक-पुत्र ने तो पढ़ने के लिए पढ़ा था सो उसके हाथ तो केवल रटन्त मात्र पढ़ना ही रहा, परन्तु राज्यमंत्री पुत्र ने उन शब्दों में अपनी तद्रूपता स्थापित की थी। फलस्वरूप जैन शासन की अधिष्ठात्री 'मोहिनी' (मह्रा) देवी के द्वारा उसे कामधेनु नामक गाय की प्राप्ति हुई। जहाँ उसके दूध को छिड़का जाता वहीं स्वर्ण का ढेर बन जाता।

लोगों को चमत्कृत करने के लिए महीचन्द ने वही दूध अपने घर के चौके में डाल दिया तो भाँति-भाँति के पकवान तैयार होगये—हजारों स्त्री पुरुषों को वही भोजन परोसा गया पर भण्डार भरपूर ही रहा।

तात्पर्य यह कि चमत्कार और ऋद्धि सिद्धियां उसके चारों ओर चक्कर लगाने लगी। आत्मदर्शन वाले को तो मोक्ष भी जब हथेली पर रखा हुआ दीखता है, फिर उसी की चाकर इन बेचारी ऋद्धि सिद्धियों की क्या बात···?

सम्यक्त्व की लीला ही कुछ ऐसी है:

पुनः कहना चाहता हूँ कि पढ़ने मात्र से सिद्धि नहीं होती। शब्दों के साथ तद्रूप होने में सिद्धि निहित है। गर्दभ की पीठ पर पुस्तकों का ढेर का ढेर लग जाय तो उसे क्या उनमें निहित तत्त्वों का आनन्द प्राप्त होगा? उसे तो जैसे ईंटों का बोझा वैसे ही पुस्तकों का। उसे तो बोझा ढोने से काम।

बहुरूपिया का भंडाफोड़

देदीप्यमान सिंहासन पर सम्राट कर्ण अपने राजसी वैभव को चारों ओर बिखेरे हुए शोभित हो रहे है, और दिनों की अपेक्षा दरबार भी ठसाठस भरा हुआ है। ज्ञात होता है कि आज उन्होंने सर्व धर्म सम्मेलन का बृहत आयोजन किया है। देश देशान्तरों से पधारे हुए ज्ञानी, योगी, पंडित, कवि, कलाकर आदि सभी वहां उपस्थित हैं। सब को वाणी स्वतंत्रता अर्थात् बोलने की खुली छूट है। तर्क-प्रमाण और श्रद्धा के खुले चैलेंज परस्पर में टकरा रहे

हैं। किन्तु प्रत्यक्षता के अभाव में यह सब एक वाक्-विलास मात्र दिखाई देता था।

यह उस मध्ययुग की चर्चा है जो कि सांस्कृतिक होते हुए भी साम्प्रदायिक स्पर्द्धा में बढ़ा हुआ था। आज तो साम्प्रदायिकता के कारण देश ने जो गहरी क्षति उठाई है वह किसी से छिपी नहीं है किन्तु तब······। साम्प्रदायिकता से कुछ लाभ ही हुआ था। वह यह कि इस स्पर्द्धा में लोगों ने चमत्कार और योगों के नित नये-नये प्रयोग करके आध्यात्मिकता की नींव मजबूत बनाई थी!

अपने-अपने धर्मों की प्रशंसा और डींगों से सम्राट् कर्ण जब प्रभावित नहीं हुए तो दरबार के बीचों बीच एक अपरिचित सा व्यक्ति खड़ा होकर जोर से चुनौती देता हुआ गरज उठा···।

मैं साक्षात ब्रह्मा-विष्णु-महेश को इस भूतल-तल पर उतार सकता हूँ। गणेश, बुद्ध, स्कंद आदि देवताओं के प्रत्यक्ष दर्शन करा सकता हूँ।···दर्शक गण उसकी ओर आँखें फाड़-फाड़ कर देख रहे थे; परन्तु वास्तव में वह एक कुशल कलाकार था। कलाकार याने बहुरूपिया। उस युग के बहुरूपिया वैदिक और पौराणिक देवताओं के वेश बना बनाकर उनकी प्रतिष्ठा घटाने में अपनी सांस्कृतिक परम्परा की कुछ भी हानि नहीं मानते थे। और न आज ही मानते है। देवताओं में जो देवत्व आता है—पूज्यत्व भाव आता है; वह तो प्रतिष्ठा और श्रद्धा से ही आता है। और जब वह प्रतिष्ठा ही देवताओं से छीन ली जाती है, तो वे सस्ते और बाजारू होकर गली-गली बिकते फिरते हैं —मिट्टी के पुतले बने हुए। परन्तु जैनियों की इस विषय में प्रशंसा ही करना पड़ेगी। जो वीतराग भगवान की प्रतिष्ठा को अक्षुण्ण बनाये रखने में सदैव से सचेत रहे हैं। गली-गली बिक कर दो पैसे में सहज ही मिल जाने वाले गणेश जी और रामलीलाओं के रामचन्द्र जी क्या देवत्व की प्रतिष्ठा को कम नहीं करते ? अस्तु

सम्राट् कर्ण अपने राज्य को एक धर्म निरपेक्ष राज्य बनाने के पक्ष में थे, जब कि उनका राज्य मंत्री सुमति वहाँ जैनेन्द्र शासन का स्वप्न देख रहा था। देखते-देखते बहुरूपिया पलायमान होगया और क्षणोपरान्त अदृश्य वाणी हुई। ······"शंकर जी आ रहे है।" दरबारियों ने देखा तो सचमुच नन्दी पर सवार गले में काले सर्पों की माला डाले और भस्म लपेटे हुए शिवजी खड़े थे!

इसी क्रम में दूसरे तीसरे दिन विष्णु, बुद्ध, गणेश, ब्रह्मा, कार्तिकेय आदि देवता भी अपने-अपने स्वरूपों में जनता को दिखाई दिये

चौथे दिन आकाशवाणी हुई :—'वीतराग भगवान जिनेन्द्रदेव' आरहे हैं। यह सुनते ही सुमति मंत्री महाप्रभावक श्री भक्तामर जी के तेरहवें काव्य का ऋद्धि वा मंत्र सहित पाठ जोर-जोर से करने लगे। उच्चारण करते ही 'जिनेन्द्रदेव' तो नहीं, जिनशासन की अधिष्ठात्री देवी चक्रेश्वरी अवश्य प्रकट हुई और आते ही उस बहुरूपिये की छाती पर सवार होगई।

बस, फिर क्या था ? बहुरूपिये का भंडाफोड़ हुआ सो तो हुआ ही; तथा कथित पौराणिक देवताओं की प्रतिष्ठा को भी गहरा धक्का लगा। इसके विपरीत जैन शासन की जयकारों की ध्वनि से आकाश गूंज उठा और अंत में सम्राट् कर्ण ने घोषणा की :—

आज से मेरा राज्य धर्म निरपेक्ष राज्य नहीं रहा बल्कि अब वह जैन-शासन को स्वीकार करता है।

वासना मुरझा गई

गुटिका को खाते देर न हुई कि उसने अपना रंग जमाना प्रारम्भ कर दिया। आंखों में मादकता टपकने लगी; मुंह सुर्ख होगया; शरीर की नसों में तनाव सा आगया। पौरुष मनुष्यता की मर्यादा का उल्लंघन कर आपे से बाहर निकलने के लिए बेचैन हो उठा। मदिरा में वह नशा कहां ? जो उस गुटिका में था !

आज-कल के विज्ञापनबाजों जैसी कामोद्दीपन गुटिका अथवा कामोत्तेजक सिला तो वह थी नहीं कि नवयुवक या नवयुवतियों का रुपया पानी की तरह बहाने पर भी लाभ के बदले हानि ही पल्ले पड़े !······उस अपूर्व गुटिका का नाम था 'कल्लोलकामिनी गुटिका' !!······केतुपुर नरेश गुटिका खाकर पर्यङ्क पर लेटा ही था कि पीछे से आवाज आई :—

"स्वामिन् ! आपको महारानी याद कर रही हैं।" ·····

राजा ने जो ऊपर नजर उठाई तो उठी ही रह गई, जैसे अहर्निशि काम करने वाली बांदी को भी पहिचाना नहीं हो। उसकी कजरारी आयत आंखों में

आँखें डाल कर राजा न जाने क्या पढ़ रहे थे ? कहीं नेत्र चषक से उसके रूप सौन्दर्य का पान तो नहीं करने लगे थे ? परन्तु बाँदी थी कि उसने आज अपने प्रति राजा की जो यह अस्वाभाविक अभद्रता देखी तो उसके नीचे की धरती खिसकने लगी। उसे आश्चर्य हो रहा था, कि आज राजा को यह हो क्या गया ? कहीं मुझे धोखे में रानी तो नहीं समझ लिया ? परन्तु बड़ों का प्यार यदि ओछों को मिलने लगे तो वे किसी भी मूल्य पर उनके चरणों में अपना आत्म समर्पण करने को तैयार हो जाते हैं ? फिर नारी प्रम की परिभाषा जैसे सुन्दर रूप में जानती हैं, वैसी पुरुष नहीं। "स्त्रियश्चरित्रं पुरुषस्य भाग्यं, देवो न जानाति कुतो मनुष्यः।" ऐसे स्वर्ण अवसर को चम्पा ने अपने हाथ से जाने देना ठीक न समझा और दूसरे ही क्षण उसने अपना सर्वस्व राज के आगे रख दिया……।

× × ×

व्यसन भले ही छोटा हो परन्तु उसकी सन्तान सम्मूर्च्छन जीवों की भाँति दिन दूनी—रात चौगुनी वृद्धि को ही प्राप्त होती है। राजा का वह अशोभनीय व्यसन एक दिन का नहीं था। वह तो उनका नित्यप्रति का कार्य होगया था। यहां चम्पा के प्यार ने हथेली पकड़कर हाथ पकड़ना प्रारम्भ कर दिया। उसका प्यार अब केवल प्यार ही नहीं रह गया था; वह कुछ-कुछ शासन का रूप भी लेने लगा था। राजा भले ही केतुपुर नगर में राज्य कर रहे हो; परन्तु चंचल चम्पा तो अब राजा के ऊपर शासन कर रही थी।

विषयासक्तचित्तानां गुणः कोवा न नश्यति।
न वै दुष्यं न मानुष्यं, नाभिजात्यं न सत्यवाक्॥

सन्देह नहीं कि कामान्ध-कामातुर के सभी गुण नष्ट हो जाते हैं। कोटिकोटि जनता की आशाओं के केन्द्र अपने उत्तरदायित्व से गिरकर, एक बाँदी का—एक तुच्छ दासी का दास होजाय, इसे सच्चरित्र रानी का सरल हृदय कैसे सहन कर सकता था ? महारानी कल्याणी के निश्चल निष्कपट अगाध प्यार को करारा धक्का लगा था। इस स्वार्थ से उसने राजा को समझाने-सचेत करने तथा सुमार्ग पर लाने का बीड़ा उठाया हो सो नहीं, उसे तो राज्य में बढ़ जाने वाले अन्याय, अत्याचार, दुराचार का भय था ? क्योंकि राजा जिस मार्ग का अनुशरण कर रहा हो—प्रजा क्यों नहीं करेगी ? 'यथा राजा तथा प्रजा।'

रात्रि का अन्तिम प्रहर।

राजा और रानी दोनों एक ही पर्यङ्क पर निद्रामग्न दिखाई दे रहे हैं; पर यथार्थ में नींद दोनों को नहीं। रानी का हठ और नरेश की वासना, दोनों में संघर्ष छिड़ा हुआ था कल्याणी कटिबद्ध थी—कुछ भी हो, जब तक राजा पर-रमणी की छाया के पाप को स्वीकार नहीं कर लेंगे, तब तक उसका कायिक और पौद्‌गलिक सम्बन्ध तो दूर आत्मिक सम्बन्ध का भी विच्छेद समझा जावे।

करुणामयी कल्याणी के इस दृढ़ संकल्प से राजा उसके कनकवर्ण कोमल शरीर को छू तो न सका परन्तु उस कामान्ध का काम अब क्रोध में परिणत होगया ? फल स्वरूप महारानी कल्याणी विकट वन के एक निर्जन कुए में ढकेल दी गई।··· वहाँ काम यदि क्रोध में परिणत हुआ तो यहाँ भी दृढ़ संकल्प अब भक्ति-रस में परिवर्तित हो चुका था ! और भक्ति-रस का अपूर्व प्रवाह जिस स्तोत्र में बहता है, वह है सर्वश्रुत सर्वमान्य महाप्रभावक 'भक्तामर स्तोत्र' जिसके एक-एक शब्द में अनन्त अलौकिक चमत्कारों की अनोखी शक्ति है। दृढ आस्था हो तो भाव मात्र से ही अभलषित कार्य की सिद्धि हो जाती है। यदि वह न हो तो साधन और क्रियाकांड के आधार से भी वह कार्य सम्पन्न हो सकता है। फिर वहाँ महारानी के पास तो दृढ़ श्रद्धा थी ही। तब ही 'सम्पूर्णमण्डलशशाङ्ककलाकलाप···' और 'चित्रं किमत्र यदि ते त्रिदशाङ्गनाभिः···' श्लोकों की प्रखर ध्वनि पूर्वक कूप के जल में डुबकी साध-कर महारानी ने उपर्युक्त श्लोकों के मंत्रों का जाप्य करना प्रारम्भ किया कि दूसरे दिन राजा अर्द्ध रात्रि के समय अपने शयनागार में देखते हैं कि एक हाथ में 'खप्पर लिए और दूसरे हाथ में कटार लिए 'जृम्भादेवी' विकराल रूप धारण किये खड़ी है !·· बस फिर क्या था ? राजा डर गया ! उसका अंग प्रत्यंग पीपल के पत्ते की तरह थर-थर कांपने लगा। उसकी सारी शूर-वीरता गायब हो गई ! ···परन्तु देवी ने उसे अभय-दान दिया—केवल इस शर्त पर कि वह पर-रमणी के संसर्ग से तो बचेगा ही, उसकी छाया से भी सदैव दूर रहेगा।

तीसरे दिन राजा और रानी पुनः उसी पर्यङ्क पर थे, परन्तु उस दिन दोनों के हृदय में वासना की जगह प्रेम का साम्राज्य हिलोरें ले रहा था। वही प्रेम जो कि दाम्पत्य जीवन में सोने में सुगन्ध बनकर रहता है। वह वासना नहीं जो कि गृहस्थ जीवन में विषबेल बनकर दाम्पत्य जीवन में अभिशाप सिद्ध होता है और होता है अनन्तानंत संसार का कारण !

दरस करूँगी रतन बिम्ब के

शैशवावस्था वह सुकोमल तरु है जो इच्छानुसार मोड़ खाकर जीवन को मोड़ के अनुरूप बना लेता है। नदी के किनारे खड़े हुए बड़े-बड़े पेड़ अपना मस्तक ऊँचा उठाकर कहते हैं···हम महान् हैं।

किन्तु नदी की एक लहर जब उसकी जड़ को हिला देती है, तब उसे अपनी शक्ति का परिचय मिलता है। एक लता जो आरम्भ से ही नम्रतायुक्त वातावरण में पोषित हुई है, झुकना जिसे सिखाया गया है—वह नदी के मध्य में खड़ी होकर भी आँधी और तूफान को अपना जीवन समझ कर मौन वर्षों तक खड़ी रहती है।

मित्राबाई एक राजा के उच्च घराने में उत्पन्न हुई थी जहाँ उसका जीवन आरम्भ से ही सुख और विलासता से परिपूर्ण होना चाहिये था—वहाँ वह प्रारम्भ से ही आध्यात्मिकता की ओर झुकी हुई थी। यों बाल्यपन के जीवन में सांसारिकता को कोई स्थान नहीं—वह अल्पवयस्का होते हुए भी संसार और धर्म की ओर सोचने लगी थी। एकान्त वातावरण पाते ही वह जगत की निस्सारता और उससे मुक्त होने का एक मात्र उपाय धर्म पर घंटों सोचा करती—विवेचन किया करती।

राजा महीपचन्द्र को अपनी पुत्री का धर्म की ओर आकर्षण देख कर अत्यन्त प्रसन्नता हुई। उन्होंने मित्रा को श्रीमती आर्यिका के पास अध्ययन के लिए भेजा। मित्रा ने धर्म के गूढ़ रहस्यों को समझा और सोचा कि जीवन में धर्म को समझना उतना मूल्यवान नहीं, जितना उस पर आचरण करना!

विद्याध्ययन के उपरान्त आर्यिका के पास जाकर मित्रा ने आशीर्वाद की याचना की। आशीर्वाद देते हुए श्रीमती आर्यिका ने कहा :—"गुणवती पुत्री! प्रत्येक जैन गृहस्थ का जिन-दर्शन एक आवश्यक कार्य है अत: तुम्हारा भी कर्त्तव्य है कि जिन-दर्शन के बिना अन्न-जल ग्रहण न करना।"

मित्रा श्रीमती के सत्य वचन को श्रवण कर कुछ क्षण सोचने लगी—तत्पश्चात् उसने कहा :—

"परम पूज्यनीया माता जी मैं प्रतिज्ञाबद्ध होती हूँ कि प्रतिदिन रत्नमयी जिन प्रतिमा के दर्शन-अर्चन के पश्चात् ही भोजनादिक कार्यों को करूँगी।"

श्रीमती आर्यिका ने मित्रा को आशीर्वाद दिया और वह अपने पितृगृह लौट कर धर्म साधन करती रही।

एक समय होता है, जब फूल खिलता है और माली चाहता है कि वह फूल हमेशा वैसा ही प्रफुल्लित रहकर उपवन की शोभा बढ़ाता रहे। वही राजा महीपचन्द्र का विचार था। वे सोचते नहीं थे कि कन्या एक बपौती है—थाती है जिसका सुकुमार हाथ उसके दूसरे जीवन-साथी के हाथ में पकड़ाना होगा और उन दोनों साथियों की जीवन क्षेत्र में प्रसन्नता पूर्वक दौड़ ही उसकी सच्ची प्रसन्नता होगी।

आखिर रानी ने—सोमवदनी सोमश्री ने एक दिन कह ही डाला—"क्या मित्रा को आर्यिका बनाने का विचार कर रखा है—आपने ? वह स्वयं ही वैरागिन का भेष बनाकर जिन-साधना में लगी रहती है और पीछे से तुम उसे प्रोत्साहन देते रहते हो ! आखिर कन्या का पाणिग्रहण किये बिना ही घर में छुपाये रहोगे उसे ?"

रानी की बात सुनकर महीपचन्द्र ने मित्रा की ओर देखा ! उन्हें अपनी पुत्री में वास्तविक परिवर्तन दिखाई दे रहा था। उसके कपोल, नेत्र और अधर सूर्य की अरुणिमा को भी हीन घोषित कर रहे थे। जिन अधरों पर बाल्यपन की किलकोरें नृत्य-करतीं थीं—वे आज यौवन के बोझिल भार से उदीप्त हो उठे थे।

राजा महीपचन्द्र के घर पर विवाह की दुन्दुभि बज उठी। आम लोगों में यही चर्चा थी कि राजा ने अद्वितीय वर की खोज की है—कोई कहता—"भाई राजा के भावी दामाद क्षेमंकरजी साधारण लक्ष्मीपति नहीं अपितु धनकुवेर हैं—धनकुवेर !

तो दूसरे महाशय बीच में ही बोल पड़े:—"क्षेमंकर धर्म के ज्ञाता नहीं, प्रकाण्ड विद्वान भी हैं। संसार की समस्त ऋद्धियां उन्हीं के पैर चूम रही हैं !" इन दोनों की बातें सुनकर एक बालक कह रहा था—"भाई ! धन और ऋद्धि की बात तो हम नहीं जानते पर क्षेमंकर जी जब कभी श्री भक्तामर स्तोत्र का कंठस्थ पाठ करते हैं तो दर्शक उनकी ओर देखते ही रह जाते हैं और वे पता नहीं किस लोक में ध्यानस्थ होकर विचरण किया करते हैं।

अन्ततोगत्वा विह्वल नेत्रों से वैवाहिक क्रियाकलाप समाप्त करके राजा ने बिदा की और अन्तिम बार अवरुद्ध कंठ से कहा "पुत्री ! पति तुम्हारे सर्वस्व हैं—उनकी सेवा ही तुम्हारा उत्कृष्ट धर्म है।"

× × ×

धूमधाम से बारात लौट कर आचुकी थी। मध्यान्ह में सास ने आकर दुलहिन को भोजन के लिए बुलाया।

"माँ ! मुझे भोजन की आवश्यकता नहीं !" मित्रा ने सकुचाते स्वर में कहा।

"ससुराल आकर ऐसी अशुभ बातें नहीं करते बेटी। तुम्हारे लाल सिन्दूर के साथ ही तुम्हारी काया आरक्त बनी रहे—इसके लिए भोजन तो आवश्यक है पुत्री !"

"माँ ! मैं श्री पार्श्वनाथ के दर्शन के बिना भोजन ग्रहण नहीं करती।"

पास ही के चैत्यालय में श्री पार्श्वनाथ की अति मनोज्ञ विशाल पाषाण मूर्ति स्थापित है—जाकर दर्शन करलो और फिर जल्दी आकर भोजन करो ! तुम्हारे श्वसुरजी घबड़ा रहे हैं !"

'चैत्यालय में मूर्ति तो अवश्य है माता जी ! पर वह रत्नमयी नहीं है।"

सास-बहू के इस वार्तालाप को क्षेमंकर जी बड़े ध्यान से सुन रहे थे। वस्तु स्थिति को समझ कर उन्होंने माँ को बुलाकर कहा:—"किसी की ली हुई प्रतिज्ञा को तोड़ने के लिए विवश करना उचित नहीं।" कुछ देर सोचकर पुन: बोले:—माँ ! चिन्ता न करो, इसका उपाय मैं करूंगा।

× × ×

रात्रि का प्रथम प्रहर था और क्षेमंकर योगासन से बैठकर बार-बार पढ़ रहे थे—

निर्धूमवर्तिरपवर्जिततैल पूरः
कृत्स्नं जगत्त्रयमिदं प्रकटीकरोषि।
गम्यो न जातु मरुतां चलिताचलानां
दीपोऽपरस्त्वमसि नाथ जगत्प्रकाशः ॥१६॥

ध्यान में क्षेमंकर इतने लवलीन थे कि बीते समय का उन्हें ज्ञान न था। मुख मण्डल से तेज झलक-झलक कर कह रहा था —'साधना में याद खुद की रही कब है ?" उनका ध्यान तो तब भंग हुआ जब जिनशासन की अधिष्ठात्री चतुर्मुखी (चतुर्भुजी) देवी ने प्रकट होकर कहा—तुम्हारी इच्छा पूर्ण होगी कुमार !

और दूसरे दिन प्रात:काल नगरवासियों के आश्चर्य का ठिकाना न रहा जब उन्होंने देवालय में पाषाण मूर्ति के आगे पार्श्वप्रभु की विशाल रत्न जड़ित प्रतिमा के दर्शन किये।

●●●

भोग से योग की ओर

अपने पुरुषार्थ से तीनों लोकों को भी एक सूत्र में बांध देने वाला मानव जिसके सम्मुख अपने घुटने टेकता है—उस शूरवीर का नाम क्या आप को ज्ञात है ?

बड़े-बड़े तपस्वियों, दार्शनिकों, ज्ञानियों, शास्त्रों, पुराणों आदि ने अपना रोना जिसके कारण से रोया है, क्या उसका नाम आपको मालूम है ? यही नहीं, परमात्मा नामधारी तथाकथित परमात्मा आज भी जिस कमजोरी को अपने पास से नहीं हटा पा रहे हैं—उसे क्या आप जानते हैं ?

तो सुनिये, अनंत संसार के रंग-मंच पर धूम मचाने वाले उस खल नायक का नाम है—"मोह !" ······वही मोह निश्चयत: सच्चिदानन्द जाज्वल्यमान आत्मा रूपी सूर्य के प्रकाश को बादल बन कर रोके हुए है। शास्त्रीय भाषा में हम उसे दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय कर्मों के नाम से पुकारते हैं। और जिसे हम आठों कर्मों में सब से अधिक जबरदस्त और हाथ धोकर पीछे पड़ने वाला मानते हैं। लोक की व्यावहारिक भाषा में हम उसे प्रेम-मुहब्बत-इश्क या वासना के नाम से पुकारते हैं।

इश्क एक ऐसा रोग है कि जिसका कुछ इलाज नहीं और जवानी के दिनों में तो यह रोग सन्निपात का रूप धारण कर लेता है। उन्माद की अवस्था में मनुष्य की क्या-क्या दशाएँ होती है उसे तो कोई भुक्तभोगी ही जान सकता है। सचमुच में जवानी में जो सम्हल गया वह सदा के लिए सम्हल गया। अन्यथा अभी तक तो जवानी के पूर में बड़े-बड़े झाड झंखाड़ बहते हुए ही नजर आये हैं। वासनात्मक प्रेम अथवा मोह पर विजय पाने के अनेक आध्यात्मिक उपचारों के अतिरिक्त एक उपचार सत्संगति का भी है। सत्संगति यदि मनुष्य को वासना से ऊपर उठाती है तो कुसंगति भी उसे घोर पतित करने से नहीं चूकती।

कामी को कामी मिले, मिले नीच को नीच।
पानी में पानी मिले, मिले कीच में कीच ॥

उपर्युक्त लोकोक्ति के अनुसार रत्नशेखर भी ऐसी ही कुसंगति में पड़ गया। अर्थात् उसकी दोस्ती एक ऐसे जोगी से होगई, जो कहने को तो तपस्वी जटाजूटधारी और विविध चमत्कारों की योग्यता का स्वांग किया करता था; परन्तु यथार्थ में वह क्या था—इसे जानकर आप सिहर उठेंगे।

आज-कल के कई ढोंगी साधुओं के समान वह स्त्रियों को तावीज आदि दिया करता था। लालसा सचमुच में बहुत बुरी बला है; फिर वह तो पुत्र लालसा ठहरी। पुत्र की लालसा में मोहान्ध स्त्रियां सब कुछ करने को तैयार हो जाती हैं। यहाँ तक कि उन्हें अपने अमूल्य सतीत्व का भी ख्याल नहीं रहता और टके सेर वे अपनी अस्मत उन मिथ्यात्वियों—ढोंगियों के हाथ बेचने को तैयार हो जाती हैं।

× × ×

रत्नशेखर उसका चेला है और ऐसा चेला हुआ कि गुरु तो गुड़ ही रह गया और चेला शक्कर होगए। दुनियाँ के अन्य विषय तो सिखाने से भी सीखने में नहीं आते; परन्तु वासना तो जब बिना सिखाये ही मनुष्य में विभाव रूप से आजाती है—तब रत्नशेखर को तो इस विषय की शिक्षा देने वाले स्पेशल गुरु भी थे। तात्पर्य यह कि वह वासना का कीड़ा सारी रात और सारे दिन चक्रेशपुर की गली-गली में चक्कर काटता फिरता और जो नहीं करना चाहिये था वह किया करता?······परन्तु होनहार उसकी भी कुछ अच्छी थी। उसकी शादी कर दी गई। जीवन संगिनी का नाम था 'कल्याण श्री'। 'यथा नाम तथा गुण:'। मानो उस मदहोश-बेहोश आत्मा को होश में लाने के लिए दैव ने रत्नशेखर का सत्संग कल्याणश्री से कर दिया था। जिस प्रकार श्रेणिक को चेलना की सत्संगति ने सन्मार्ग दिखाया—उसी प्रकार कल्याणश्री ने भी उसके जीवन की दिशा-पतन की ओर से हटाकर ऊर्ध्वगामी कर दी थी।

कल्याणश्री जैन कुलोत्पन्न सदाचारिणी विदुषी रमणी थी। महाप्रभावक श्री भक्तामर जी का पाठ उसकी ऋद्धि मंत्रों सहित करने की उसकी दैनिक दिन चर्या थी। जब उसने पतिदेव की यह दुरावस्था देखी तो पहिले तो वह अपना भाग्य ठोककर रह गई; परन्तु बाद मे साहस बटोर कर उसने जो किया—उसे आगे देखिये।

× × ×

जोगी ने जब देखा कि रत्नशेखर को तो एक ऐसा गुरु मिल गया है जो अपना प्रभाव रत्नशेखर पर तो डालेगा ही साथ में मेरे दैनिक धन्धे को भी चौपट कर देगा; तो उसने चमत्कारों के जादू रत्नशेखर को दिखाने प्रारंभ कर दिये। अर्थात् वह किसी अंगूठी को आकाश मे उड़ता हुआ दिखला कर

किसी भी वाँछित प्रेयसि की अँगुलि तक भेजने की क्रियाएँ करने लगा। इस भाँति रत्नशेखर का आकर्षण पुनः अपने पूर्व स्थान पर केन्द्रित होने लगा।

जब कल्याणश्री ने यह हाल देखा तो वह और भी चौकस रहने लगी तथा अधिक दृढ़ता से जोगी के प्रभाव को नष्ट करने की योजना सोचने लगी। अर्थात् कु-संगति और सत्संगति का संघर्ष छिड़ गया और रत्नशेखर दोनों के बीच में त्रिशंकु की भाँति लटक गए। क्या करें क्या नहीं? परन्तु सात्विक गुणों की तो सदा सर्वदा ही अन्तिम विजय रही है। तामस गुणों में वह ताकत कहाँ?

एक दिन कल्याणश्री ने जोगी को अपने घर आमंत्रित किया और भोजनोपरान्त जल को भक्तामर जी के १७ वें काव्य की ऋद्धि और मंत्र से मंत्रित किया और उस मंत्रित जल को स्वयं पीने के पश्चात् उच्छिष्ठ जल पीने के लिए पाखंडी जोगी के सामने रख दिया। जोगी जी उस जल को पीकर भोजन समाप्त कर ही रहे थे कि उसके पूर्व जिनशासन की अधिष्ठात्री गांधारी नाम की महादेवी आकर सामने खड़ी होगई। उसने एक अँगूठी जोगी को देकर कहा कि "उड़ाओ इसे"।...परन्तु कीलित अँगूठी काहे को उड़ती?...अब गांधारी ने स्वयं वह सुवर्ण मुद्रिका आकाश में फैंकी, तो जहाँ पर वह गिरी वहाँ एक सुन्दर भव्य जिनालय दृष्टिगोचर हुआ।

महादेवी गांधारी के इस अनोखे चमत्कार को देख कर जोगी देवी के चरणों में आकर गिर पड़ा और हमेशा हमेशा के लिए दूसरों को चंगुल में फंसाने वाली अपनी धूर्त विद्या का परित्याग कर सच्चा जिन भक्त बन गया।

अपने गुरु की यह अवस्था देखकर रत्नशेखर से भी न रहा गया—वह अपनी धर्मपत्नी कल्याणश्री के समक्ष अधिक लज्जित हुआ और उपरान्त जिनालय में जाकर अपने अपराधों का प्रतिक्रमण कर शेष जीवन सत्संगति में व्यतीत करने की प्रतिज्ञा ली।

जिन लोगों ने गांधारी के इस चमत्कार को देखा वे भी जिनेन्द्रभक्त बनकर सुख शांति का जीवन यापन करते हुए अपने को धन्य मानने लगे।

●●●

जड़मति होत सुजान

आधुनिक समय में पैतृक व्यवसाय बहुत कम लोग अपनाते हुए देखे जाते है ! …आज कोई डाक्टर का पुत्र पैतृक बल पर "स्टैथिसकोप" रखकर रोगियों पर शासन जमा बैठे तो फिर कल्याण ही कल्याण है।…न मर्ज रहे, न मरीज। अस्तु—

उपरोक्त शीर्षक की कहानी का आधुनिक युग से गठ-बन्धन नहीं किया जा सकता। कहानी उस जमाने की है, जब पुत्र अपने पिता की सम्पत्ति, पद और ओहदा का नैसर्गिक अधिकारी होता था। राजा का कितना ही निकम्मा-कायर-बुजदिल पुत्र क्यों न हो—बादशाह बनकर गद्दी पर बैठेगा। राज्य के पुरोहितजी के पुत्र महाशय को चाहे काला अक्षर भैंस बराबर हो, पर वे बनेंगे राज्य-विप्र ही।

प्रमुख राज्य मंत्री सुमतिचन्द्र की मृत्यु के उपरान्त कुलिंग देश की बरबर नगरी के अधिपति चन्द्रकीर्ति ने उनके सुपुत्र को बुला भेजा। भद्रकुमार के दरबार में जाने के पूर्व ही उनकी माँ समझाने लगीं—"बेटा भद्र! राज दरबार मे अदब से जाना, ओहदे का ख्याल करना"! पर सिखाये पूत कहाँ तक स्वर्ग जावेंगे!

भद्रकुमार राज-दरबार पहुँचे। अभी तक सोलह बसन्त उन्होंने पार किये थे। उनमे से बारह बसन्त तो खेल-कूद और पिताश्री के गोद में व्यतीत हुए थे। चार बसन्त जरूर घर का काम किया था। पर पिताजी ने तो घर के ढेर सारे पशुओं की गिनती और उनके देखरेख का काम उन्हें सौंपा था। दरबार के मध्य वार्तालाप को कुछ समय तक पशुओं के स्वरों से मिलाते रहे और अन्त में कुछ न समझ कर एक कोने में दुबक रहे।

राजा ने पूछा:—"भद्रकुमार! पिताजी के मंत्रित्व पद का भार वहन कर सकोगे?"

भद्रकुमार ने उत्तर दिया—"राजन्! मेरी माँ भी कहती थीं कि तुम्हें मंत्री बनना चाहिये।"

और, तब!

दरबारियों की हँसी सुनकर राजा ने कहा—"भद्रकुमार! बिना ज्ञान के कैसे तुम यह गुरुतर कार्य कर सकोगे?"

मनुष्य अपने को अधिक नहीं छिपा सकता। कितना ही अपने को दिखाये पर वार्तालाप उसके ज्ञान का भंडाफोड़ कर देती है। अन्त में भद्र बोला—"राजन्! मैं पिताश्री की लाखों कोशिशों के बावजूद भी साहित्य और व्याकरण से कोसों दूर रहा और आज इस योग्य नहीं कि मंत्री बन सकूं। मुझे कोई अन्य कार्य दीजिये महाराज! जिससे मैं अपनी आजीविका चला सकूं।"

राजा ने कहा—"मूर्खों को मेरे दरबार में स्थान नहीं। यदि यहाँ स्थान चाहते हो तो अध्ययन करना आवश्यक है भद्र!"

× × ×

तुलसी, सूर, वाल्मीकि आदि जितने महान् पुरुष हुए सभी तो फटकार सुनकर एक प्रशस्त पथ की ओर बढ़े थे। भिखारी हो या बादशाह अपनी निन्दा बरदाश्त नहीं कर सकता। भद्रकुमार भी [illegible] दा का जहरीला कड़वा घूंट पीकर एक मार्ग की ओर बढ़ चले और दुनियां से ऊब कर नग्न दिगम्बर मुनिराज की सेवा में जा उपस्थित हुए। चरण-रज माथे पर लगाकर विनयावनत हो बोला—"भगवन्! मुझे ज्ञान दो! जिससे मैं अपने पिता के मंत्रित्व पद को पा सकूं।" और तब दयालु मुनिराज ने उपदेश किया :- मिथ्यात्व को छोड़ कर सम्यक्त्व की ओर पयान करो वत्स! जिनेन्द्र और जिनेन्द्र वचनों में विश्वास करो और इसके साथ ही महाप्रभावक भक्तामरजी का १८ वां श्लोक पढ़ कर सुनाया और कहा—इस श्लोक का इसकी ऋद्धि मंत्र सहित प्रतिदिन जाप्य व पाठ करने से तुम्हारे मनोरथ की सिद्धि होगी।

× × ×

भद्र परिणामी भद्रकुमार तीन दिन तक लगातार जिन आराधना में लगे रहे, अन्त में जिनशासन की अधिष्ठात्री चक्रादेवी का सामने प्रकट होना देखा।

देवी ने कहा—"आप की अनुचरी हूँ—आज्ञा प्रदान कीजिये।"

भद्रकुमार ने कहा—वरदान दीजिए कि मैं विद्वान बनूं।

पाठक! आगे के वृतान्त से परिचित ही हो गये होंगे। दरबार में राजा ने उसके इतनी जल्दी विद्वान होने का कारण पूछा।

विनयावनत हो भद्र बोले—राजन् जैन-धर्म के प्रभाव से बड़ी-बड़ी ऋद्धियां और महान् ज्ञान प्राप्त होता है फिर इस शास्त्रीय ज्ञान की [illegible] गणना है?

●●●

दूध का दूध-पानी का पानी

"सुखानंदकुमार को छह मास की सख्त कैद।"

हस्तिनापुर की गली-गली में यह समाचार प्लेग के संक्रामक कीटाणुओं की तरह फैल गया। शहर भर में यदि चर्चा का कोई एक विषय था तो बस यही कि इस दुनियाँ में ईमानदार से ईमानदार और सच्चरित्र से सच्चरित्र व्यक्ति भी लोभ-लालच में पड़कर अपने सुनहरे भविष्य को बिगाड़ लेता है। कुलीन घराने मे उत्पन्न सुखानन्द के उन्नत ललाट पर यह टीका लगना ही था सो लगा। जन-साधारण की दृष्टि में यद्यपि वह बदनियत बेईमान और अव्वलदर्जे का तस्कर सिद्ध हो चुका था, परन्तु उसकी अन्तरात्मा पुकार-पुकार कर कहती थी—कि स्वर्ण अग्नि में तपाये जाने पर ही सौटंच का सिद्ध होता है। सीता जी का पातिव्रत्य और भी निखर उठा था—अग्नि-परीक्षा में उत्तीर्ण होकर !

× × ×

कारागार में पड़ा हुआ सुखानंद अपने दैव दुर्विपाक को दोष देता हुआ अपनी आत्मा को सान्त्वना देता कि कृष्णमन्दिर की हवा विरले ही महापुरुषों को प्राप्त होती है। यह एक ऐसी तपस्या है जो कि सद्यः फल प्रदायिनी होती है। अधिकांश महान् आत्माओं की जन्मभूमि जेल ही तो रही है। आदि···।

और क्या हमने आज प्रत्यक्ष नहीं देखा अपनी आँखों कि कल तक कारावास में सड़ने वाले आज राष्ट्र के तपोपूत कर्णधार हैं। और तपस्या के वरदान स्वरूप सत्ता की बागडोर आज जिनके वरद हस्तों में सुरक्षित है।

दूध में पानी, शुद्ध घृत में डालडा वनस्पति और सोने में रोल्ड गोल्ड आदि मिलावटों से आज असली-नकली की पहिचान बड़ी कठिन होगई है। मिलावट का रोग कोई नया नहीं। वह उतना ही पुराना है, जितनी कि मनुष्य की आसुरी प्रवृत्तियाँ।

स्वर्णकार रत्नज्योति ने राजा की आँखों में धूल झोंक ही दी। अर्थात् सारे के सारे हीरा-पन्ना, मणि-मुक्ता, स्वर्ण आदि बहुमूल्य जवाहिरातों को तो उसने अपने घर रख लिया और असल का भी मुँह मारने वाली नकली धातुओं के आभूषण निर्माण कर राजा के समक्ष प्रस्तुत करने लाया !

मायावियों और नक्कालों को जब ईश्वर का भी भय नहीं रहता तब

राज-भय क्यों होने लगा ? उसने तो सोच ही लिया था कि यदि राजा ने अपनी पैनी भेद-दृष्टि से असल को असल और नकल को नकल पहिचान कर अलग थलग कर दिया तो मैं तो तत्काल ही कह दूंगा कि नगर जौहरी सुखानन्दकुमार ने ही आप के साथ धोखा किया है—मक्कारी की है। उसने आपको माल बतलाया तो असली ही था पर आपकी नजर बचाकर उसके बदले में सारा का सारा जेवर नकली ही रख दिया था। मै तो आपको उसी समय टोकने वाला था—सचेत करने वाला था, परन्तु यह सोचकर रह गया था कि कहीं महाराज यह न कहने लगें कि मेरी बुद्धि से होड़ लगाने वाला तू कौन ? विद्वान मक्कार और बदनियत रत्नज्योति स्वर्णकार की युक्ति काम कर गई। और उसी सुनिश्चित रूपरेखा के आधार पर जौहरी पुत्र सुखानन्द कुमार को कारागार में डाल दिया गया।

× × ×

बिना अन्नाहार ग्रहण किये कारागार में पड़े हुए उसे पूरे ७२ घन्टे होगये, पर धीर-वीर सुखानन्द का हृदय रंचमात्र भी क्षोभित नहीं था। क्योंकि महाप्रभावक श्रीभक्तामरस्तोत्र पर अटल—अगाध श्रद्धा थी—उसे ज्ञात था कि इस महान् स्तोत्र के प्रणेता प्रातःस्मरणीय श्रीमन्मानतुङ्गाचार्य पर भी तो यही बड़ी विपत्ति पड़ी थी। उन्हें भी अड़तालीस ताले बन्द कोठरियों वाली जेल में बांध कर रखा गया था, परन्तु राजा भोज उनका बाल भी बांका न कर सके। सच ही तो है :—

जाको राखै साईंयां—मार सकै न कोय।
बाल न बांका कर सकै, जो जग बैरी होय॥

फिर मैं तो सोलह आने सचाई पर स्थित हूँ—दूध का दूध और पानी का पानी सब स्पष्ट हो जायगा उसने बार-बार भक्तामर स्तोत्र का १६वां श्लोक उसकी ऋद्धि मंत्र का पाठ पढ़ना प्रारंभ किया।

कारागार की काली कोठरी में एक रात्रि, जब वह सो रहा था तब जैनशासन की अधिष्ठातृ जम्बूमति देवी ने आकर उसे उठाया और उठाकर उसके घर निद्रित अवस्था में ही रख आई।

दूसरे दिन राजा सूरपाल ने देखा कि कारागार का दरवाजा खुला पड़ा है और सुखानन्दकुमार अपनी जवाहरातों की दुकान पर निश्चिन्त बैठे हुए

व्यापार मग्न हैं। राजा समझ गया कि उसने पिछली रात के अन्तिम प्रहर में जो स्वप्न देखा था वह इसी रूप में साकार हुआ है। बस फिर क्या था?

राजा सूरपाल जैन-धर्म का अटल श्रद्धानी हो गया और स्वर्णकार रत्न-ज्योति अपने किये का फल भुगतने के लिए कारागार में डाल दिया गया।

●●●

कु-गुरु और सु-गुरु

सेठ अडोलदत्त जैन-धर्म के दृढ़ श्रद्धानी पुरुष थे। चौपाल में बैठे हुए सभी व्यक्ति कह रहे थे—"वाह! कैसा धर्म विश्वासी है।"

पर किसे मालूम था कि चिराग तले अँधेरा ही बना रहता है? उनके पुत्र विष्णुदास पिता का सान्निध्य और सहयोग पाकर भी मिथ्यात्व के घने अन्धकार में छटपटा रहे थे।

नगर में एक दिन एक साधु महाराज का आगमन हुआ।

साधु महाराज की वेष-भूषा तो आकर्षक थी ही, पर साथ ही आकर्षक था उनका मलिन चरित्र; जो उस समय ढोंग की काली चादर से आच्छादित था। बड़ी-बड़ी लम्बी जटायें जो उनके मुख-मण्डल की शोभा बढ़ा रही थीं—वास्तविक नहीं थी—अपितु पशुओं की केशराशि पर काली स्याही की पेन्ट चढ़ाकर उपयोग किये जा रहे थे। साधु ने विष्णुदास को निकट आता देख कर सोचा—सोने की चिड़िया पिंजड़े में फँसने वाली है। और योगासन से श्वांस रोक कर इस प्रकार बैठ गये, जैसे बगुला अपने पेट-पूजा के लिये अष्टब्रह्म-मत्स्यराज को देखकर ध्यानस्थ हो जाता है।

"साधु महाराज! कुछ उपाय बतलाइये ताकि संसार-समुद्र से पार होकर स्वर्ग-लाभ कर सकूं—"

"वत्स! तुम्हारा कथन ठीक है, पर तुम सेवक लोग हम सत्संगी साधुओं के भोजन-वस्त्र की फिकर न करके, उपदेश की रट लगाया करते हो! अरे भाई। किसी कवि ने ठीक ही तो कहा है:—

'भूखे भजन न होय गुपाला'

वत्स ! यदि देश और धर्म की यही दशा रही तो हम साधु लोग हिमालय की चोटी पर निवास स्थली बनाकर 'कृष्ण गोविन्द हरे मुरारे'—का आव्हान भूखे पेट रह कर ही करते रहेंगे, पर इस म्लेच्छपुरी में पैर न रखेंगे।

साधु महाराज का उपदेश विष्णुदास के माथे पर चढ़ चुका था और फिर एक ही दिन नहीं हफ्तों विष्णुदास ने साधु की सेवा सुश्रषा से अपने को धन्य माना। विष्णुदास के साधु प्रेम की चर्चा नगर भर में कर दी थी।···वही विष्णुदास जो पिताजी के लाख कहने पर उधारी के पैसे दुकानों पर जाकर न मांगते थे आज साधु महाराज के लिए चंदा एकत्रित कर रहे थे। हुक्के में गांजा तम्बाखू भरना हरि-कीर्तन की मजलिस लगाना इत्यादि सभी कार्यों का भार विष्णुदास ने अपने ऊपर उठा रखा था। इन सब कार्यों के उत्तरदायित्व का उद्देश्य सत्सेवा तो था ही पर साथ ही वे सोचते थे कि यदि साधुजी की आराधना में त्रुटि हुई तो उनकी मंडली आगे से साधु-पूजा के महान पुण्य को हाथ से खो बैठेगी। इधर साधुजी थे जो प्रतिदिन भक्तों की कृपा और अपने बनावटी आशीर्वाद से मिष्ठान्न भोजनों पर हाथ साफ कर रहे थे। नगर में पाठशाला के अभाव की पूर्ति के लिए जो उन्होंने अल्प धन राशि दो सहस्त्र रुपयों की जोड़ रखी थी—अब वे उसी को भस्मसात करने के घोर प्रयत्न में थे। आखिर एक दिन उन्होंने उपदेश किया—

"धर्मानुरागी भाईयो ! आप लोगों के बीच धर्म-साधन पूर्ण रूपेण जारी रह सका, मेरा मन तो चाहता है कि यहीं एक घास फूस की छोटी-सी कुटिया में पड़ा रहूं। पर नहीं, भक्तो ! साधु लोग अपना घर नहीं बनाते। यह पृथ्वी और आकाश ही भगवान की माया द्वारा उन्हें महागृह के रूप में निर्मित हुए है। साधु के कर्त्तव्य से तो आप लोग भली-भांति परिचित है। एक जगह स्थिर रहने का अर्थ है—उसे उस भूमि से—स्थान विशेष से मोह हो गया है और मोह ही उसे इस पूज्य पदवी से पदच्युत करा सकता है। अतः भक्तजनो ! आज्ञा दो कि मैं अन्यत्र गमन कर सकूं।"

विष्णुदास बीच ही में बोल उठे—"महात्मन् ! हम भक्तों की धर्म जिज्ञासा को ठुकराकर आप यह क्यों कह रहे हैं।" साधु ने तीर को बे-निशान समझ कर अवरुद्ध कंठ से कहा :—

"भक्तो ! मेरी आंखों से आंसू बह रहे है, मेरी आत्मा रो रही है, दिल बर्फ होकर पिघल रहा है, कि साधु पुरुष का किसी गांव विशेष में मोह उचित नहीं है।"

भक्त मण्डली भी तब साधु जी को न रोक सकी। यह अवश्य हुआ कि

विष्णुदास को वे अपना पट्ट शिष्य बनाकर साथ में ले गए। गुरु-शिष्य का आसन दूसरे गांव में जम चुका था। अब विष्णुदास अपने गुरु की वास्तविक वृत्ति को समझ गया था। विषाद की काली रेखाएँ उसके अन्तस्तल पर खिंच चुकी थीं। और एक दिन साधु जी भी अपने अनन्य सेवक से पीछा छुड़ाने के उद्देश्य से एकत्रित रकम बटोर कर रातों-रात वहां से नौ दो ग्यारह हो गए।

× × ×

पुत्र की विषाद युक्त अवस्था देखकर पिता अडोलदास अत्यन्त दुखी थे। वे उसे मृतवत् समझ चुके थे किन्तु उस दिन उनके आश्चर्य की सीमा अति-क्रमण कर चुकी जब उनके पैरों पर पुत्र शिर टेक कर क्षमा याचना कर रहा था।

अब भी विष्णुदास एक अन्य साधु के चक्कर में था किन्तु वह ढोंगी साधुओं को एक बार पतित समझ चुका था और यही कारण था कि वीतरागी दिगम्बर जैन साधु के समक्ष उसका माथा झुक न सका।—अग्नि का तेज सभी को आकर्षित करता है और जैन मुनि के मुख-मंडल पर देदीप्यमान तेज दावानल से कई गुना प्रतापयुक्त होता है। फिर कौन न झुककर आत्मसमर्पण कर देगा उसे? उसने मुनिराज की आन्तरिक गुत्थियों को सुलझा-सुलझा कर देखा!

विष्णुदास ने सोचा—कहीं इनके मन में स्वार्थ की चिनगारी तो नहीं जल रही है। और तब उनके परीक्षण की ओर वह झुका। मुनिश्री से भी वह पहिले साधु से पूंछे गये प्रश्न को दुहरा उठा।

"संसार से छूटने का उपाय बतलाईये महाराज!"

दयासागर मुनिराज ने कहा—"वत्स! प्रत्येक सीढ़ी पर पाँव रख कर महल मे चढ़ना युक्ति संगत है; पर एकदम कई सीढ़ियां लांघने से मनुष्य मुँह के बल गिरता है। तुम्हारे अन्दर की आत्मा अभी सत्य के प्रकाश की ओर नहीं बढ़ी और तुम अन्तिम उपदेश की ओर बढ़ रहे हो। गृहस्थ का सब से बड़ा पुण्य कार्य वही है, जिसमें उसकी स्वयं की आत्मा धिक्कारे नहीं, वरन सहमति दे।"

× × ×

भूला-भटका पथिक सुराह पर आ चुका था, किन्तु उसके सोये हुए भाव कहते थे कि साधुओं पर विश्वास करना ठीक नहीं; जब तक उनमें कोई

विशेषता न हो। उसने कहा—"महाराज ! कोई चमत्कार दिखलाइये, जिससे मेरा धर्म और साधुओं पर विश्वास हो ?"

मुनी श्री ने महाप्रभावक भक्तामर जी का २० वां श्लोक मय ऋद्धि मंत्र के सिखलाकर कहा—"वत्स ! तुम सभी व्यक्तियों के समक्ष अपना मनोरथ सिद्ध करो, जिससे सभी व्यक्तियों का धर्म में विश्वास हो सके !"

× × ×

राजा की सम्पूर्ण प्रजा दरबार में उपस्थित थी। विष्णुदास ने सुरीले कंठ से पढ़ना शुरू किया :—"ज्ञानं यथा त्वयि विभाति कृतावकाशं" और तत्काल जैन शासन की अधिष्ठात्री 'भृकुटी' नाम की देवी वहां उपस्थित हो चुकी थी। देवी ने विष्णुदास को अष्ट सिद्धियां प्रदान कीं, तब विष्णुदास जंगल में पहुँचकर मुनिश्री के चरणों मे गिर कर बोले :—"वास्तव में पाखंडी साधु पेट पूजा के उद्देश्य से आज भारत वर्ष में धूनी लगाकर पंचाग्नि तपकर देशाटन कर रहे हैं और इन महात्माओं के पुण्यतम कार्यों पर भी अपनी काली करतूतों की स्याही पोत रहे हैं।

●●●

प्रकृति का प्रकोप भी उसे परास्त न कर सका

प्रकृति चारों ओर श्रृङ्गार से ओत-प्रोत थी। सरिताएँ लहराती-इठलातीं हुईं अपने असीम प्रवाह से बह रही थीं। बड़े-बड़े पर्वतराज़ अपना मोहक हरा परिधान पहिन कर दर्शकों को मोह लेते थे। निर्जन वन-खंड मे एक ओर पपीहे की पी-पी पुकार और मण्डूकों की वेद-ध्वनि प्रसारित हो रही थी—तो दूसरी ओर मयूर वृन्द नाच-नाच कर कह रहे थे :—

"इस बसंत में नाचो-कूदो प्रमुदित हो सखि !"

चंचल चपला की चपलता और मेघों की गंभीर ध्वनि इस प्रकार दिखाई

दे रहे थे, मानो विद्युत के प्रकाश में इन्द्रदेव सितार (वीणा) वादन हेतु प्रस्तुत हो रहे हैं।

इस श्रृङ्गार पूर्ण सुहावने-सौम्य वातावरण में श्रीधर और रूपश्री पाणि-ग्रहण के पवित्र बन्धन में बंध चुके थे। सम्पूर्ण वैवाहिक क्रियाओं का सानन्द समापन हुआ और रिश्तेदार, सगे सम्बन्धी एक-एक कर जाने लगे। विवाह के पूर्व श्रीधर ने इष्टमित्रों सहित सहपाठियों की बड़ी आव-भगत की किन्तु अब वह उनसे पिण्ड छुड़ाने को आतुर हो रहा था। मनोरंजन गृह में आकर मित्रों से घन्टों वार्तालाप करने वाला श्रीधर उनकी छाया से भी बचने लगा। मित्र लोग आपस में कहते :—"भाई ! पहिली पहिली शादी जो है, और कभी-कभी पास से गुजरते श्रीधर को ताना मार कर कहते—"भई ! इश्क और मुश्क छिपाये नहीं छिपते।"

इधर श्रीधर था, जो नवोढ़ा नव-वधू के प्रेम के आगे मित्रों के तानों को अतिहीन समझता था।

विवाह के पश्चात् आज दशवां दिन था। प्रातःकाल से ही वर्षा की घनघोर झड़ी लगी हुई थी। नगर में चारों ओर निस्तब्धता थी, केवल पुराने विचारों के भोले-भाले कृषकबन्धु आल्हा ऊदल जैसे जोशीले व्याख्यान गा रहे थे और कुछ मन चले नव-जवान आख्यान में वर्णित गुणों को अपने अन्दर जबरदस्ती टटोलकर मूँछों पर ताव दे रहे थे। अधिक काम करने वाले सेवक लोग मेघराज की असीम अनुकम्पा से आकस्मिक अवकाश मना रहे थे और उनके स्वामी मेघराज की इस दुष्टता पर दांत पीस रहे थे।

श्रीधर के परिवार वाले मध्यान्ह में भोजन कर चुके थे, किन्तु रूपश्री अभी तक निराहार थी। घनघोर सघन वर्षा मे नगर से पाँच मील दूर देवालय में स्थित जिनदेव की आराधना करना टेढ़ी खीर थी। सास ने आकर आश्वासन दिया सायँकाल को श्री जिनमन्दिर जी चलेंगे। अभी इस स्थिति में चलना असंभव है ! किन्तु जैन धर्मावलम्बी अपनी ली हुई प्रतिज्ञाओं को प्राणपण से निभाते हैं। और घनघोर मूसलाधार वर्षा एक ही दिन नहीं अपितु सात दिन तक लगातार जारी रही। बड़े-बड़े विशाल-भवन आज जल मग्न हो चुके थे। गाँव के गाँव नदियों की बाढ़ में घिर चुके थे। नगर से ५ मील दूर अवस्थित देवालय भी बाढ़ के क्षेत्र में आचुका था। पानी रुकने पर सात दिन से निराहार रूपश्री अब देवालय की ओर जिन-दर्शन हेतु पहुँची

तब बीच में पड़ने वाली नदी की बाढ़ ने उसे बीच में ही रोक दिया। देवालय के चारों ओर उसे जल ही जल दिखाई दे रहा था। निराश होकर समस्त परिवार घर वापिस लौटा। श्वसुरजी घर आकर समझाने लगे—

"बहूरानी ! सात दिन के निर्जल उपवास ने तुम्हारी कुन्दन सी काया खराब कर दी। अब और हठ करना उचित नहीं। हमारी इज्जत का ख्याल करो बेटी ! न्यायालय में तुम्हारे सर्वनाश पर क्या जवाब दूंगा ? दरबारी क्या मुझ नगर श्रेष्ठी को सन्देह की दृष्टि से न देखेंगे ?

सास ने भी आकर समझाया—श्वसुरजी तो सिर्फ न्यायालय में जवाब देने की बात कह रहे थे पर सासु जी कह रहीं थीं कि वे भगवान को क्या जवाब देंगी ?

आखिर वही हुआ—सात दिन तक निराहार रहने वाली रूपश्री आज भी अपने विचार न बदल सकी। उसने सभी को बतलाया कि प्रण और प्राण में समन्वय नहीं हो सकता। प्राणों का उसे उतना मोह नहीं था, जितना ली हुई प्रतिज्ञा का !

× × ×

आज नगर भर में सन्ताप की रेखायें छाई हुई थीं। बाढ़ प्रपीडित व्यक्ति निरुपाय हो अपने अपने इष्टदेव की आराधना कर रहे थे। श्रीधर को भी प्रकृति के प्रकोप के आगे शिर झुकाना पड़ा। श्रीधर, जो धर्म को पूर्वजों की थपौती और उसके सदाचारों को ढोंग समझता था, अब महाप्रभावक श्रीभक्तामर जी की पोथी उठाकर उसका पाठ एकाग्रचित से पढ़ रहा था। उसने पढ़ना प्रारंभ किया।

"मन्ये वरं हरिहरादय एव दृष्टा...!"

और इस श्लोक को पढ कर वह रुक गया। उसमें उसे आनन्दानुभूति हो रही थी। इसी श्लोक को अब वह बार-बार दुहरा रहा था कि जिनशासन की अधिष्ठात्री समस्त अलङ्कार बिभूषिता 'मीरा देवी' ने प्रकट होकर कहा—

"वत्स ! प्रसन्नोऽस्मि बर वृणीष्व।" श्रीधर ने वर याचना करके समस्त परिवार सहित वायु-रथ पर चढ़ कर जिन बन्दना की। मन्दिर जी में मुनिराज का उपदेश उन्हें आज अमृत तुल्य प्रतीत हो रहा था। और इस अनुपम अलौकिक चमत्कार मात्र से उनका धर्म के प्रति सम्पूर्ण श्रद्धान हो चुका था। मुनिश्री से पंच कल्याणक व्रत की प्रतिज्ञा लेकर वे श्रीधर से महात्मा श्रीधर बन चुके

थे और उनकी दृढ़ प्रतिज्ञा विदुषी पत्नी रूपश्री "मन्ये वरं हरिहरादय एव दृष्टा···श्लोक को पुनः दुहरा-दुहरा कर जिनदेव के समक्ष पढ़ रही थी ।

अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः

जिन-शासन के देवी-देवताओं और अन्य मिथ्यात्वी विषय कषाय युक्त व्यन्तर देवी देवताओं के द्वन्द्व सम्बन्धी अनेक कथानक पाठकों ने पढ़े-सुने होंगे। प्रस्तुत कथा प्रसंग भी लगभग ऐसी ही रोचक घटना का विवरण प्रस्तुत करता है । श्रीमद्भट्टाकलंक देव ने जिस भांति बौद्धमत की अधिष्ठात्री तारादेवी को शास्त्रार्थ में परास्त किया था—वैसे ही वणिक् पुत्र महीचन्द ने चण्डीदेवी को अपने विद्याबल से पराजित कर एक निर्ग्रन्थ मुनिराज का उपसर्ग निवारण किया था !

इस वणिक पुत्र की शिक्षा-दीक्षा का सम्पूर्ण भार तत्कालीन उज्जयिनी नरेश श्रीचन्द्र ने अपने कंधों पर ले लिया था । क्योंकि वह उनके प्रिय मंत्री मतिसागर का एकलौता पुत्र जो था । फलतः कालान्तर में बालक महीचन्द सभी प्रकार की लौकिक एवं आध्यात्मिक विद्याओं में निष्णात होगया । गुरु प्रशाद से महाप्रभावक स्तोत्रराज श्री भक्तामर जी के चमत्कारी काव्यों पर तो उसे कमाल हासिल हो गया था ।

एक दिन क्या हुआ कि नग्न दिगम्बर मुनि एकाकी बिहार करते हुए किसी रम्य एकान्त स्थल की खोज-खबर में उज्जयिनी नगरी से दूर एक ऐसे विमोचित शून्यागार में पहुँचे जहाँ उन्हें एकाग्रचिन्ता निरोध पूर्वक ध्यान करने की अनुकूल सुविधा दिखाई दी ।···और बस फिर क्या था ? बैठ ही तो गये वे कमलासन मांड़कर अन्तरात्मा की खोज में···।

परन्तु कौन जानता था कि इस एकान्त शून्यागार में व्यन्तर जाति की देवी चण्डी का आवास है—चण्डी का स्वरूप वस्तुतः उसके नामानुकूल ही

था। अर्थात् भयानक रस की निष्पत्ति करने वाली प्रचण्ड रौद्र-मुद्रा और हिंसक अस्त्र शस्त्रों से सुसज्जित वेशभूषा उसके आतङ्कवादी प्रभुत्व की स्पष्ट घोषणा कर रही थी।

प्रशान्त मुद्रा के धारी मुनिराज पर उस पिशाचिनी ने यथाशक्ति विविध उपसर्ग किये। कभी अंगारे बरसाये तो कभी हिंसक पशु सिंह, चीते, भेड़िये, श्वान आदि उन अकिंचन आत्मध्यानी योगी पर छोड़े परन्तु दीन दुनिया से दूर, अपने में मस्त उन महात्मा का क्या बिगड़ता ? उनकी श्रद्धा में तो यह सब उनके ही पूर्वकृत कर्मों का उदय था, जिन्हें समता पूर्वक सहकर वे संवर और निर्जरा का मार्ग प्रशस्त कर रहे थे—उनकी अजर-अमर आत्मा का कर्म भला क्या बिगाड़ते ?

आत्मा तो अजर-अमर-अविनश्वर-आनन्दकर अभेद्य-अछेद्य है। उपसर्ग तो उनके पौद्‌गलिक शरीर पर प्रहार कर सकता है। क्या अबद्ध अस्पृश्य आत्मा पर भी उपसर्गों की रंच मात्र आंच आसकती थी ? कदापि नहीं।

भावकर्मों द्वारा यदि नवीन द्रव्यकर्मों का आश्रव न किया जाय तो कर्मों की संतति का प्रवाह ही एकदम बन्द हो जाता है और उनका उदय अपनी स्थिति निःशेषकर अस्त को प्राप्त हो जाता है। इसलिए बाहिरी दर्शक संसार को तो यह दिख रहा था कि परम दिगम्बर मुनिराज पर कितना घोर संकट है, परन्तु स्वयं मुनिराज के आन्तरिक लोक में जो आलोक छाया था, उसका आल्हादमय आस्वाद और अनुभव केवल उन्हें ही था। वे तो मानो चैतन्य का पीयूष पीते न अघाते थे।

× × ×

राजा श्रीचन्द के कानो मे भी यह चर्चा सुन पड़ी कि नगर के चण्डीमठ में एक निर्ग्रन्थ साधु पर घोर उपसर्ग किया जा रहा है। उन्होंने तत्काल महीचन्द को बुलाया और देवी को किसी विधि से भी उस मठ से निष्कासित करने का संकल्प दुहराया ···।

अनादिनिधन णमोकारमंत्र का जाप्य करते हुए महीचन्द यथास्थान पहुँच गये तथा श्री मुनिराज के समीप बैठ कर महाप्रभावक भक्तामरस्तोत्र का पाठ कर ही रहे थे कि २२वें २३वें श्लोक पर पहुँचते ही जिन शासन की अधिष्ठात्री मानस्थम्भिनी देवी प्रकट हुई—बोली :—

"वत्स ! क्या चाहते हो ?"

"प्रशान्तमूर्ते ! मैं अपने लिए तो कुछ नहीं चाहता, परन्तु हां, यहां का

वातावरण अवश्य शान्त चाहता हूँ जो कि क्षुब्ध हो उठा है। इस गुफा की रहने वाली पिशाचिनी चण्डिका के कारण।"

"इस रौद्र रूपधारिणी की यह मजाल कि एक योगी के ध्यान में बाधा डाले। कदाचित इसे ज्ञात नहीं कि रौद्ररूप सदैव से शान्तरूप से परास्त हुआ है। रौद्र-रस तो आत्मा का विभाव-भाव है परन्तु शान्त-रस तो आत्मा का अपना निजी स्वभाव है! अच्छा वत्स! देखो मैं इसे कैसे परास्त करती हूँ?...।"

देखते ही देखते मानस्थम्भिनीदेवी ने अपनी दोनों आँखें बन्द करलीं। ओठों पर मन्द-मन्द मुस्कान लाकर दाहिना हाथ ज्योंही ऊपर उठाया कि चण्डीदेवी के हथियार अपने आप हाथों से गिरने लगे। मायावी भूत-प्रेत तथा सिंह, चीते, व्याल आदि सभी हिंस्र पशु भाग खड़े हुए। अन्त में चण्डीदेवी मानस्थम्भिनी देवी के चरणों पर गिर कर गिड़गिड़ाने लगी :—

हे जिनशासन देवते! मुझे क्षमा करो—देवि! मुझ हतभागिन को क्षमा करो!!

पर पीड़ा में कौतुक मनाने वाली दुष्टे! तूने यह नहीं सोचा कि मैं किस शान्त शक्ति से टकरा रही हूँ? क्या तुझे सम्यग्दर्शन का प्रभाव ज्ञात नहीं है?

"हे प्रशान्तमुद्रे! मुझे क्षमा करो...क्षमा करो!"

"क्षमा, क्षमा मैं नहीं बल्कि ये प्रशान्त चित्त महामुनिराज ही तुझे क्षमा करेंगे।"

मुनिराज भला क्या क्षमा करते? वे तो समदर्शी होते हैं। असिप्रहारण और अर्घावतारण दोनों स्थितियाँ एक बराबर हैं जिन्हें।...उन्हें क्षमा और क्रोध से क्या प्रयोजन?...उनके मुखारविन्द से तो जो अमृत-वचन निकले, उनसे यह हुआ कि चण्डीदेवी ने सम्यक्त्व धारण कर लिया और जिनधर्म भक्त बनने की प्रतिज्ञा करली।

क्षुब्ध वातावरण शांति और अहिंसा में परिणत होगया। शांति के समक्ष रौद्रता ने आत्मसमर्पण जो कर दिया था।

जय जिनवर की गगन भेदी ध्वनि से गुफा का कोना-कोना गूंज उठा!

●●●

राग-विराग की फाग

राजा जितशत्रु बड़े ही विलासी कामुक व्यक्ति थे। एक दो नहीं, अपितु ३६ राजकुमारियों से उन्होंने विवाह किया था!

वसंत का सुहावना समय था। कोयल की कूक और सुगन्ध पवन के झोंके कामियों को उन्मत्त करते थे। वस्त्रालंकारों से विरहित वसुन्धरा और पादपवृन्द भी संकोच वश हरित परिधानों से विभूषित हो रहे थे। लतायें शरमीली दुलहिन बनकर पेड़ों के एक ओर, घूँघट डाल कर छिप गई थीं।

कामुक व्यक्ति पर कामदेव चौवीसों घन्टे सवारी किये रहता है। पर इधर तो सोने में सुहागा था। मानो वसंत की बहार नवजवानों की कामोद्दीपन शक्ति को चौगुनी कर देती है।

राजा जितशत्रु वन-क्रीड़ा को जारहे थे। साथ में ३६ रानियाँ और उनकी दासियाँ थीं। एकान्त—निर्जन वन में स्थित सरोवर में स्नान का सुन्दर आयोजन था। रानियों ने पारदर्शी महीन सुन्दर वस्त्र धारण किये और राजा सहित स्नान के लिए सरोवर में कूदने लगीं। दासियाँ भी जल में उतर चुकी थीं। यह सम्पूर्ण समूह जल जन्तुओं के समान घन्टों जल-क्रीड़ा में मग्न रहा। रानियों के पारदर्शक महीन वस्त्र शरीर से सट गए थे और प्रत्येक दासियाँ अपनी-अपनी स्वामिनियों के वस्त्राभरण संवारने का प्रयत्न कर रही थीं; किन्तु फिर भी महीन वस्त्रों में से उनके उभरे हुए अंग-प्रत्यङ्ग स्पष्ट दिखाई दे रहे थे। कामदेव के साक्षात् अवतार जितशत्रु रानियों की इस मोहक दशा पर मन ही मन विमुग्ध हो रहे थे।

सहस्रों मुनि-तपस्वी-साधु और त्यागी-वैरागी केवल इसलिए पदच्युत हुए कि परीक्षा को आई हुई किसी स्त्री विशेष ने उनके मन का अपहरण कर आत्मा के उद्दीप्त चिराग को बुझाकर अपनी ओर आकर्षित किया।

पाठक ध्यान दीजिए। जहाँ एक साधक स्त्री के सम्मोहन रूप को पाकर अध्यात्मवाद के नीरस ज्ञान को छोड़ सकता है, वहाँ अर्द्धनग्नावस्था में वन-क्रीड़ा करती हुई कई रानियाँ क्या व्यक्ति विशेष के विवेक को स्थिर रख सकती है? गर्ज यह कि राजा इस आयोजन से संतुष्ट न हो सके। उनका कामुक चंचल मन दूसरी ओर ही भटक रहा था। फाग में राग का होना भी आवश्यक था अतएव ध्रुपद से लेकर शास्त्रीय संगीत तक वाद्य यंत्रों पर

झंकृत हो उठे। नृत्य का लुभावना आयोजन अवशिष्ट रह गया, जिसे देखने को राजा जितशत्रु अधीर हो रहे थे।

अंत में रानियों की घुंघरू युक्त पादध्वनि सुनाई देने लगी। संगीत और नृत्य का संमिश्रण आज के मनोरंजन गृहों की ही देन नहीं है। नहीं तो कथा नायक जितशत्रु को अपवाद कहना पड़ेगा। दासियाँ वाद्य यंत्रों पर अपनी अँगुलियाँ फेर रही थीं और रानियाँ थिरक-थिरक कर नृत्य कर रही थीं।

नृत्योपरान्त, श्रम से थकी हुई रानियाँ मदमाती चाल से घर लौट रही थीं। समस्त रानियां यौवन के उन्नत भार से दबी हुई अपने को राजा की अनन्य सेविकाएँ मानती थीं।

वन-देवता से रानियों का यह गर्व न देखा गया और देखते-देखते वन-देवता की कुपित दृष्टि से सभी रानियाँ पागलों की भाँति दिखने लगीं। पटरानी अपने वस्त्रों की सुध-बुध भूल कर जंगल के रास्ते पर दौड़ रही थी। कमला और विमला ये दो रानियाँ एक कुएँ पर बैठ कर रो रही थीं। निर्मला और साधना बालों को छितराये चीत्कार कर रही थीं। माधवी और रेवती सरोवर के किनारे का गन्दा कीचड़ अपने अंग प्रत्यङ्गों पर उबटन सा लपेट रही थीं। कई रानियाँ अपने पारदर्शक परिधानों की चिन्दियाँ बना बनाकर आकाश में उड़ाने का नाटक कर रही थीं। जिनदत्ता और वासवदत्ता तो हँस-हँस कर ठिठोली करती हुईं राजा को सरोवर के गहरे जल मे ढकेले ही ले जा रही थीं। राजा जितशत्रु को, उन्मत्त रानियाँ विविध प्रकार से मदोन्मत्त बना रही थी। राजा को फाग का आयोजन अब वास्तविक और सफल दिख रहा था। धूल, पानी और कीचड़ उछाल-उछाल कर उनका अट्टहास करती हुई स्वागत कर रही थीं। इधर राजा जितशत्रु अब परेशानी से बचने के लिए उन्मत्त रानियों के समूह में से भागने की असफल कोशिश कर रहे थे।

उसी वियावान जंगल में से व्यापार को जाते हुए एक वैश्य-पुत्र ने राजा जितशत्रु को [illegible] और स्वागतार्थ उनके समीप पहुँचने के पूर्व ही मदान्ध उन्मत्त रानियाँ ने बेचारे वणिकपुत्र की विचित्र हालत बनादी। राजा रानियों पर बरस पड़ा किन्तु उसका असर उलटा ही हुआ। उन्मत्त रानियाँ पूर्वापेक्षा और अधिक बिफर पड़ी और राजा पर मधुमक्खियों की तरह टूट

पड़ीं। रानियों के इस आघात-प्रतिघात से राजा और वणिक पुत्र दोनों ही चिन्तित हो उठे।

अन्ततोगत्वा वणिकपुत्र की सलाह से समस्त मंडली समीप के वन में विराजमान श्री शांतिकीर्ति मुनिराज की शरण में पहुँची। नग्न दिगम्बर मुनिश्री के कान्तियुक्त शरीर को देखकर पागल रानियां कामदेव से प्रपीड़ित हो और अधिक उन्मत्त हो उठीं। और वे उन्हें घेर कर बैठ गईं। सहसा कुछ क्षणों के उपरान्त पटरानी कामोन्मत्त हो ऊपर का परिधान फेंकती हुई दोनों हाथों को फैलाये मुनिश्री की ओर बढ़ी कि उसके पूर्व ही उसके पैरों में मानो किसी ने लोह श्रृङ्खला पहिना दी। वह जहाँ की तहाँ मूर्ति की तरह खड़ी की खड़ी रह गई। पटरानी की यह हालत देख सभी आश्चर्य चकित रह गये, मानो सभी को लकवा मार गया हो।

अत्यन्त शान्त, गम्भीर, दया के सागर शान्तिकीर्ति मुनिराज ने तब अपने कमंडलु से चुल्लू भर जल निकाल कर सभी उन्मत्त—विक्षिप्त रानियों पर डालकर फाग खेल डाली और तभी उन्होंने महाप्रभावक भक्तामर के २४-२५ वें श्लोक का पढ़ना प्रारम्भ किया।

दोनों श्लोकों के असीम प्रभाव से विक्षिप्त और पागल भी अपनी पूर्वावस्था को प्राप्त कर लेता है। वह भक्तामरस्तोत्र सदा-सर्वदा जन-जन के लिए कल्याणकारी हो।

रानियां अपनी और राजा की दशा को देखकर मन ही मन लज्जित हो उठीं और दासियां नवीन वस्त्रों को लाने के लिए राजमहल की ओर दौड़ पड़ीं।

भक्तामर के सुदामा

दर-दर की ठोकरें खाकर, जूठन पर जीने वाला भिखारी! और फटे-पुराने चिथड़ों में अपनी लाज ढकने वाली उसकी परिगृहीता नारी!!... और समाज से दूर—बहुत दूर स्थित घासफूस की वह झोपड़ी! हवा के झोंके जिस पर अपनी शक्ति आजमाते हों—पानी की बौछारें जिसको अपना

लक्ष्य रखने को सन्नद्ध रहती हों और सूर्य की खिलखिलाती तेज किरणें मानो इसे जलाकर भस्म ही कर देने को लालायित होकर बार-बार झांकती हों !! ……ऐसी ही झोपड़ी में संरक्षण पाने वाले वे दोनों प्राणी अपने-जीवन की घड़ियां काट रहे थे।

समाज व्यवस्था कोई आज से थोड़े ही बिगड़ी है। यह तो युग युगान्तरों का रोग है—महारोग है। विषमता तो मानो संसार को उसी प्रकार वरदान में मिली है, जिस प्रकार गरीब को जीवन अभिशाप में !! ……ऐसे आराम, ठाठबाट और वैभव विभूति में पले हुए रईसों की भृकुटियों के उतार चढ़ाव पर न जाने कितने गरीबों का जीवन-मरण अठखेलियां करता है।……गरीबी का चित्रण करने के लिए शब्द योजना अथवा वाग्जाल की कतई आवश्यक्ता नहीं; क्योंकि भारत के विशाल भाल पर ये अभागे लाल लाखों नहीं, करोड़ों की संख्या में यत्र-तत्र सर्वत्र दिखाई देते हैं। फुटपाथों पर पड़े-पड़े ही इनकी जिन्दगियां समाप्त हो जाती है और प्राप्त होती है दर्जनों की संख्या में वहीं उन्हें औलाद, जो अपने घिनौने शरीर को दिखा-दिखा कर नरक के साक्षात् दर्शन कराती हैं।

अवतार बार-बार पुण्य के पैरों तले रौंदे जाकर भी मानो उनकी चुनौती स्वीकार करने को बाध्य होते ही है। विषमताओं से ही तो संसार का अस्तित्व है। सुख और दुख—साता और असाता—गरीबी और अमीरी—दाता और भिखारी—रंक और राजा इन दोनों के संमिश्रण का नाम ही तो संसार है। इनमें कोई एक रहे तो फिर उसे मोक्ष की ही संज्ञा न दी जावेगी ?

कहते हैं, कि घूरे के भी दिन फिरते हैं। फिर इन अभागों के दिन क्यों न फिरते ? सुदामा के दिन यदि नारायण कृष्ण की कृपा से फिरे तो उपरोक्त भिखारी के दिन भी महाप्रभावक श्रीभक्तामरजी के २६ वें श्लोक की साधना से फिर गये। टूटी-फूटी खिरखिस्ता झोंपड़ी से निकल कर सुदामा जी द्वारका की ओर बढ़े वे तो हमारा यह भिखारी झोपड़ी से निकल कर बढ़ा निर्ग्रन्थ मुनि की ओर ! संभवतः उसने निर्ग्रन्थ को अपने ही जैसा अकिंचन अपरिग्रही समझ कर ही और उनमें आत्मीयता की सुगंध पाकर ही उस ओर कदम बढ़ाये हों !

कुछ भी हो, कुछ दिन पश्चात् जब वह भक्तामर जी के २६ वें श्लोक की ऋद्धि तथा मंत्र साधना करके बियावान बन से वापिस लौटा तो झोपड़ी की जगह ऊंची हवेली खड़ी हुई आकाश से बातें करती दिखाई दी। ठीक

वैसे ही जैसे कि सुदामा जी द्वारका से लौटे तो झोपड़ी की जगह उन्हें राजमहल के दर्शन हुये थे।

तब से उसे कोई भिखारी नहीं कहता, कहलाता है वह नगर सेठ धर्ममित्र !

अपुत्रीन को तूं भले पुत्र दीने

बिना फल का वृक्ष स्वयं को सन्तति विहीन समझकर मुरझा जाता है। कुमुदिनी रहित सरोवर उत्तुंग लहरों के स्थान पर मंद प्रवाह से बहता है। यही हाल राजा हरिश्चन्द्र और उनकी धर्मपत्नी चन्द्रमती का था। सन्तान का अभाव उन्हें चौबीसों घंटे संतप्त किये रहता था। कई मुस्तंडे पंडे और पुजारी राजा साहब के यहाँ पुत्र-यज्ञ के नाम पर घी, मिश्री और शक्कर उड़ा रहे थे। और कई छद्मवेषी साधु रानी की मनोरथ सिद्धि के लालच में ठग रहे थे। पीर पैगम्बर और औलियाओं की मिन्नतें-मनौती मनाई जा रही थीं।

एक दिन एक तपस्वी जी भिक्षा मांग कर बोले :—"सौभाग्यवती पुत्री ! राजरानी होकर भी दुखी क्यों हो ?" रानी चन्द्रमती ने अपना मनोरथ कहा तो साधु महाराज बोले :—"तुम्हें पिछले जन्म का साधुओं का प्रकोप है ! बेटी ! अब हम साधुओं को इस जन्म में इच्छानुसार दान दो, तो यह प्रकोप दूर हो सकता है और तब तुम्हारी सभी कामनाएँ फलवती हो सकती हैं।" जटाजूटधारी साधु महाराज की बात रानी को जँच गई। फिर क्या था ? वे यहाँ मिष्ठान्न भोजन पर हाथ साफ करने में झुक पड़े; और यह क्रम कई दिनों तक चलता ही रहा।

साधु महाराज कुछ लालची प्रकृति के थे। सो हवन शान्ति के दिन इतना भोजन पागये कि उनका उठना-बैठना दूभर होगया। राजवैद्यों के उपचारों के बावजूद साधु महाराज फिर उठकर खड़े ही न हो सके। सच तो यह है कि "ज्यों-ज्यों दवा की, मर्ज बढ़ता ही गया।" साधु महाराज को बचाने के सारे प्रयत्न निष्फल सिद्ध हुए। रानी चन्द्रमती के माथे एक और साधु प्रकोप भड़का। उनका पार्थिव शरीर चेतनता शून्य होगया।

ज्योतिषी जी भी एक दिन आकर बोले :—"शनिग्रह तुम्हारे विपरीत है रानी जी ! यदि पवित्र मन से सौ ब्राह्मणों को भोजन और राज्य ज्योतिषियों को उनके इच्छानुसार दान-दक्षिणा दो तो शनि-देवता तुम्हारे अनुकूल हो सकता है !"

राजवैद्य ने सलाह दी कि स्वर्ण-दान और स्वर्ण-भस्म का सेवन आपके लिए उपयुक्त रहेगा, और सुबह-शाम अमृत-घृत का उपयोग भी पुत्रवती होने में सहायक सिद्ध होगा।

राज-विप्र भी कब पीछे रहने वाले थे, बोले—"हस्त रेखाएँ ठीक नहीं है, परिहार हेतु पिण्डदान अत्यन्त आवश्यक है।"

पीर पैगम्बर मौलवी और मुल्लाओं ने आपस में मशविरा कर सलाह दी कि सन्तति को जिद ने पकड़ रखा है, जब तक उनकी पूजा न की जायगी; पुत्र-जन्म असंभव है।

इस तरह दौड़-धूप चलती रही—चलती रही !

एक दिन एकाएक नगर के बाहिरी उद्यान में मुनि श्री श्रुतकीर्ति जी महाराज का आगमन हुआ। राजा-रानी भी दर्शनार्थ गए। दोनों दम्पत्ति साधुओं और ज्योतिषियों आदि पेशेवर व्यक्तियों में अपना विश्वास खो चुके थे। निर्मोही निस्पृही मुनिराज ने महाप्रभावक भक्तामर स्तोत्र का रहस्य तथा उसका प्रभाव बतलाते हुए उसके सत्ताईसवें श्लोक का उच्चारण कर उसके महत्त्व का प्रतिपादन किया। तब तक दोनों में उस ओर कोई विशेष उत्साह न था। मुनिश्री श्रुतकीर्ति जी महाराज केवल भक्तिपूर्ण धार्मिक क्रिया को समाप्त करने के लिए मधुर कंठ से पढ़ते ही जा रहे थे।······

राज्य मंत्रियों और उपस्थित व्यक्तियों को आश्चर्य तो तब हुआ जब राजा हरिश्चन्द्र अकेले उठकर जिनमन्दिर में पहुँचे और स्नान करने के पश्चात् भगवान् आदिनाथ की मूर्ति के सामने पर्यंकासन लगाकर जोर-जोर से पढ़ने लगे :—

को विस्मयोऽत्र यदि नाम गुणैरशेषै—
स्त्वं संश्रितो निरवकाशतया मुनीश !
दोषैरुपात्त विविधाश्रय—जातगर्वैः
स्वप्नान्तरेऽपि न कदाचिदपीक्षितोऽसि ॥२७॥

उपरोक्त श्लोक का स्वर बाहर के आदमियों को स्पष्ट सुनाई दे रहा था।

राजा हरिश्चन्द्र तन्मयता से उसी श्लोक को बार-बार दुहरा रहे थे। किन्तु उनके स्वर से स्पष्ट प्रतीत होता था कि वे शब्द उनके अन्तःकरण के नहीं थे। उन्होंने तो मन में मनोरथ सिद्धि का मुख्य-उद्देश्य बना रखा था—जिन स्तुति का नहीं। दो घन्टे अखण्ड पाठ करते हुए व्यतीत होगए फिर भी कुछ निष्कर्ष न निकला! राजा बड़बड़ाते हुए बाहर निकले और प्रतीक्षा में खड़े हुए दरबारियों से बोले :—

धर्म कुछ नहीं, थोथा प्रपंच है और उसके अनुयायी धर्मोपार्जन नहीं वरन् धर्म के नाम पर आजीविकोपार्जन कर रहे हैं अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए।

प्रमुख राज्यमंत्री को राजा के भाव परिवर्तन पर आश्चर्य हुआ—। और खेद भी! तत्काल वह स्वयं उपरोक्त श्लोक का पाठ बिना किसी इच्छा के धर्म स्थिति के हेतु जिनालय में कर रहा था। वह तल्लीन था—आस्थावान था। उसके कंठ से निःसृत शब्दों में भक्ति की गंगा बह रही थी और आगे को बढ़ रही थी कि कुछ समय के उपरान्त जैन शासन की अधिष्ठात्री "श्रुत देवी" ने सम्मुख आकर राज्यमंत्री से वर याचना के लिए आग्रह किया।

संसार के अगणित दुखों से उबार कर मानव को मुक्ति-मन्दिर में पहुँचाने वाले धर्म के प्रति राजा की आस्था बनी रहे यह आवश्यक जानकर उसने अपने लिए नहीं, वरन् प्रजापति के यहां पुत्ररत्न की प्राप्ति हेतु वर की याचना की।

और "तथास्तु", कहकर श्रुत देवी अन्तर्धान होगई।

पांच वर्ष के बाद मुनिश्री श्रुतकीर्तिजी महाराज पुनः उसी नगर में अपने शिष्यों समेत आये। दलबल सहित राजा-रानी दर्शनार्थ पहुँचे। दम्पत्ति ने अपने चार वर्षीय बालक को मुनिश्री के चरणों में डालकर कहा—

भगवन्! इसे आशीर्वाद दीजिए।

रूपकुण्डली

यौवन का झोंका कभी-कभी स्वयं को बहा ले जाता है। विरले ही व्यक्ति इसमें प्रवेश करके सकुशल लौट पाते हैं। यौवन के मद में उन्मत्त होकर हस्ती अपनी हस्ती बतलाने के ध्येय से उल्टी मंजिल की ओर दौड़ लगाता

है। यौवन के मद में मदहोश पुष्प-वृन्द जब खिलखिलाकर हँसते हैं, तो दूसरे ही दिन उन्हें बिखर-बिखर कर अपने पैरों की धूलि पर मुँह के बल गिरना पड़ता है। युवावस्था वह खिली हुई कलिका है जिस पर भ्रमर मंडराते हैं, पराग चूसते हैं और उसको अर्द्ध निस्तेज बनाकर चल देते हैं।

रूपकुंडली राजा पृथ्वीपाल की अनन्य सुन्दरी राजकन्या थी। रूप और यौवन के दो-दो प्यालों के सन्निकट होते हुए भी वह उनसे संघर्ष कर रही थी। यह संभव है कि कामदेव ने अपने समर्थ शरीर से अप्सराओं को आकर्षित किया हो, किन्तु रूपमती रूपकुंडली के समक्ष उसे लज्जित होना ही पड़ता। चन्द्रमा के सदृश कान्ति युक्त, मृगनैनी और गजगामिनी रूपकुण्डली स्वर्गलोक की अप्सरा सी दिखाई देती थी। उसके निर्मल कान्ति युक्त दन्त समूह जब सहसा खिलखिला कर हँसते थे तब निकटवर्ती व्यक्तियों को यही प्रतीत होता था कि बिजली अर्द्ध तेज से चमक रही है। उसकी-क्षीण जर्जर कटि सम्पूर्ण शरीर को कामलता के सदृश घोषित कर रही थी।

इस अनिंद्य अनन्य रूप में छिपी हुई किसी भी षोडसी को अपने ऊपर गर्व हो सकता है। रूपकुण्डली भी इसका अपवाद न बन सकी। अपनी सहेलियों को वह हीन समझ कर अपने अनुपम रूप का दम्भ बतलाती इठलाती हुई जाकर सायंकाल को गिरि-शिखर पर आ विराजती, अलसाये हुए नैनों से बसंत की बहार निहारती और कभी-कभी उस युवा तुर्कभ्रमर मण्डल की ओर देख लेती थी जो रूप की तृष्णा से तृषित होकर इस ओर पर्यटन के बहाने आ निकलते थे।

सुभाषितेन गीतेन, युवतीनां च लीलया।
यस्य न द्रवते चित्तम्, सवैर्मुक्तोऽथवा पशुः॥

रूपकुण्डली दासियों सहित अपनी बगिया में टहल रही थी। सामने से नग्न दिगम्बर मुनिराज आ निकले। यौवन के मद में चूर दासियों ने स्वामिनी की आज्ञा से निर्मोही मुनि को छेड़ दिया। मुनिश्री ने उपसर्ग समझ कर कोई आपत्ति न की, न भावों में कोई विकार आने दिया।

रूपकुण्डली ने आगे आकर मुनिराज की निन्दा की तथा उनके धूल-धूसरित-कुरूप शरीर और नग्न भेष पर शोक प्रकट किया। अन्त में रूप-गर्विता रूपकुण्डली ने शिला खण्ड पर स्थित समाधिस्थ मुनि के शरीर को रंग बिरंगे रंगों से चित्रित किया तथा उन्हें एक खासा व्यङ्ग सजीव चित्र (कार्टून)

बनाकर छोड़ दिया। और हँसी मजाक उड़ाती अपनी दासियों समेत वह राज-भवन की ओर बढ़ गई।

मुनिराज ने उपसर्ग की समाप्ति पर अपना ध्यान भंग किया। बिना किसी सन्ताप और द्वेष के जंगल की ओर जाने लगे। बिल्कुल छोटे-छोटे अबोध बच्चे विचित्र रंग के व्यक्ति को देख कर अपनी-अपनी माँ की गोद में भय के कारण जा छुपे थे। और नगर के विनोदी बालक उनके पीछे-पीछे हँसते हुए आ रहे थे। मुनिराज तो अपनी आत्मा की निधि संजोये साम्यभाव से चार हाथ जमीन शोधते हुए गमन कर रहे थे। उन्हें न तो रूपकुंडली का उपहास बुरा लगा था और न पीछे चलते हुए बच्चों की ओर ही उनका ध्यान था।

× × ×

रूपकुण्डली अभी घर पहुँची ही थी कि एक वीतराग साधु पुरुष की निन्दा के महान् पाप के कारण उसका सुन्दर शरीर उदम्बर कोढ़ से ग्रसित होगया। अब नगर का साधारण कुरूप युवक भी उसकी ओर देख कर घृणा से मुँह फेर लेता था। सखियां चिढ़ाकर कहतीं—"कामदेव को मात पर मात देती रहना रूपकुण्डली!" और उपवन में पर्यटन को आने वाले युवा तुर्क कह रहे थे :—

बड़ा शोर सुनते थे, हाथी की दुम का
देखा तो पीछे रस्सी बंधी थी!

बड़े-बड़े हकीम और राजवैद्य रूपकुण्डली के उदम्बर कोढ़ को जब अच्छा न कर सके तब वह उन्हीं मुनिराज के चरण कमलों पर गिर कर बोली :—

"महाराज! दया के सागर! मुझ सेविका को रूप-दान दीजिये, रूप के मद में मदान्ध मुझ पापिनी ने आपकी निन्दा का घोर पापार्जन किया है। उस महान् पाप से छुड़ाइये!"

महामुनिराज को मालूम ही नहीं था कि उनके कारण किसी को तकलीफ हुई है। धैर्य देते हुए कहा—"देवि! महाप्रभावक भक्तामर स्तोत्र के २८वें श्लोक का बारम्बार स्मरण करने मात्र से इस भयङ्कर रोग से मुक्ति मिल सकती है।"

कुरूपकुण्डली समदर्शी मुनिराज से जैनधर्म का उपदेश श्रवण कर बहुत आनन्दित हुई और वह मुनिश्री को नमस्कार करके अपने घर लौट आई।

रूप कुण्डली ने लगातार तीन दिन और तीन रात भक्तामर का अखंड पाठ किया और २८ वें श्लोक के मंत्र की साधना की। फलस्वरूप उसका सारा शरीर पुनः कुन्दन सा चमक उठा। राजमहलों तक जब यह खबर पहुँची तो राजा पृथ्वीपाल सपत्नीक अपनी पुत्री रूपकुण्डली के समीप पहुँचे और उसे पहिले की अवस्था में देख आनन्द विभोर हो उठे। राजा ने इस खुशी में जैनधर्म की प्रभावना हेतु जैनमन्दिर का निर्माण कराकर उसमें अति मनोज्ञ भगवान आदिनाथ की आदमकद प्रतिमा को प्रतिष्ठित कराया!

कुछ काल बाद राजा पृथ्वीपाल ने अपनी रूपवती पुत्री रूपकुण्डली का ब्याह गुणशेखर के साथ कर देना चाहा किन्तु अब वह नाशवान् शरीर का सही सदुपयोग समझ चुकी थी, और इसीलिये उसने आजन्म ब्रह्मचर्य व्रत पालन करके आर्यिका की जिन्दगी बिताने का कठोर संकल्प कर लिया।

●●●

मुखड़ा क्या देखे दरपन में?

"यह नङ्गा, जंगली, असभ्य यहाँ कहाँ से आ टपका? थोड़ी भी लज्जा नहीं इसे! बेशरमी की पराकाष्ठा को भी लाँघकर आगे बढ़ा चला आ रहा है! लोक व्यवहार से कोसों दूर रहने वाले इस मलिन वेषधारी दीन दरिद्री को एक फटी हुई कोपीन भी नहीं जुट सकी इतने विराट् ऐश्वर्य युक्त विश्व में?......धिक्कार है इसके क्षुद्र जीवन को!! इसका खबसूरत बदन तो देखो......परतें की परतें चढ़ रही हैं मैल की?......मानों वर्षों से पानी के दर्शन ही नसीब न हुए हों—नहाने के लिए!......और दांत......ऊबड़ खाबड़—पीले रंग के बदबूदार...क्या यह कभी दांतों को साफ नहीं करता? मंजन नहीं लगाता?...यह अलौकिक जीव इस लौकिक जगत का प्राणी बनकर क्यों इसके लिए भार स्वरूप बना हुआ है?...इसे देखकर तो मेरा जी मिचलाता है।...और इसके खाने पीने का तरीका तो देखो!...भला मनुष्य बैठकर भी नहीं खा सकता!...बद्बुद्धी असभ्य कहीं का। एक भिखारी भी होता है, तो वह सकोरे—मिट्टी के ठीकरे या हरी पत्तल में से खाता है, परन्तु

यह नङ्गा तो बच्चों से भी गया बीता है, जो हाथों में ले लेकर खा रहा है !! इस बेहूदे को विविध व्यंजनों के स्वाद का भी कोई ज्ञान नहीं है। मूर्ख को हलुवा, दूध, मलाई दही, दाल, दरिया, जो कुछ भी दिया जा रहा है उन सबको एकमेक करके हैवानों जैसा खाता जा रहा है।"

उपरोक्त विचारधारा है, एक रूपगर्विता उस रूपवती रानी की जो आदमकद दर्पण के सन्मुख खड़ी हुई अपने सोने जैसे शरीर को एकटक देख कर इठला रही है—ठहर-ठहर कर अँगड़ाईयाँ लेकर मानो शरीर को तोड़े डाल रही है। चार दिनों की चाँदनी वाली इस विनश्वर क्षणभंगुर काया के शृङ्गार करने में ही जिसने अपने अमूल्य जीवन की इतिश्री मान ली है।··· यह विचारधारा उस 'जयसेना' की है—जिसके शृङ्गारकाल में ज्ञानध्यान तपोरक्त संयमी विषय-विष विजयी वीर-प्रभु भक्त ज्ञानभूषण जी महाराज उसी के राजमहल में आहार के लिए पड़गाहे जारहे थे अपने पति द्वारा···। उन्हीं समदर्शी परम दिगम्बर-निर्ग्रन्थ मुनिश्री के प्रति अनेकविधि अनर्गल प्रलाप करने वाली यह नास्तिक मिथ्यात्वनी कामिनी क्या किसी और का कुछ बिगाड़ रही है ?···अपितु अपनी ही गन्दी विचारधारा से अपने ही भावों और परिणामों से स्वयं को बांध रही है—जकड़ रही है। इस विषयानुरक्ता विषभरी परी को यह खबर नहीं कि आत्मा तो ज्ञान मात्र का पिण्ड रूप ऐसा टेप-रिकार्ड (शब्द संग्राहक यंत्र) है, जिसमें शुभ-अशुभ सभी प्रकार के विचार-विकार टेप (टंकित) होते जाते हैं। विचार यानी भाव-कर्म !!···समय आने पर अर्थात् विपाकोदय काल में कर्म योग से जब द्रव्यकर्मों और नोकर्मों का संयोग होता है, तो गति एवं साता-असाता की सामग्री भी उन्हीं के अनुसार मिलती है !···आत्मा तो एक ऐसा ज्वलन्त केमरा है जिसके सामने जरा सी असावधानी से बैठने पर भव-भव की फोटो ही बिगड़ जाती है ! आप समझते होंगे कि अपनी उस फोटो को बिगाड़ने बनाने वाला कोई विधाता फोटोग्राफर है !!···नहीं···सनातन जैन सिद्धान्त में तो विधाता का सारा काम 'नामकर्म' ही करता है। उसे ही हम विश्वकर्मा कहते हैं !·· तो बस ! इसी विचारधारा ने रानी जयसेना की अगले भव की फोटो तो दूर इसी भव की फोटो बिगाड़ दी अर्थात् जो विचार उसकी आत्मा के उपयोग में टेप (टंकित) हुए थे···वे शीघ्र ही उदय में आगये—फलित होगये ! 'इस हाथ दे उस हाथ ले" की कहावत चरितार्थ होकर रही।

समदर्शी योगीश्वर ने तो उसका कुछ नहीं बिगाड़ा, उसने स्वयं ही अपने विचारों से अपना भविष्य बिगाड़ लिया। कुछ दिनों बाद ही उसे रिसने वाला

दुर्गन्ध युक्त गलित कोढ़ फूट निकला ! ···इतनी बुरी तरह कि बदबू के मारे सिवा मक्खियों के कोई पास भी नहीं फटकता था। सारी चमचमाती कंचन काया धूल में मिल गई। इसीलिए तो कहा गया कि रूप-मद में आकर मुनि-निन्दा नहीं करनी चाहिये।···

× × ×

जब संसारी जीव शास्त्रोपदेश या सदगुरु के उपदेश द्वारा कुछ नहीं सीखता तो उपर्जित कर्मों के अनुरूप दण्ड पाकर उनसे भयभीत हुए वे स्वयं सत्पथ पर आजाते हैं। अब समझ में आया जयसेना को कि मेरे मुनि-निन्दा के भाव कर्मों का ही यह कु-फल है—विष-फल है !

"बोये पेड़ बबूल के, आम कहाँ से होय ?"

अब तो इस दुखद व्याधि से छुटकारा पाने का एक मात्र उपाय यही है कि पुरुषोत्तम संत की शरण में जाया जावे। वे अवश्य ही कुछ उपचार बतला देंगे।···और उसने ऐसा ही किया। समदर्शी योगिराज ज्ञान-भूषण जी महाराज ने उसे महाप्रभावक भक्तामर स्तोत्र के २६ वें श्लोक के मंत्र को विधि पूर्वक अनुष्ठान करने की प्रेरणा की। फलस्वरूप उसका शरीर पूर्व वत् सुन्दर गुलाब सा होगया। ठीक वैसा ही जैसा कि श्रेष्ठिवर्य श्रीपाल का श्रीसिद्धचक्र के अनुष्ठान से।

●●●

ग्वाल-बाल का राज्याभिषेक

निर्धन गोपाल दरिद्रता के शिकंजे में भलीभाँति जकड़ चुका था। लगातार तीन वर्ष की फसलें अनाज खाकर निर-केवल भूसा उगल रहीं थीं। साहूकार का सूद मूल-धन से दूना हो रहा था और इधर तीन-तीन अविवाहित लड़कियाँ थीं जो निर्दय-निर्मम साहूकार के सूद से भी अधिक घास-फूस की तरह बढ़ रही थीं। किसानी धंधा जब मँहगा पड़ा तो राजा के यहाँ चरवाहे का काम शुरू किया पर थोड़ी सी आमदनी के कारण हफ्तों उपवास का

पुण्य-लाभ उसे लेना ही पड़ता था। उपवास क्या था ?···'रिपट परे की हरिगंगा' !

धनिक को अपने धन और कृषक को मेघराज पर अटूट विश्वास रहता है, पर बेचारा निर्धन व्यक्ति किस पर अपनी आस्था रखे ? ज्योतिषी, पंडे, पीर, पुरोहित और पुजारी में से प्रत्येक के दरवाजे खटखटाये, उनकी मनौती की तथा शेष धन से भली भाँति आराधना की—अर्चना की; किन्तु उससे दूसरे भव में चाहे जो पुण्य-फल मिले, प्रत्यक्षत: तो कुछ फायदा दिखाई नहीं दिया।

गरीब का विश्वास साधु, संत, महात्मा और सिन्दूर पुते पत्थर के देवी देवताओं पर अधिक होता है। गोपाल ग्वाल भी इन सब की बहुत दिनों तक पूजा-अरचा करने के उपरान्त एक दिन नग्न दिगम्बर समदर्शी मुनि श्री धर्मकीर्ति महाराज के आश्रय में पहुँचा। भक्ति पूर्वक मुनिराज की वैयावृत्ति की तत्पश्चात् निवेदन किया कि "महाराज ! मैं अल्पज्ञ हूँ—अबोध हूँ साथ ही दरिद्रता ने हमारे घर पैर तोड़ कर डटकर आसन जमा लिया है। दयालु मुनिराज ने आशीर्वाद देते हुए धार्मिक उपदेश दिया :—

सततम् जात चिन्ता, बुद्धि-बुद्धि मतामपि।
घृत-लवण तैल तण्डुल, कुटुम्ब भर चिन्तया सततम् ॥

नोन तेल लकड़ी की चिन्ता में गरीब ही नहीं अपितु विद्वान् पुरुष तक अपने ज्ञान को रीते ताक पर रख कर चिन्ता में मशगूल रहा करते हैं। धनी और निर्धन का विश्लेषण उसकी पूर्वोपार्जित कृतियों से किया जाता है। इन कृतियों के परिणाम सम्मुख कभी कर्मठ व्यक्ति का पुरुषत्व भी निस्तेज होकर नैराश्य में बदल जाता है और तब निराश होकर वह इस धर्म की मंजिल की ओर पैर बढ़ाता है।

मुनिराज ने गोपाल को संबोधित करते हुए कहा—कि, "मूलगुणों को धारण करके महाप्रभावक भक्तामर स्तोत्र का निरन्तर पाठ करके दरिद्रता के अभिशाप से मुक्त हो सकते हो।"

गोपाल ग्वाल ने वृक्ष की मूल (जड़) तो अवश्य देखी थी, पर धर्म की मूल और उसके गुणों की उसे कल्पना तक न थी। अतएव समदर्शी दयालु मुनिराज ने समझाया कि निम्न वर्णित वस्तुओं का पालन करना ही मूलगुण है :—

आप्ते पंच नुतिर्जीव, दया सलिल-गालनं।
त्रिमद्यादि निशाहार, उदुम्बराणां च वर्जनं ॥

प्रात:काल गोसली से निबट कर, पशुओं के साथ गोपाल ग्वाल जंगल में गया, और एक स्वच्छ शिलाखंड पर बैठ कर भक्तामर महाकाव्य के ३० वें और ३१ वें श्लोक को पढ़ना आरम्भ किया। यद्यपि वह नेत्र बन्द करके बैठा था, फिर भी बीच-बीच में आंखें खोलकर देख लेता था कि कहीं कोई देवी तो नहीं आगई है। साथ ही घास चरते हुए पशुओं को भी एक दृष्टि से देख लेता था ताकि कोई भाग न जाये—उजाड़ में न पहुँच जाये। सुबह से रटते हुए सायंकाल आगया पर गोपाल ग्वाल को कोई लाभ दृष्टिगोचर न हुआ। इतना अवश्य हुआ कि दो बार उजरा जानवर पशु समूह से विलग होकर बहुत आगे निकल गये। जिनको ढूढ़ने तथा स्वामी की फटकार सुनने का भार अनायास शिर पर आ पड़ा।

पंडे की पेट पूजा और पीर पैगम्बर की भभूत के समान ही भक्तामर मंत्र को समझकर गोपाल स्थिर चित्त से उस पर विश्वास न कर सका। भक्तामर की सस्वर पद्य रचना उसे मोह अवश्य लेती थी और यही कारण था कि वह जब इन श्लोकों को कोकिल कंठ से पढ़ता रहता था—गुनगुनाता रहता था। अन्य ग्वाल वृन्द जहां कल-कल निनादिनी सरिता के तट पर बैठ कर विरह के लोकगीत अलापा करते थे वहां गोपाल ग्वाल अपने बेसुरे गले से भक्तामरस्तोत्र के श्लोक गुनगुनाया करता था।

× × ×

हरीपुर नरेश की मृत्यु के उपरान्त हाकिम लोग आपस में लड़ झगड़ कर राज्य की सत्ता को हथियाने की भरपूर कोशिस कर रहे थे। नगर के सरपंच ने तब मंत्रणा करके राजा का हाथी सजाया और उसे पुष्प माला दी। हाथी द्वारा माला को ग्रहण करने वाला व्यक्ति ही राज्यगद्दी का सर्वतोमान्य उत्तराधिकारी होगा—यह घोषणा भी नगर भर में कर दी गई थी।

घोषणा को सुनते ही नगरवासी हाथी के साथ-साथ चलने लगे। मंदिर में पूजा करने वाले पुजारी हाथी के आगे शिर कर रहे थे। पिता अपने पुत्र और स्त्री को साथ लेकर घर से निकल रहे थे। माताएँ दो-दो महिने के दुधमुहे बच्चों को उठाकर ला रही थीं। इन सब का ख्याल था कि शायद हाथी उन्हें ही माल्यार्पण कर कृतार्थ करे।

सायंकाल गोपाल ग्वाल जंगल से जानवरों सहित लौट रहा था। नगर में भारी कोलाहल सुनकर श्लोक गुनगुनाता हुआ उत्सुकता वश उसी ओर आ पहुँचा तो देखा एक मदोन्मत्त हाथी उसी की ओर दौड़ता हुआ आरहा है।

मुसीबत को निकट जानकर वह 'कुन्दावदातचलचामरचारुशोभं।" तथा "छत्रत्रयं तव विभाति शशाङ्ककान्त।" के गुरु-मंत्र को जोर-जोर से पढ़ने लगा कि तत्काल हाथी ने गोपाल ग्वाल की गर्दन स्पर्श करने की कोशिश की ?···गोपाल गर्दन छुड़ाने को भाग रहा था और हाथी गोपाल के गर्दन में माला डाल रहा था।

इस खींचातानी के बीच सरपंच ने आकर गोपाल ग्वाल को खूब बधाई दी और राजगद्दी के हेतु राजा की घोषणा की।

घूँघट के पट खुलने पर···!

"आँखों के अंधे, नाम नयन सुख।" कहावत चरितार्थ हो रही थी। राजकुमार रतनशेखर की शादी को अभी कुछ ही दिन शेष थे। राजसी वृत्ति के युवक विवाह के लिए तत्पर रहते हैं, और विशेष कर मंगनी के पश्चात् तो विवाह के शुभ दिन का बेचैनी से इन्तजार किया करते है।

रतनशेखर के विवाह का दिन आचुका था। वह कल्पना की उत्ताल तरंगों में बह रहा था कि उसकी भावी पत्नी सम्पूर्ण गुणों से युक्त होगी, उसकी—लचीली कमर, और कामदेव को मात देने वाले नेत्र तो आकर्षक होंगे ही, साथ ही उसका दिव्य कोमल कान्त शरीर—उर्वशी, रम्भा और रेणुका की सुन्दर देह से किसी भाँति कम न होगा। मित्र लोग तो कल्पना की उड़ान में और भी ऊँचे उड़ चुके थे। राजकुमार को संबोधित करते हुए कहते—"रानी तो नृत्य-विशारदा होगी, राज्य कार्य से थके माँदे स्वामी को जब पग-ध्वनि और वीणा की मधुर झंकार से सम्मोहित करेगी तो राजकुमार अपनी थकावट का बहाना भूल कर उसके साथ स्वयं नाचने लगेगा।"

दूसरा सहचर कहता—"भाई! तानसेन की सी तान अपनी प्रियतमा पत्नी के मुख से सुनकर राजपाट न भूल जाईयेगा ?"

तीसरा और भी आगे बढ़ चुका था—बोला—"पुत्र जन्म के समय हम गरीब सहपाठियों को याद कर लीजियेगा।"

× × ×

रत्नशेखर के पिता बड़ी धूमधाम से शादी का इरादा करके आये थे। राजा का वह एकलौता पुत्र जो था। राज्य मंत्रियों को आज्ञा दी गई थी कि वैवाहिक सामग्री आवश्यकता से अधिक रखली जावे। भाट लोग वाद्य-यंत्र बजा रहे थे। वाद्ययंत्रों की सुरीली ध्वनि नगर भर में गूंज रही थी। नर्तकियाँ जनवासे में सामन्तों का मनोरंजन कर रहीं थीं। सुरा और सुंदरी का अपूर्व संगम सुसज्जित मंडप में दृष्टिगोचर हो रहा था,। चारों ओर उल्लास और उमंग का वातावरण था।

हर्षोल्लास के बीच विवाह का कार्य सानन्द सम्पन्न हुआ। वर ने वधू को अग्नि और पंचपरमेश्वरों के समक्ष अर्द्धाङ्गनीरूप में स्वीकार किया। बारात घर लौट चुकी थी। रात्रि के समय राजकुमार रत्नशेखर ने उत्सुकता वश —नवलवधू मदन—सुन्दरी का घूंघट-पट हटा दिया। सोच रहा था वह कि स्वर्ग लोक की अप्सरा के दर्शन करने जा रहा है—पर इधर माजरा ही दूसरा था।

मदन-सुन्दरी को उसका स्वयं का नाम लज्जित कर रहा था। सिर पर बड़े छोटे-छोटे काले भूरे बाल, कम चौड़ा ललाट, चपटी जल स्रोत वत् बहती हुई नाक, अपनी सीमा से बाहर निकले हुए खिडबिड़े दांत, मोटी कमर, पतली जँघायें, बिवाई फटी भद्दी एड़ियाँ, हाथी के समान कड़े सर्वाङ्ग में छितरे हुए रोम, फूली हुई ग्रीवा, और मवाद बहते हुए कान उसकी विरूपता में चार चांद लगा रहे थे, इतने पर भी गलित कुष्ट के धब्बे, खांसी-दमा उसकी दम लिये डालते थे।

राजकुमार रत्नशेखर कुछ क्षण हतप्रभ सा होकर अवाक् रह गया। उसके संजोये हुए सारे स्वप्न एक के बाद एक ढह गये उन्नत ललाट को टटोलते हुए रुँधी हुई आवाज से बोला—देवि! मैंने अग्नि के समक्ष तुम्हें अर्द्धाङ्गनी के रूप में अपनाया है, स्वीकार किया है। अतएव इस रूप में पाकर भी तुम्हारा आजीवन शुभचिन्तक रहूँगा। तुम्हारे शारीरिक कठिन कष्ट को अपने आधे शरीर की पीड़ा जानकर उसे दूर करने का प्रयत्न करूँगा।

राजकुमार के पूंछने पर फटे गले से मदन सुन्दरी ने कहा—"वर्तमान में उसे गलित कुष्ट की संक्रामक बीमारी है। खांसी और दमा उसकी दम लिए डालते हैं।" अत्यन्त दुखी अपने में सिमटी मदनसुन्दरी की इस फटी फटी सी दर्द भरी आवाज को सुनकर रत्नशेखर शय्या-स्थल पर न रह सका और भावों के पंखों पर बैठ कर उड़ता हुआ उस काली अंधेरी रात में एकाकी राज्य की सीमा से दूर, बहुत दूर जा पहुँचा।

× × ×

मुनिश्रेष्ठ श्री धर्मसेन के प्रधान शिष्य रत्नशेखर थे। उनके आत्मिकज्ञान की सुदूर प्रदेशों तक विशेष चर्चा थी। रत्नशेखर को संसार से वास्तविक विरक्ति होगई थी और यही कारण था कि वे धार्मिक क्रिया कलापों को विश्वास ही नहीं गाढ़ श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे। प्रतिदिन वह जैन स्तोत्र पढ़ा करते थे।

एक दिन तपस्वी राजकुमार रत्नशेखर ध्यान मग्न थे तथा महाप्रभावक भक्तामर स्तोत्र के काव्यों को तन्मय हो पढ़ रहे थे। स्तोत्र के ३२-३३वें काव्य को उनकी जिव्हा घंटों दुहरा रही थी कि तभी जैन शासन की अधिष्ठात्री पद्मावती देवी ने प्रकट होकर कहा—कि "वत्स ! तुम्हारी उम्र अभी तपस्या के योग्य नहीं है। तुम्हारे वृद्ध पिता तुम्हारी याद में मृत्यु-शय्या पर अन्तिम श्वांसे गिन रहे हैं और तुम्हारी विदुषी पत्नि मदनसुन्दरी अपने श्वसुर की सेवा में रत रहती है।

राजकुमार रत्नशेखर अपनी पत्नि के विषय में जानने को उत्सुक था। पूंछने लगा—देवि ! मदन सुन्दरी का रोग कैसा है ?

"वत्स !" पद्मावती देवी ने कहा—"जब तुम दो दिन पूर्व भक्तामर स्तोत्र का अखंड पाठ कर रहे थे तब ही उसका कुष्ठ युक्त शरीर दिव्य-स्वर्ण देह में परिणत हो चुका है।"

देवी के अमृत वचन सुनकर राजकुमार रत्नशेखर प्रमुदित मन होकर गुरुदेव के समक्ष गया तथा आशीर्वाद लेकर राजधानी की ओर चल पड़ा।

राजकुमार के राजमहल में प्रवेश करते ही वृद्ध पिता ने उसे गले लगा लिया तथा उनकी विदुषी पत्नी पैरों पर गिर कर आनन्दाश्रुओं से राजकुमार के पांव पखार रही थी।

●●●

......प्रभुता से प्रभु दूर

प्रभुत्व एक महाशक्ति है, जिसके आवरण में व्यक्ति स्वयं को अति उच्च मान बैठता है। राजा भीमसेन बनारस के महाराजाधिराज थे। आस पास के क्षेत्रों में स्थित अन्य छोटे-छोटे जागीरदार उनका लोहा मानते थे तथा खुशामदी-चापलूस उनको हमेशा चारों ओर से घेरे रहते थे।

राजा भीमसेन ने धर्म के विविध सम्प्रदायों का अध्ययन किया था और उनका यही निजी मत था कि वे ऐसा धर्म, संस्थापित करें जिसमें समस्त धर्मों का सत्व शामिल हो। कई विद्वानों ने इस कार्य को अपने हाथ में लिया किन्तु धर्म की यह खिचड़ी वे पका न सके। अन्ततोगत्वा भीमसेन ने ही धर्म के सिद्धान्तों का संकलन किया तथा उनके द्वारा संस्थापित धर्म का पालन प्रत्येक नागरिक को आवश्यक कर दिया गया।

मंदिर, मठ और मस्जिद को छोड़ कर राजमहल के पास वाले 'नवीन धर्म-संस्थापक-देवालय" में जाना जब अनिवार्य होगया तब कई धर्म प्रेमी राज्य छोड़ कर अन्यत्र जा बसे तथा कई शक्तिशाली व्यक्ति शासन के विरुद्ध गुप्त षडयंत्र रचाने लगे। तब राजा भीमसेन ने कुपित होकर मन्दिरों और मस्जिदों को तुड़वा कर उनकी नींव पर अपने देवालय स्थापित करवाना आरम्भ कर दिया।

नवीन धर्मोत्साही इन पैगम्बर महोदय को छह मास के भीतर ही कुष्ट रोग होगया। उनका बलिष्ठ सुन्दर सांचे में ढला शरीर अत्यन्त दुर्बल और घिनावना होगया था। कान्ति कपूर की भांति विलीन होगई थी। अस्थि-चर्म मांस सब सूख गये थे। पटरानी सुदर्शना उनको देखकर डरती थी। भीमसेन की उपस्थिति उसे दुखित प्रतीत होती थी। प्रेमपूर्वक वार्तालाप करने वाली अन्य सभी रानियाँ भी उनकी छाया से बचने लगीं।

भीमसेन की प्रत्येक आज्ञा प्रजा को ईश्वर की आज्ञा के समान मानना पड़ती थी किन्तु इस दुरावस्था में सभी कर्मचारी उनकी अवज्ञा कर रहे थे। नगर निवासी जो धर्म विच्छेदन पर मन ही मन गालियाँ दिया करते थे अब खुश होकर कहते थे कि धर्म पर आघात करने वालों को प्रत्यक्ष फल मिलता है।

× × ×

जगह-जगह वीर-वाणी का प्रचार करते हुए मुनिश्री बुद्धकीर्ति जी महाराज बाराणसी नगरी में आये। राजा भीमसेन उन्हें देखकर मुनिश्री के पादारविन्दों पर लेट गए और अपनी बदकिस्मती---कमनसीबी का कच्चा चिट्ठा कह सुनाया। विवेकी परम सन्तोषी मुनिश्री बुद्धिकीर्ति जी महाराज अपनी दिव्यदृष्टि से कुछ क्षण सोचते रहे—फिर बोले :—

"किसी भी धर्म की निन्दा करना एक महान् दुष्कार्य है, जिसको करने वाला महापाप का भागी होता है। मद से चूर हाथी नागरिकों को हानि पहुँचाता है, किन्तु इसका ध्यान उसे शक्ति हीन अवस्था में आता है। यौवन के भार से उन्मत्त युवक अपनी संचित शक्ति का दुरुपयोग करते हैं किन्तु इसका पश्चाताप उन्हें वृद्धावस्था में होता है। "राजन् ! उसी प्रकार आपने भी सत्ता के मद में आकर धर्मों पर आघात प्रतिघात किया किन्तु इसके दुष्परिणाम पर अब आप दुःखित हो रहे हैं।"

राजा भीमसेन ने कभी स्वयं की निन्दा न सुनी थी और वे विश्वास भी नहीं करते थे कि धर्म निन्दा के फल स्वरूप उन्हें अचानक यह बीमारी हुई है। रुष्ट होकर बोले :—"महाराज ! मैं कारण नहीं पूँछ रहा हूँ। सिर्फ यदि इसका कोई सफल उपचार हो तो बतलाइये ?" बुद्धिकीर्ति मुनिराज को सहसा कुछ याद न आया अतएव साम्यभाव से कहा—कि कल बतलाऊँगा।

राजा भीमसेन ने लगातार तीन दिन तक बड़ी कठिन तपस्या की। मुनिराज द्वारा सिखलाये गये महाप्रभावक भक्तामर स्तोत्र के ३४ और ३५ वें काव्यों का अखंड पाठ किया। और उनके मंत्रों की साधना में ऐसा लवलीन हुआ कि स्वयं जैन शासन की अधिष्ठात्री चक्रेश्वरी देवी ने प्रकट होकर कहा—उठो वत्स ! तुम्हारी मनोकामना सफल होगी। भगवान् आदिनाथ का अभिषेक कर गन्धोदक से शरीर पवित्र करो—कह कर देवी अन्तर्धान होगई।

दूसरे दिन सभी रानियों ने राजा भीमसेन के सुंदर शरीर की आरती उतारी और मंगल गीतों से राज-भवन के कोने को गुँजा दिया।

सुरसुन्दरी से शिवसुन्दरी

गगनचुम्बी अट्टालिका की सातवीं मंजिल पर राजकुमारी सुरसुन्दरी अपनी सखियों के साथ बैठी अठखेलियाँ कर रही थी। बीच-बीच में होने वाले

हास-परिहास और अट्टहास से राह चलने वाले राहगीरों की पैनी नजरें अपने आप ऊपर उठ जातीं और यद्यपि वे अपने गन्तव्य की ओर आगे कदम बढ़ाते, तथापि उनकी आँखें बरबस पीछे ही हटकर स्थिर रहना चाहती हैं। आकर्षण-मोह एवं प्रलोभन ने ही तो इस जीवात्मा के गन्तव्य स्थान—मोक्ष और ऊर्ध्वगमन स्वभाव अर्थात् प्रगति-पथ पर आगे बढ़ने की सत्प्रेरणा को अपनी संकुचित गली में फंसा कर पथभ्रष्ट कर रखा है।

पर्वत की ऊँची चोटी पर बैठे हुए व्यक्ति को धरती पर रेंगने वाले सभी जीव जन्तु क्षुद्र दिखाई देते हैं। और अपना 'अहम्' विराट्। परन्तु उस मूढ़ को पता नहीं कि सारी दुनियाँ को वह भी तो क्षुद्र दिखाई देता होगा? क्वचित् कदाचित् यदि वह चोटी पर से गिर पड़े तो उसके अस्तित्व का ही लोप हो जावे! नामोनिशान भी न मिले। वह यह नहीं सोचता कि धरती वाले कदाचित गिरें भी तो उन्हें कितनी क्षति उठानी पड़ेगी? धरती पर चलने वाले इन गगनचुम्बी अट्टालिका वालों से कहीं लाख गुने अच्छे हैं…।

गुलाबी लावण्य से भरपूर और जवानी के उफनते मद में चूर राजकुमारी के पैर एक तो वैसे ही भूतल-तल पर न पड़ते थे और आज तो फिर वह अपनी सखी सहेलियों और हमजोलियों का केन्द्र बिन्दु बनी हुई अट्टालिका की सातवीं मंजिल पर बैठी हुई इठला रही थी।…जानबूझकर उस मन्दाधा ने पान की पीक वहाँ से बिखरते हुए एक आत्मलीन—आध्यात्मिक निर्ग्रन्थ दिगम्बर साधु पर थूक दी…! पर उनका क्या बिगड़ा? नैतिक पतन तो हुआ सुर सुन्दरी का ही न? जब नैतिक पतन हुआ तो भौतिक पतन के होने में क्या सन्देह? लाड़-प्यार-दुलार और राजसी वैभव में पलीपुसी हसीन राजकुमारियों में अपने हुस्न की वह नजाकत किसी न किसी रूप में विद्यमान रहती है। नाज नखरों में पनपीं हुई ये बालिकाएँ क्या समझें वीतरागता के मूल्य को? भोग से योग का क्या सम्बन्ध?

× × ×

पानी का बुलबुला कब तक अपनी पर्याय पर गर्व करेगा? सौन्दर्य की हाट कितने दिन चलेगी? पुद्गल परमाणुओं से बना हुआ यह घृणित नाशवान् औदारिक शरीर कितने दिन कीमती तेल-फुलेल, स्नो पाऊडर और खुशबूदार लेवण्डरों से अपनी कान्ति को बनाये रख सकेगा? बुढ़ापे की मार से कमर झुक जायगी। पर सुरसुन्दरी की भरी पूरी जवानी में ही बुढ़ापे का यह

बदला देने में दैव ने विलम्ब नहीं किया। "इस हाथ दे उस हाथ ले"। कल की उसकी काली करतूत—उसका दुष्कर्म, आज दुर्भाग्य बनकर उसके आड़े आ ही गया !

भाग्य या कर्म क्या है ? कल की गलती या सही का परिणाम। आगे पुरुषार्थ क्या करता है ! कल की गलती से आज सचेत और विवेकी रहना। परन्तु आज का आदमी इतना प्रत्यक्षवादी, भौतिक और वर्तमान में ही भूला-फूला रहने वाला होगया है कि उसे अपने उस परोक्ष भावी जीवन की खबर नहीं कि उसका अगला कदम अब पतन के ऐसे गड्ढे में गिरने वाला है —जहाँ से उद्धार होना नितान्त कठिन ही नहीं वरन् असंभव भी है। वस्तुत: सब कुछ प्रत्यक्ष यानी वर्तमान, परोक्ष यानी भविष्य (होनहार) पर ही टिका हुआ है। जैनधर्म के कर्म सिद्धान्त का यह रहस्य कितना स्पष्ट है, कितना खुलासा है।

× × ×

कल की रूपवती सुरसुन्दरी आज रुग्ण और कुरूपा थी। दुनिया उसके शरीर को देखकर जितना अधिक नाक भौं सिकोड़ती उतना ही अधिक उसका नाम उसकी मखौल उड़ाने के लिए उस पर अट्टहास करता था। दूसरों पर हँसने वाली आज स्वयं हँसी का पात्र बनी हुई थी। दूसरों पर पान की पीक थूकने वाली पर आज दुनिया थूक रही है—धिक्कार रही है। कर्मों का नाटक यही तो है।

रोग है, तो इलाज भी है। बन्धन है तो मुक्ति भी है। आवश्यकता है, तो केवल प्रयत्न करने की।

राजा [illegible] धारिवाहन ने अपनी इकलौती बेटी के इस दुर्भाग्य का [illegible] से बचाने हेतु कुछ भी उठा नहीं रखा था। समय आने पर संयोग मिल ही जाता है। कर्मरोग से मुक्ति पाने में संयोग (निमित्त) क्या हो सकता है ? 'भेत्तारं कर्म भूभृताम्' निर्ग्रन्थ [illegible] स्वपर कल्याणकारी मुनियों के सिवाय और कौन हो सकता है ? राजा धारिवाहन का साक्षात्कार जब [illegible] जैन तपस्वी से हुआ तो उन्होंने एक घड़ा जल भर कर मंगवाया और महाप्रभावक भक्तामर स्तोत्र का ३६ वाँ काव्य ऋद्धि-मंत्र सहित पढ़ा और राजा को देते हुए कहा—

यह किसी जलाशय में डालना, प्रतिदिन उसी जलाशय में स्नान करने से राजकुमारी आज से ३६ दिन के बाद अपने सुर सुन्दरी नाम को पुनः सार्थक करेगी। परन्तु यह मंत्रित जल मैं तुम्हें इस शर्त पर दे सकता हूँ कि यह अब तुम्हारी ममता न रह कर स्वयं क्षमता एवं समता की अवतारिका बालिका बनेगी—इसकी होनहार इसे सुर सुन्दरी बनाकर ही चुप न रहेगी वरन् इसकी निकट भव्यता तो इसे 'शिव-सुन्दरी' ही बनाने को आमन्त्रण दे रही है।

राजा ने मुनिश्री के चरणों में आत्मसमर्पण करते हुए कहा—महाराज ! ऐसा ही होगा !

और फिर हुआ भी वैसा ही अक्षरशः !!

दिवाली की रात

दौलत के बारे में एक कहावत मशहूर है कि जब वह किसी मनुष्य के पास आती है, तो उसकी पीठ पर एक लात मारती है। जिससे उसका सीना तन जाता है; उसमें अकड़ आ जाती है और दौलत जब उसके पास से जाने लगती है तो दूसरी लात उस तनी हुई छाती पर इतने जोर से लगाती है कि झुक जाती है। दौलत की इन्हीं दो लातों के मारे दो मानवीय वर्ग सदैव से चले आये हैं। एक बिगड़े रईस, दूसरे अकड़े रईस ! ऐसे ही एक बिगड़े रईस अपनी पीली पगड़ी बांधे और तेलियों जैसे वस्त्र पहिने अपने गत वैभव को याद करते तथा जल्दी जल्दी कदम बढ़ाते हुए चले आ रहे थे। व्यापार में होने वाले जबरदस्त घाटे ने उनकी कमर तोड़ दी थी। उसी एक चिन्ता में व्यग्र आशा की भूमिका पर पुनः अपना स्वर्णिम महल बनाने का अरमान लेकर आज पहिली बार उन्होंने करोड़पति सेठ सुदत्त जी की देहली पर पैर रखा और विनम्र अभिवादन कर बैठने ही वाले थे कि सुदत्त जी का सौजन्य एवं शिष्टाचार यों मुखरित हुआ—

"आइये, सेठ जिनदास जी ! विराजिये, बहुत दिनों बाद दर्शन हुये।" मुंह से लगे हुए हुक्के की नली को एक तरफ रख कर तथा गाव तकिया का

सहसा छोड़ कर उन्होंने पान की सुगंधित पीक सोने के पीकदान (उगालदान) में थूकी और पुन: बोले—"कहिये, मेरे योग्य सेवा।"

बिगड़े लखपति जिनदास जी प्रत्युत्तर देते, परन्तु उनका सारा ध्यान तो सोने की पीकदान में ही केंद्रित हो गया था। विवेक की जगह तो आश्चर्य ने ले ली थी। अस्तु लड़खड़ाती जबान से जिनदास जी बोले—"यों···ही···आ···प···के दर्शनार्थ चला आया।···कुछ देर तक दोनों मौन बैठे रहे। बीच-बीच में ताम्बूल और तम्बाखू की पीक उसी पीकदान में सुदत्त जी करते जाते थे। ···यहाँ जिनदास जी के मस्तिष्क में विचार पर विचार आकर टकराते—"लक्ष्मी की उपासना करते-करते मैं तो यहाँ मरा जाता हूँ; उसको प्राप्त करने के लिए खून-पसीना एक करके दुनियाँ भर की दौड़ धूप करता हूँ, फिर भी वह मुझसे रूठ कर दूर भागती है, जब कि यहाँ मोटे गद्दे तकियों पर टिके रहने वाले सेठ जी से थुकवाने में भी उसे लज्जा नहीं आ रही है।···" जिनदास जी की विचार शृङ्खला टूटने वाली न थी, यदि सुदत्त श्रेष्ठि उनके मन के भाव पढ़कर उनका चिन्तन भंग न करते—बोले—"जिनदास जी! संसार का क्रम कुछ उल्टा-पल्टा है, इसलिये हमें उसके साथ व्यवहार भी कुछ उल्टे रूप में करना चाहिए। छाया को आप ज्यों-ज्यों पकड़ने का प्रयत्न करेंगे त्यों-त्यों वह आप से दूर भागेगी। और ज्यों-ज्यों आप उसकी अवहेलना कर उससे दूर भागेंगे त्यों-त्यों वह पैरों में लिपटती फिरेगी।···माया का भी यही हाल है।"

भागती फिरती थी लक्ष्मी जब तलब रखते थे हम।
बे तलब उससे हुए वह बेकरार आने को है॥

बड़े-बड़े चक्रवर्तियों और तीर्थङ्करों ने महा मोह माया को लात मार कर, वैभव से मुख मोड़कर त्याग वृत्ति धारण की तो समवशरण जैसा अकथनीय—अतुलनीय वैभव भी उनके श्रीचरणों में लौटने लगा। देखिये न! इन समदर्शी अभयचन्द्र महामुनिराज ने अपनी विभूति को ठुकराकर जब से वीतराग वृत्ति धारण की तभी से विपुल वैभव के स्वामी राजा महाराजा उनके श्री चरणों में अपना मस्तक रखकर अपने को कृतार्थ मानते है। मनुष्य की अपनी वास्तविक निधि तो स्वयं उसके अपने पास है। आत्म-विस्मृत होकर न जाने क्यों उसने पर पदार्थ जड़ में अपनी मान्यता स्थिर करली है। तीनों लोकों का स्वामी होकर भी न जाने यह जीवात्मा क्यों आज दर दर का भिखारी बन गया है?

सेठ सुदत्त के मुख से चेतना को छू लेने वाला व्याख्यान जब जिनदास जी

ने सुना तो उनकी विवेक की आँखें खुल गईं; और वे वहां से उठकर जाने ही वाले थे कि रुपयों और मोहरों से भरी एक थैली सुदत्त श्रेष्ठि ने उनकी ओर बढ़ाते हुए कहा—"लीजिए, इस रकम से पुनः व्यापार प्रारंभ कीजिये। लाभ-हानि की चिन्ता न कर आप तो काम करने में जुट जाईये। मुझे इस रकम की अधिक चिन्ता नहीं, वह तो कभी भी मिलती रहेगी।"

सुदत्त श्रेष्ठि के सौजन्य की मन ही मन सराहना करते हुए जिनदास ने धन्यवाद देकर वह थैली सहर्ष ग्रहण कर ली और वहां से अपने निवास स्थल की ओर चल पड़े।

× × ×

अपनी राह से जिनदास जा रहे थे कि अकस्मात् सड़क पर सारी मुहरें और रुपये बिखर गए। खन-खन की आवाज से अपार जन समूह एकत्रित हो गया और बात की बात में मुहरें और कल्दार उनके हाथों में चले गए जिनको कि वे बदे थे।

आप सोचेंगे कि आखिर हुआ क्या? क्या थैली में छेद होगया था?··· हां थैली में तो नहीं; किस्मत में छेद अवश्य होगया था। इतना ही इस दुर्घटना के बारे में कहना पर्याप्त होगा। वैसे तो कहने को लोगों को यह कहते भी सुना गया कि यदि केले का छिलका सड़क पर न डाला जाता तो बेचारे सेठ जिनदास जी की यह हालत काहे को होती? सो केले के छिलके का तो निमित्त था। मूल में तो उनके भाग्य में ही मुनाफा न था। अस्तु अब संपत्ति के इस असह्य वियोग से जिनदत्त के परिणाम आकुलित नहीं हुए क्योंकि वे माया प्राप्ति के अपूर्व रहस्य को समझ गए थे, कि वह अगर बदी होगी तो जावेगी कहां? अपना काम कर किये जाना चाहिए। ऐसा सोचकर वे सीधे उसी नगर में स्थित श्री अभयचन्द मुनिराज के चरणों में आ गिरे और उनके उपदेशानुसार उन्होंने दीपावली के दिन महाप्रभावक भक्तामर स्तोत्र के ३७ वें काव्य की उसके मंत्र सहित साधना की, फल स्वरूप जैनशासन की अधिष्ठात्री लक्ष्मीदेवी ने प्रकट होकर एक रत्न-मुद्रिका भेंट की।

अमावस्या की रात्रि को झिलमिल झिलमिल करते असंख्य दीपों की जगमगाहट में सेठ जिनदत्त जी का भवन इतना देदीप्यमान होरहा था··· कि कौशाम्बी नगरी में उससे होड़ लेने वाला मकान मानो है ही नहीं।

उनकी कृपा से

एक साधारण सा तुच्छ कुत्ता भी जब उन्माद के वशीभूत होकर नगर भर में उत्पात मचा देता है; जिसके भयङ्कर आतङ्क से हर घर के दरवाजे बन्द हो जाते हैं और बाहर निकलना मानो अपने प्राणों से हाथ धोना होता है, तब यदि ऐसा ही कोई मदोन्मत्त हाथी निरंकुश होकर उत्पात करना प्रारम्भ करदे तो फिर किसी जनाकीर्ण नगर को जिस भयावने संकट का सामना करना पड़ता है, वह डरावना दृश्य आज हमें आधुनिक नगरों या शहरों में देखने में प्राय: आता ही नहीं। क्योंकि आज इन जंगली जानवरों की संख्या एक तो वैसे ही प्राकृतिक रूप से घट रही है, दूसरे इनकी जगह युद्धों में आज सहस्रों मिलिट्री, अणु और उदजन बम आदि ने ले ली है। क्योंकि ऐतिहासिक युग में राजा-महाराजा इनका उपयोग चतुरङ्गिणी सेनाओं में शत्रुओं को कुचलने के लिए करते थे। शराब पिलाकर उन्हें मदोन्मत्त किया जाता था। फल स्वरूप दोनों दूनी ताकत से वे अपने शत्रुओं को पैरों तले रौंदते थे। कभी-कभी पागल होकर वे अपने ही पक्ष के योद्धाओं का सफाया कर देते थे। ···फिर इन्हें वश में करना जरा टेढ़ी खीर होता है। जो बड़े वृक्षों को जड़ समेत उखाड़ कर फेंक रहा हो, अपनी विकराल चिंघाड़ों से जो आसमान सिर पर उठाये फिर रहा हो, जिसके चंचल कपोलों से मद चू रहा हो, लाशों से जिसने धरती पाट दी हो ऐसे मदोन्मत्त हाथी के सामने जाकर कौन है ऐसा जो अपनी जान हथेली पर रख कर उसे वश में लाने की हिम्मत करे? कौन है ऐसा अपने प्राणों का वैरी? ···परन्तु जिस प्रकार सपेरे लोग एक जहरीले काले नाग को भी मंत्र मुग्ध कर लेते हैं—वैसे ही—

श्च्योतन्मदाविलविलोल-कपोल-मूल-
मत्त-भ्रमद्-भ्रमर-नाद-विवृद्ध-कोपम्।
ऐरावताभ - मिभ - मुद्धत-मापतन्तं,
दृष्ट्वा भयं भवति नो भवदाश्रितानाम् ॥३८

का कर्णप्रिय नाद सुनकर एक ऐसे ही पागल उन्मत्त हाथी ने सोमदत्त के सामने अपना आत्म समर्पण कर दिया था।

सुखानन्दकुमार वीरपुर नरेश सोमदत्त का एक कलंकी पुत्र था। वह ऐसा कपूत पुत्र था—जिसने दुराचार में पड़कर न केवल अपना ही सत्यानाश किया

बल्कि अपने पिता के साम्राज्य को भी तीन तेरह करके उन्हें दर-दर का भिखारी बना दिया। कपूत पुत्र के कारण सोमदत्त बहुत ही चिन्तित थे—उन्होंने बीरपुर का परित्याग कर दिया और हस्तिनापुर आ पहुँचे वहाँ रहकर उन्होंने न केवल अपने ही साम्राज्य को वापिस पाया बल्कि अनिंद्य सुन्दरी राजकुमारी मनोरमा के परिणय के साथ दहेज में विजय नगर का राज्य भी हस्तगत किया; परन्तु यह सब हुआ किसकी अनुकम्पा से ?—दयाधाम वर्द्धमान मुनि की दया से ही। जिन्होंने कि उसे महाप्रभावक भक्तामर स्तोत्र का उपरोक्त ३८ वाँ काव्य मंत्र ऋद्धि सहित सिखला दिया था और जो कि उसके दुर्दिनों में आड़े वक्त काम आया।

वास्तव में यह काव्य है भी हाथी के वशीकरण का एक मात्र अस्त्र। जंगली खूंख्वार और निरंकुश पशु तो इस काव्य की ऋद्धि मंत्र मंत्र समेत अपने से वश मे होते ही हैं, परन्तु साम्राज्यवाद की लिप्सा में आज जिन नर-पशुओं ने अपनी बर्बरता और खूंख्वारपन का परिचय दे रखा है। उन्हें भी यह मंत्र अनोखा सबक सिखाने में सफल सिद्ध होगा।

मंत्र-शक्ति

सरकसों में कौशल के जितने भी कार्य दिखाये जाते हैं, उनमें सब से अधिक जोखिम का दृश्य होता है—सिंहों-बब्बरी शेरों-चीतों और बाघों के बीच रह कर उन पर कठोर नियंत्रण रखना यह कार्य जहाँ एक ओर मानव के अदम्य साहस का द्योतक है, वहाँ दूसरी ओर प्राणि जगत में उसे सर्वशक्तिमान भी घोषित करता है। प्रकृति पर विजय पाने के लिए मनुष्य ने अभी तक जितने भी कदम सफलता की मंजिल की ओर बढ़ाये हैं वे सब भौतिकता को लक्ष्य करके ही उठाये गये हैं। और यही कारण है कि उसकी चेतना की पुकार—उसकी आत्मा का तकाजा अभी भी उसे ऐसा कुछ करने के लिये आह्वान करता हैं, जिससे इनके पुद्गल कृत चमत्कारों की चकाचौंध से बचकर आध्यात्मिकता के अलौकिक आलोक का दर्शन कर सकें।

सरकस का खेल देखते समय हम दाँतों तले अँगुली दबाना तो जानते है, पर क्या कभी यह भी सोचा है कि सफलता का क्या रहस्य है ? बर्बर-खूंख्वार शेरों के साथ खिलवाड़ करना क्या अपने जीवन से खिलवाड़ करना नहीं है ? गंभीरता पूर्वक मनन करने से ज्ञात होगा कि बचपन से ही इन जंगली जानवरों पर निरन्तर ऐसे संस्कार डाले जाते हैं कि वे एकदम मानवीय नियत्रण में आजाते हैं और फिर उन्हें मनचाहा प्रशिक्षण देकर जड़ जनता को विमोहित किया जा सकता है। कोमल शाखा को जैसा चाहो वैसा मोड दो पर कठोर शुष्क सख्त काठ को नहीं !

तंत्र विद्या क्या है ? दूसरों को जड़ बनाने के लिए स्वयं चैतन्य बनकर उनके समस्त शासन तंत्र-उनकी सारी बागडोर अपने हाथ में ले लेना। और कठपुतलियों की भाँति उस जड़ीभूत जनता को मनमाने रूप से अंगुलियों पर नचाना—यही सब तंत्र विद्या है।···परन्तु मंत्र-विद्या का सम्बन्ध चेतना से रहता है। तुम्हारे मंत्रों के शब्दों में यदि किंचित् भी चेतना की पुट है, तो अवश्य ही सफलता तुम्हारे चरण चूमेगी।

"अहिंसा प्रतिष्ठायाम् तत्सन्निधौ वैरत्याग:"

यह महर्षि पातंजलि का एक सूत्र है। उसके अनुसार उन्होंने सिद्ध किया है कि हिंसक जीव भी अपने परस्पर के वैर-विरोध को भूल कर उसमें शांति की श्वांस लेते हैं।

भगवान महावीर, महात्मा बुद्ध आदि अनेक महान् योगियों के तपस्या काल में सिंह और बकरी एक घाट पानी पीते थे। आधुनिक सरकसों की भाँति उस विद्युत हंटर के आतङ्क से बर्बर सिंहों पर नियंत्रण नहीं किया जाता था, बरन् अहिंसा के परमाणुओं में हिंसक से हिंसक—निर्दय से निर्दय जीवों के परिवर्तित करने की अनुपम शक्ति होती थी।

आज से लगभग 100 वर्ष पूर्व की सत्य घटना है। राजस्थान में दीवान अमरचन्द जी का नाम आज भी बड़े गौरव के साथ लिया जाता है। क्यों ? इसलिए कि एक बार उनके कुछ ईर्ष्यालु सहयोगियों ने राजा से चुगली की कि दीवान अमरचन्द जी अहिंसा धर्म की बड़ी डींग हांका करते हैं और कहते हैं कि अहिंसक के सामने शेर भी कूकर जैसा आचरण करने लगता है। क्यों न उनकी परीक्षा ली जाय ? निदान वे शेर के कठघरे में नि:शस्त्र अकेले छोड़ दिये गये। दीवान अमरचन्द की अहिंसा पर दृढ़ आस्था थी। सिंह के कठघरे में प्रवेश करने के पूर्व उन्होंने ताजी गरम जलेबियों का एक थाल अपने साथ ले लिया था। वे दहाड़ते हुए शेर के सामने पहुंचे और उससे मानवीय भाषा में बोले :—

"स्वयमेव मृगेन्द्रता के साक्षात प्रतीक ! तुम एक आदतन मांसाहारी जीव हो, परन्तु क्या तुम्हारा पेट केवल ताजे मांस से ही भरा जा सकता है ? अन्य शाकाहारियों की तरह दूसरी खाद्य वस्तुओं से नहीं ?···जरा अपनी लोलुपता को कम करो, अपनी दृष्टि बदलो और आत्म-कल्याण करो।"

दीवान अमरचन्द के ये चेतन स्फूर्त शब्द कुछ ऐसी करुण भाषा में कहे गये थे कि बर्बर सिंह की आंखों से टप-टप आंसू गिरने लगे और उसी भावुकता में उसने थाल की जलेबियां खाकर अपना पेट भर लिया। इस अहिंसा के अलौकिक चमत्कार को देखकर सभी दंग रह गये। तो क्या दीवान अमरचन्द जी के इन शब्दों में कोई मंत्र की महाशक्ति थी या उन्हें सिंह के वशीकरण का कोई मंत्र याद था ?···नहीं, कोई भी शब्द यदि उन्होंने थोड़ा भी करुणा अहिंसा आदि तत्त्वों को छुआ है और उनमें किंचित् भी यदि चेतना की पुट है तो वही शब्द मंत्र का रूप धारण कर लेते हैं।

श्रीमन्मानतुंगाचार्य के इस ३९ वें काव्य के पीछे उनकी कुछ ऐसी दीर्घ साधना है कि उपर्युक्त काव्य के शब्दों में आज भी वह चेतनता विद्यमान है और सिंहादिक हिंसक पशुओं को बातों ही बातों में वश में किया जा सकता है। जैसा कि श्रीपुर नगर के सेठ देवराज जी ने इस काव्य को ऋद्धि मंत्र सहित सिद्ध कर लाभ उठाया।

व्यापार को जाते समय सेठ जी के सम्मुख दहाड़ता गुर्राता शेर आया तो उन्होंने महाप्रभावक भक्तामर स्तोत्र के ३९वें काव्य व उसके मंत्र का आराधन विधि पूर्वक किया और सफलता प्राप्त की।

जंगल की आग

देखते ही देखते करोड़ों की संपत्ति स्वाहा हो गई। प्रचण्ड अग्नि की लपलपाती हुई जिह्वा ने क्षण मात्र में लक्ष्मीधर जी की समस्त विभूति राख में परिणत कर दी। डेरे में जितने भी तम्बू लगे थे—सब के सब अग्नि देवता की भेंट चढ़ गये। माल-असबाब से लदी हुई बैलगाड़ियां उस दावानल

में होम हो चुकीं। गनीमत रही कि किसी चर प्राणी की आहुति उसकी बलिवेदी पर न चढ़ पाई।

चारों ओर जोर शोर का कोलाहल मच गया।" पानी लाओ— पानी लाओ" चिल्लाने वालों की संख्या जितनी ही अधिक थी, लाने वालों की संख्या उतनी ही कम थी। सेठ लक्ष्मीधर के सहयोगी व्यापारी बन्धु मानो घर फूंक तमाशा देख रहे थे। उनकी तो जैसे अक्ल में गोदरेज का ताला ही लग गया था। अग्नि को बुझाने के लिये डाला गया पानी भी उस समय घी का काम कर रहा था। ज्यों-ज्यों वह डाला जाता त्यों-त्यों उसकी लपटें और अधिक भभकती तथा आकाश को छूने की होड़ लगातीं।

अग्नि-शामक यंत्र तो उस समय थे नहीं कि गैस छोड़ कर बात की बात में अग्नि की विकरालता को समाप्त किया जाता। हां अग्नि-शामक मंत्र जरूर था उस जमाने में। आस्तिक एवं श्रद्धालु लोग उसी का सहारा लेकर प्रकृति के इस रुद्र रूप पर विजय प्राप्त करते थे। जब सती सीता की सतीत्व परीक्षा के लिए रचाया गया अग्निकुंड जैनधर्म के प्रभाव से एक लहराता हुआ सरोवर बन सकता है, तो कोई कारण नहीं कि जैनधर्म श्रद्धालु सेठ लक्ष्मीधर जी उसे शान्त करने में सफल न होते। उन्होंने अपने अमूल्य जीवन में विषय-वासनाओं की होली जलाकर न जाने कितने पापों को भस्म किया था। वे धीरता पूर्वक इस होली काण्ड को उसी तरह देखते रहे जिस प्रकार कि जिनेन्द्र भगवान अष्ट कर्मों का ईंधन बना कर उन्हें अपनी आंखों भस्मीभूत होते देखते हैं।

सेठ लक्ष्मीधर जी इस विकट संकट काल में किंचित भी न घबराए। वे सोचते कि :—अशुभ कर्मोदय से क्या नहीं होता ?···रावण की तो सोने की लंका ही जल कर राख होगई थी; फिर मेरी संपत्ति तो किस गिनती में है ? निदान वे एकाग्रचित से ऋद्धि और मंत्र सहित "कल्पान्तकाल पवनोद्धत-वन्हिकल्पं···।" का पाठ मधुर स्वर में जोर-जोर से करने लगे। आस-पास के लोग सेठ जी का यह कृत्य देखकर उन पर कस-कस कर पानी के छींटे मारते हुये दांत निकाल कर विद्रूप हँसी हँसती हुये कह रहे थे—सेठ जी !! कुछ पानी का प्रबन्ध करो। भक्ति-भावना यहाँ काम आने वाली नहीं है। आग लगने पर कुँआ खोदना ही बेकार है। सेठ जी उन्हें सीधा-सादा सा उत्तर देकर अपनी साधना में तल्लीन हो जाते !

× × ×

सरकारी संविधान में देर-अंधेर चाहे भले ही हो, परन्तु विधाता के विधान में विलम्ब नहीं। यहाँ धर्म श्रद्धालु सेठ लक्ष्मीधर जी ने महाप्रभावक भक्तामर जी के ४० वें काव्य का ऋद्धि-मंत्र सहित जाप्य किया कि वहाँ जैन शासन की अधिष्ठातृ चक्रेश्वरी देवी हाथ जोड़े सामने खड़ी थी। अब जरा सरकारी संविधान के अनुसार चलने वाली व्यवस्था पर एक नजर डालिये।

एक बार किसी सरकारी इमारत में अकस्मात् आग लग गई। उसे बुझाने का प्रयत्न करने के बजाय वहाँ के अधिकारियों ने अग्निशामक विभाग के पास कागजी घोड़े दौड़ाने प्रारम्भ किये कि अमुक भवन में आग लग गई है; अविलम्ब उसे बुझाने का प्रबन्ध किया जावे। सो लीजिये पाठक गण! कोई ६ महीने के बाद उस विभाग से उत्तर आता है कि उसे शीघ्र बुझा दिया जाय।

बस यही हाल आज हमारा है। हम थोथे प्रयत्न तो बहुत करते हैं, परन्तु चेतना से सम्बन्ध रखने वाले सारभूत प्रयत्नों से सदैव दूर भागते हैं। अस्तु, हमें पुनः अपने प्रसंग पर आजाना चाहिए। पाठक वृन्द कदाचित् बहुत देर से इन प्रश्नों को अपने में संजोये हुए होंगे कि यह लक्ष्मीधर कौन थे ? आग कैसे लगी ? कहाँ पर लगी ? आदि ! तो सबका समाधान निम्न पंक्तियों से हो जावेगा।

× × ×

लक्ष्मीधर जी पोदनपुर के एक धनिक श्रेष्ठी थे। दीपावली के दिन शुभ बेला में व्यापर के निमित्त अपने कई साथियों के साथ उन्होंने सिंहलद्वीप की ओर प्रस्थान किया। रास्ते में एक जगह डेरे डाले गये। संध्या के समय सेठ जी ने सोचा कि आज त्यौहार का पवित्र दिन है। लक्ष्मी पूजन कर ली जावे तो ठीक रहे। यह सोच कर उन्होंने भौतिक लक्ष्मी की उपासना करने के लिए आरती का एक दीपक जलाया। भौतिक लक्ष्मी की चकाचौंध में वे भूल गए कि दीपावली का त्यौहार इस भौतिक लक्ष्मी की पूजन का दिन नहीं वरन् मोक्ष लक्ष्मी को प्राप्त करने का है। श्री भगवान् महावीर स्वामी की पूजा का पावन दिवस। सेठ जी भौतिक लक्ष्मी की पूजन-अर्चन के बाद सो गये। एक घन्टे के बाद शोरगुल से उनकी आंख खुल गई— तब वे देखते क्या हैं, कि आज की दीवाली तब तक होली में परिणत हो चुकी थी।

जैन शासन की अधिष्ठातृ चक्रेश्वरी देवी ने जिन प्रतिमा का न्हवन जल (गंधोदक) लाकर सेठ जी को दिया। वह जहाँ सींचा गया, पावक तत्काल शीतल होती गई—शान्त होती गई।

भगवान् महावीर स्वामी की जय-जयकार से सारा जंगल गूंज उठा।

●●●

तत्काल ही वह नाग हुआ रत्न की माला

धर्म और सदाचार की नेमि पर आधारित चक्र-युगल ही गृहस्थ जीवन के रथ को प्रगति पथ पर द्रुतगति से संचालित कर गन्तव्य स्थान तक सफलता पूर्वक पहुँचा सकते हैं। यदि दोनों पहियों में समान गति अथवा यति है, समान ही आकार-प्रकार एवं सौष्ठव है तो पथ कितना ही ऊबड़-खाबड़, पथरीला क्यों न हो, मंद अथवा तीव्रगति से गृहस्थ जीवन का यह रथ अपने पथ पर बेरोकटोक आगे बढ़ता ही जावेगा। परन्तु यदि किसी चक्र में ही विषमता या असमानता है तो समझिये वहीं गत्यवरोध होगया।

गार्हस्थिक जीवन-रथ के ये चक्र युगल पति और पत्नी है। इनमे समान गति-यति-मति और रति गुणों का होना उतना ही आवश्यक है जितना कि हवा और पानी किसी भी प्राणी को। दम्पत्ति में परस्पर निश्चय और व्यवहार अथवा निमित्त और उपादान जैसा अविनाभावी सम्बन्ध अनिवार्य है।

सेठ सुदत्त जी के गार्हस्थिक जीवन की गाड़ी चूं चरर-मरर करती हुई आगे येन-केन प्रकारेण बढ़ रही थी—ढिकल रही थी। ढिकल क्या रही थी? कभी एक चक्र चलता था तो दूसरा गति हीन हो जाता; कभी-कभी तो गाड़ी टूट जाने का सन्देह होने लगता था। इसका एक कारण तो यह था कि पत्नि की दैनिक चर्या यदि जैन धर्मानुमोदित थी तो पति महोदय की उससे सर्वथा विपरीत। पति को यदि रात्रि का भोजन होना तो पत्नी को उसका प्रबल विरोध प्रकट करना। स्वभावतः आये दिन तू-तू—मैं-मैं होती ही रहती और दम्पत्ति के मन एक दूसरे से ३६ का रूप धारण कर लेते थे। सप्ताह में अधिक से अधिक तीन दिन चूल्हा सुलगता, चार दिन तो अनशन में ही व्यतीत होते थे। संभवतः इस अकाम निर्जरा में वे दाम्पत्य आनन्द के अतिरिक्त किसी अन्य अलौकिक आनन्द की प्रतीक्षा मे रहते थे।···चूंकि पत्नि-सुपत्नी थी—पतिव्रता थी—सदाचारिणी थी—पति परायणा थी और थी सर्व गुण सम्पन्ना। इसीलिए वह अपने पति को सन्मार्ग पर लाने के लिए सदा प्रयत्नशील रहती थी। अतएव उसे दोष देना अन्याय होगा। क्योंकि उसने धर्म और सत्य की सुरक्षा के लिए ही गृहस्थी में बगावत का झंडा खड़ा कर दिया था। पति को सन्मार्ग पर लाने वाली कितनी स्त्रियां ऐसा साहस करती हैं? भले ही गृह-कलह प्रतिदिन उसी को लेकर होती हो और उसकी सास इस कलह की आग को भड़काने में घी का काम करती हो, परन्तु तो भी वह

एक आदर्श सच्चरित्रा और पतिव्रता थी।

सासुओं का स्वभाव प्रायः वधू पर शासन करने का रहता है। भारतीय परम्परा में उन्हें यह शिक्षा वरदान स्वरूप विरासत में मिली प्रतीत होती है। सासुएँ जब स्वयं वधुओं के रूप में होती थीं तो वे देखती रहतीं थीं, कि किस प्रकार बहू पर शासन करना, उससे अपनी सेवा सुश्रूषा करवाना, किस प्रकार झूठे सच्चे रूप से अपने लड़के के कान भरकर अपना स्वार्थ सिद्ध करना। सासुओं को भय होता है कि कहीं लड़के का अगाध प्रेम पत्नि पर इतना तीव्र से तीव्रतर न हो जाय कि मेरा अधिकार ही उस पर से उठ जावे। अपना अधिकार और शासन जताने के लिए ही सास अपनी बहू पर बुरे से बुरा अत्याचार करने में भी नहीं चूकतीं। वास्तव में इनका खरा-खोटा वर्णन करने के लिए तो एक स्वतंत्र 'सासु-पुराण' ही चाहिए। इस कथा प्रसंग में तो यह बताना ही प्रसंगानुकूल है कि वधू के विरोध में उसकी सास तथा पति ने क्या षडयंत्र रचा था और महाप्रभावक श्री भक्तामर स्तोत्र के ४१ वें काव्य से वह किस प्रकार विफल हुआ।

× × ×

सुसज्जित शयन-कक्ष के मध्य एक पलंग रखा हुआ है। उस पर सेठ सुदत्त अपनी अर्द्धाङ्गिनी दृढ़व्रता सहित आसीन हैं। अपेक्षाकृत आज पति की ओर से मोह और प्रेम की कृत्रिमता अधिक थी—मानो वे अपनी इस प्रेयसी पर आज सब कुछ न्योछावर कर देने को तत्पर हों।·· परन्तु सच पूँछा जावे तो उनके मन की कुटिलता पर वाचनिक एवं कायिक मधुरता का पालिश मात्र था।

"मनस्यन्यद् वचस्यन्यद् कर्मण्यन्द्दुरात्मनाम्।" के अनुसार मानो साक्षात् "विष-रस भरा कनक-घट जैसे" का पार्ट अदा कर रहे थे।···इन दोनों पात्रों के अतिरिक्त उस शयन-कक्ष में इनकी इस नाट्य लीला को देखने वाला अन्य कोई दर्शक नहीं था। हाँ, एक स्वर्ण-कलश विविधि रंग की पुष्प मालाओं, श्रीफल एवं मङ्गल पत्रों से विभूषित साक्षी स्वरूप वहाँ अवश्य रखा हुआ था। यद्यपि वह घट किसी सुनिश्चत योजनाबद्ध षडयत्र को आधार बनाकर स्थापित किया गया था तथा सत् की सुरक्षा के लिए वह अपने सम्पर्क में दृढ़व्रता जैसा उपादान पाकर एक अपूर्व निमित्त सिद्ध हुआ।···बातों ही बातों में सेठ सुदत्तकुमार स्वर्ण कुंभ की ओर इंगित कर बोले—

"प्रिये! हमारा तुम्हारा प्रेम गंगा-जल सा निर्मल और पवित्र है। वास्तव में तुम्हारे जिनेन्द्र प्रभु की आराधना से मैं बहुत अधिक प्रभावित हुआ

हूँ।···चाहता हूँ कि आज ही अपने पैतृक धर्म का परित्याग कर मैं अर्हत् धर्म अङ्गीकार करलूं।···फल स्वरूप आज मैं तुम्हें अपना दीक्षा गुरु बनाने जा रहा हूँ और उसी के उपलक्ष्य में मैं तुम्हारे लिए जो अमूल्य रत्न जटित उपहार लाया हूँ वह उस स्वर्ण-कुम्भ में सुरक्षित है। आशा है तुम निःसंकोच इसे अपने कंठ में धारण कर मेरे नेत्र युगलों को तृप्त करोगी।"

"पतिदेव की आज्ञा शिरोधार्य है।"—कहती हुई दृढ़व्रता बड़े ही आत्म-विश्वास के साथ उस स्वर्ण-कलश के पास पहुँची और उसमें से रत्नजटित स्वर्णहार निकाल कर पति के समीप लाते हुए बोली :—मेरे हृदयेश्वर ! यह अनुपम हार मेरे कण्ठ की शोभा नहीं बढ़ा सकता यह अमूल्य हार तो आप के ही विस्तृत वक्षःस्थल पर लहराते हुए देखना चाहती हूँ; क्योंकि अपने पति परमेश्वर में मेरी श्रद्धा-मेरी आस्था आज इसलिए द्विगुणित होकर उल्लास मयी हो रही है कि आज मेरे सर्वस्व आर्हत् धर्म अङ्गीकार करने जा रहे हैं।" कहते हुए उस हार को दृढ़व्रता ने अत्यन्त आदर भाव से सुदत्तकुमार के गले में पहिना दिया और यह देखने के लिए कि हार कैसा लगता है—एक कदम पीछे हटी, परन्तु देखा तो हार की जगह काला-नाग गले में लहरा रहा था।

कुछ क्षणों के उपरान्त सेठ सुदत्तकुमार जी पलंग पर मूर्छित पड़े थे और उनके चारों ओर तांत्रिकों-झाड़ने-फूंकने वालों का जमघट लगा था। सास अपनी वधू को पानी पी-पी कर कोस रही थी कि इस डायन कलमुँही की भूख आज अपने ही पति का भक्षण कर शान्त हुई है। यहाँ पति की यह अवस्था देख दृढ़व्रता एकाग्रचित हो भक्तामर स्तोत्र के ४१ वें श्लोक—

रक्तेक्षणं समद कोकिल कण्ठ नील···का पाठ बार-बार दुहरा रही थी। वह ४१ वें काव्य के मंत्र साधन में ऐसी तल्लीन थी कि सास के विष बुझे बाणों का उसके कानों में कोई असर नहीं हो रहा था।

एकाएक जैन शासन की अधिष्ठात्री पद्मा नाम की देवी ने प्रकट होकर कहा—"दृढव्रते ! आंखे खोलो और उस कुम्भ के जल को पतिदेव के शरीर पर छिड़को"—इतना कहकर वह अन्तर्धान होगई।

दृढ़व्रता ने उस स्वर्ण कलश में भरे हुए जल को पतिदेव पर छिड़का तो सुदत्त ऐसे उठ बैठा जैसे सोकर उठा हो। नागों को वश में करने वाले सँपेरों और विषधर का विष उतारने वाले तांत्रिकों ने जब यह चमत्कार देखा तो दंग रह गये और उनके मुख से बार-बार ये शब्द निकल रहे थे—

जो तोकू कांटा बुवे, ताहि बोऊ तू फूल।
तोहि फूल के फूल हैं, वाको हैं तिरसूल॥

इतिहास अपने को दुहराता है

मनुष्य को कभी भी कान का कच्चा नहीं होना चाहिए। प्रत्येक परिस्थिति को अपनी विवेक-तुला पर तौल कर ही अपने कर्तव्य स्थिर करना चाहिए। बुन्देलखण्ड में एक कहावत प्रसिद्ध है कि, "सुनने वाला सावधान हो तो कान भरने वाले का जादू टोना छूमन्तर हो जाता है।"···आये दिन हमारे पारिवारिक गृहस्थ जीवन में "तू-तू-मैं-मैं हुआ करती है। कारण की तली तक पहुँचा जावे तो इन काण्डों की निर्मात्री स्त्रियां ही सर्वत्र दृष्टिगोचर होती हैं। अपने पति देवताओं के कान में न जाने वे क्या जादू फूंकती हैं—कि सहोदर भाई भी जो कल तक परस्पर गले मिलते थे—आज कहो तो वे एक दूसरे के खून के प्यासे हो जावें। परन्तु यह सब कब होता है ? जब कि पति विवेकी नहीं है उसमें स्वयं की अपनी कुछ अक्ल नहीं है।

× × ×

बीते युग की बात है।

गुणवर्मा ने देवालय से आकर महल की संगमरमर जड़ित देहली पर पग रखा ही था कि बड़े भाई मा० ने लाल लाल अँगारे सी आँखें निकालीं और ओर से चिल्ला कर कहा :—खबरदार ! जो देहली पर पैर रखा। रे मूर्ख ! तू मुझ जैसे राजा के भाई होने के योग्य कदापि नहीं ?···मैं, तेरा मुँह देखना भी पाप समझता हूँ।···चला जा उलटे पैरों यहाँ से; अन्यथा याद रख; कर्मचारियों से तेरी दुर्दशा कराई जावेगी······।"

परिस्थिति से अनजान अपने में लीन बेचारा गुणवर्मा अपने अग्रज की यह कठोर आज्ञा सुनकर क्षण भर तो अवाक् रहा। परन्तु बाद में उसे ध्यान आया कि यह केवल अग्रज की नहीं वरन् राजाज्ञा है। वह राजाज्ञा जिसे सेना और सम्पत्ति एवं राजकीय वैभव का अहंभाव है—अभिमान है। सच है—

"प्रभुता पाय काहि मद नाहीं ?"

शासन करने वालों में—सत्ताधीशों में, स्वाभावतः-घमंड आ ही जाता है और उसको—उसके मद को चूर करने के लिए कुछ ऐसी विभूतियों की आवश्यकता युग के लिए बनी ही रहती हैं। ये विभूतियां अपने सुखों को लात मार कर अपने भोगों की होली को जलाकर "परोपकाराय सतां—विभूतयः" का पाठ जगत को निरन्तर सुनाती रहती हैं। ऐसे ही महा पुरुषों से सन्मार्ग

प्रशस्त होता है। निज कल्याण के साथ-साथ कोटि-कोटि जनता का भी महान् उपकार होता है।

× × ×

भरत ने बाहुबील के साथ जो किया, रावण ने विभीषण के साथ जो किया—वही सब कुछ मथुरा नरेश रणकेतु ने अपनी विवेक की आंखें बन्द कर अपनी प्रेयसी रानी के कहने में आकर अपने लघु भ्राता गुणवर्मा को आखिर देश निकाला दे ही दिया।···

कितना करुण दृश्य होगा वह जब कि एक भोला भाला युवराज जिसने कि राजनीति में अभी प्रवेश ही न किया हो, शास्त्र स्वाध्याय, पठन-पाठन ही जिसकी दिन चर्या हो, सत्संगति ही जिसके जीवन का आधार हो, भगवत् भजन से ही जिसे केवल प्यार हो :···और फिर उसके भोलेपन पर छल-प्रपंचों की या कूटनीति की माया का जादू डाला जावे !! ··पर दुनियां में ऐसों का समर्थन करने वाले कितने मिलते हैं ?

सबहि सहायक सबल के, कोऊ न निबल सहाय।
पवन जगावत आग को, दीपहि देत बुझाय॥

किसकी खोपड़ी फालतू है जो सत्य रक्षा के पक्ष में बोल कर बैठे बिठाये झगड़ा मोल ले। परन्तु जो मानवता के मूल्य को समझते हैं वे सदैव ऐसों का ही पक्ष लेते हैं। अस्तु प्रमुख राज्य मंत्री ने लाख समझाया पर "विनाश काले विपरीत बुद्धि" हो ही जाती है; फिर समझ में आवे तो आवे कैसे ?

"या गतिः सा मतिः।"

× × ×

लौकिक कथाओं में प्रसिद्ध है कि सुग्रीव ने बाल। से और विभीषण ने रावण से बदला लेने के लिए श्री रामचन्द्र जी का आश्रय लिया था। पर सदाचारी गुणवर्मा का हृदय चूंकि अत्यन्त विशाल और पवित्र था इसलिए उसने अपमान के हलाहल को पीकर भी चूं तक नहीं की। बाहुबली के समान उसने भी इस परिस्थिति को अपने वैराग्य का कारण माना···। देखा गया है कि कामना करके यदि साधना होती है, तो उसमें ऋद्धि-सिद्धियाँ दूर भागती हैं और निष्काम होकर कोई साधना की जाती है तो ऋद्धि-सिद्धियां अपने द्विगुणित प्रभाव समेत आकर हाथ जोड़े सामने खड़ी रहती है। यही तो गीता का निष्काम कर्मयोग है कि

"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन् ।"

यद्यपि गुणवर्मा के दयालु हृदय में बदले की दुर्भावना किंचित् भी न थी; तो भी दैव को तो अपना प्रयोजन इन्हें निमित्त बनाकर सिद्ध करना ही था। इसलिए एक दिन जब गुणवर्मा महाप्रभावक श्री भक्तामर स्तोत्र के ४२-४३वें काव्यों का ऋद्धि मंत्र सहित आराधन कर रहे थे कि साक्षात् रणचण्डी सेनाध्यक्ष के वेष में अपनी चतुरङ्गिणी सेना का नेतृत्व करती हुई उन्हें शुभ संवाद सुना रही थी—

"स्वामिन् रणकेतु रणाङ्गण में पीठ दिखाकर भाग ही रहा था कि मेरे सिपाहियों ने उसकी मुश्कें बांध लीं।"—कह कर सेना और सेनापति तत्काल ही अदृश्य होगए।

गुणवर्मा ने अपने ज्येष्ठ अग्रज को बन्धनमुक्त कर दिया और स्वयमेव जैनेश्वरी दीक्षा धारण कर आयु के अन्त में समाधिमरण करके स्वर्ग का राज्य प्राप्त किया।

●●●

समुद्र-यात्रा

दक्षिण भारत का तत्कालीन प्रसिद्ध बन्दरगाह 'ताम्रलिप्ति'-संभवत. जिसका आधुनिक नाम तामली है—अपने युग का एक ऐसा बन्दरगाह था जहां से सामुद्रिक व्यापार के सभी मार्ग खुलते थे। समुद्रों द्वारा व्यापार यहाँ बहुत प्राचीन काल से चला आ रहा है। भौगोलिक अध्ययन करने वालों को परिज्ञात है कि दक्षिणी तट की निर्यात सामग्री जहाँ प्रारंभ से ही लवंग, इलायची, लौंग, सुपारी, काजू, पिस्ता, नारियल आदि वस्तुएँ रही हैं, वहाँ आयात सामग्री के रूप में हीरा, जवाहिरात, मणि, माणिक्य आदि बहुमूल्य रत्नों के द्वारा जहाजों के जहाज भर कर यहाँ लाए जाते थे। कहाँ से लाए जाते थे—इसका ठीक-ठीक ऐतिहासिक पता नहीं लगता है। यद्यपि रत्नद्वीप का उल्लेख कई प्राचीन पुराणों में मिलता है। आधुनिक भू-ज्ञान वेत्ताओं ने इस रत्न द्वीप को वर्तमान प्रवाल द्वीप माना है, जो कि लाक्षाद्वीप के ही आस-पास विद्यमान

है। लाक्षाद्वीप समुद्राय वर्तमान सरकार द्वारा केन्द्र शासित राज्यों में से एक है। जिस काल में इस घटना का सम्बन्ध है—उस समय कहते हैं कि सारा समुद्रीय वाणिज्य वणिकजनों के हाथ में था। उन वणिकों में सेठ ताम्रलिप्त का नाम प्रमुख था। आधे से अधिक व्यापार तो उस समय आप अकेले ही हथियाये हुए थे। व्यावसायिक दृष्टि से सारे हिन्द महासागर पर उनका एकाधिपत्य था। जिस समय तामली बन्दरगाह पर स्वस्तिक चिन्हांकित केशरिया ध्वजों से लहराते फहराते हुए उनके जहाजों का काफिला आता दिखाई देता तो उस समय जैनधर्म की अद्वितीय प्रभावना का एक अजीबोगरीब सा समां बंध जाता था। वणिक् श्रेष्ठि ताम्रलिप्त के इस प्रत्यक्ष वैभव के परिणाम पर जब अन्य पुरुषार्थी विचार करते थे, तो उन्हे केवल उसका एक ही कारण मिलता था और वह था "जैनधर्म का पुण्य-प्रताप।' वास्तव में ताम्रलिप्तजी थे तो एक कुशल व्यापारी परन्तु उनका लक्ष्य अर्थ पुरुषार्थ से पहिले धर्म पुरुषार्थ पर ही रहता था। उनका अपना विश्वास था कि 'जिसने धर्म पुरुषार्थ का साधन यथाविधि कर लिया उसके द्वारा ही अर्थ पुरुषार्थ सरलता तथा सफलता पूर्वक सम्पादित हो सकता है। धर्म और अर्थ वाले ही काम पुरुषार्थ के परिणाम का उपभोग कर सकता है और फिर पुरुषार्थी परम्परया मोक्ष पुरुषार्थ को भी साध सकता है।" वास्तव में देवदर्शनादि षट् आवश्यक पालन तथा महाप्रभावक भक्तामरस्तोत्र की भक्ति पूर्वक आराधना उनका नित्य नैमित्तिक कर्त्तव्य था। किसी भी अवस्था में वे इतना करना कदापि नहीं भूलते थे।

आप में से जिन लोगों ने समुद्रों की यात्राएँ की हैं—वे जानते हैं कि किन-किन मुसीबतों का सामना उन्हें करना पड़ता है। तूफान का खतरा तो जैसे चौबीसों घन्टे नंगी तलवार के समान सिर पर लटकता रहता है। उत्ताल तरंगों के बीच में यदि जहाज फँस जाय तो लेने के देने पड़ जावें। समुद्री जीव-जन्तुओं के धावा बोलने की भी वहाँ कम संभावना नहीं रहती। ऐसे दुखद भयावह प्रसंगों पर कोई अक्ल या विद्या काम नहीं आती। सब की सब बुद्ध तो पानी में जाती ही है—हमें भी ले डूबती है। पावन हृदय से भगवान का स्मरण करने के सिवाय वहाँ उस समय कोई दूसरा चारा नहीं रहता।

व्यन्तर जाति के देव जिनका आधिपत्य जल थल और नभ में सब जगह रहता है—अपना बदला लेने अथवा अपनी पूजा प्रतिष्ठादि कराने के लिए चलती हुई जहाजों को कील देते हैं और इस प्रकार जगत में वे मिथ्यात्व एवं असत् की दुष्प्रभावना कराने की कुचेष्टा करते हैं। हिंसा पूर्ण बलिदानों की

मांग करते हैं। सद्धर्म से डिगाने के लिए यात्रियों को नाना प्रकार की यातनाएँ देते है। जिनकी श्रद्धा सत्य धर्म पर नहीं होती वे नर बलि या पशुबलि देकर उस कुदेव को संतुष्ट करते हैं। और इस प्रकार हिंसा का बोलबाला बढ़ता चला आता है। परन्तु सेठ ताम्रलिप्त जो पूर्ण अहिंसक थे अपनी वणिक् मंडली के साथ जब अपने जहाज में हीरा जवाहिरात भर कर स्वदेश को प्रत्यावर्तित हो रहे थे तो एक जलवासिनी देवी ने उनके जहाज को बीच समुद्र में कील दिया। फल स्वरूप वह किंचिन्मात्र भी आगे न बढ़ सका।

जलवासिनी देवी की मांग थी—कि बिना पशुबलि दिये जहाज का आगे बढ़ना असंभव है। परन्तु सेठ ताम्रलिप्त भी एक ही दृढ़ निश्चयी सम्यक्त्वी व्यक्ति थे। उन्हें विश्वास था कि भला सत् कहीं असत् से मात खा सकता है? क्या हिंसा कभी अहिंसा पर विजय प्राप्त कर सकता है? क्या सृजन और निर्माण की अपेक्षा विनाश इतना सस्ता है? कभी नहीं। मैं ऐसा कभी नहीं होने दूंगा। अपने सुखों के पीछे मैं इस राक्षसी देवी को संतुष्ट करने के लिए कभी भी बेकसूर मूक प्राणियों की बलि न दूंगा। चाहे यह सौदा मुझे कितना ही महंगा क्यों न पड़े? ताम्रलिप्त जलवासिनी देवी से कड़ककर बोले—"दुष्टे! तू सीधी तरह से मेरे मार्ग से एक तरफ हट जा, अन्यथा मेरे धर्म की शासन देवी तेरा नामोनिशान भी न रहने देगी। मैं वह ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती तो हूँ नहीं, जिसने सच्चे जिनधर्म में अश्रद्धा करके णमोकार मंत्र को पानी में लिखकर लात से मिटाया था और फिर उस जल व्यन्तर के हाथों से बचने के बजाय समुद्र में ही डुबो दिया गया था और जो आज तक नरक में सड़ रहा है। मैं तो अहिंसा धर्म का आस्थावान अनुयायी हूँ, तू मेरा क्या बिगाड़ सकती है? क्या तुझे नहीं मालूम कि मारने वाले की अपेक्षा बचाने वाले की भुजाएँ ज्याद: लम्बी होती हैं। इतना कहने के उपरान्त ताम्रलिप्त जोर-जोर से

अम्भोनिधौ क्षुभितभीषण-नक्रचक्र—
पाठीन्पीठ भयदोल्वण वाडवाग्नौ।
रंगत्तरंग शिखरस्थित-यानपात्रा—
स्त्रासं विहाय भवतः स्मरणाद् व्रजन्ति ॥४४॥

का जाप्य ऋद्धि मंत्र सहित करने लगे। आँखें उनकी बंद थीं, परन्तु अन्तः करण जागृत था।

आँखें खोलने पर कुछ देर बाद देखते क्या हैं—कि जहाज आगे बढ़ रहा है तथा आगे-आगे एक दिव्य रूपधारिणी चक्रेश्वरी देवी जलवासिनी देवी की लम्बायमान चोटी को पकड़े हुए पानी में घसीटती हुई बढ़ी आ रही है।

जहाज में बैठे हुए वणिकजनों की आवाजें समुद्र की उत्ताल तरङ्गों तथा लहराती लहरों और आकाश की हवा को भेद कर थल की ओर बढ़ती हुई गूंज रही थी—

अहिंसा धर्म की जय।

अहिंसा परमो धर्मः   यतो धर्मस्ततो जयः

●●●

कर्म के फेरे

"क्यों भाई ! तुम कौन हो ? क्या नाम है तुम्हारा ?"

"मैं उज्जयनी नरेश नृपशेखर का इकलौता पुत्र युवराज हंसराज हूँ।"

"फिर तुम्हारा यहाँ नागपुर आना कैसे हुआ ?"

"दुर्भाग्य का सताया हुआ कहीं भी आ सकता है राजन् ! दैवाधीन मनुष्य का उसके अपने हाथ में क्या है ? उदयागत कर्मों की प्रबल-पवन उसे जिस दिशा में भी उड़ा ले जाय, विवश होकर उसे वहाँ जाना ही पड़ता है। यही हाल मेरा भी समझिये।"

"वत्स ! तुम्हारी वार्तालाप की शैली से तो प्रकट होता है, कि तुम वास्तव में कोई युवराज हो, परन्तु क्या इतना और बतलाने का कष्ट करोगे कि एक अनाथ की भाँति तुम इस वृक्ष के नीचे पड़े हुए क्यों कराह रहे हो ? क्या तुम्हे कोई बीमारी है ? सारा का सारा शरीर भी तुम्हारा पाण्डुवर्ण दिखाई दे रहा है।"

"हाँ, महाराज ! आपका अनुमान ठीक है। मैं वात-पित्त और कफ की विषमताओं से प्रपीड़ित हूँ। अन्नादि ग्रहण न करने पर भी यह पेट गरीब के ब्याज की भाँति दिन दूना रात चौगुना बढ़ता जा रहा है। राज्यवैद्य ने इसका निदान 'जलोदर' किया था। पर उपचार के नाम पर अपनी असमर्थता प्रकट करदी।"

"घटनों मे पीडा होती है, मानो गठियावात के लक्षण भी प्रकट होने लगे हों। कफ, खांसी को तो आप प्रत्यक्ष देख ही रहे है कि आप से बात

करना भी कठिन होगया। जहाँ तहाँ ये कोढ़ के धब्बे भी दिखाई देने लगे हैं। इतना ही नहीं, उस कोढ़ में भी यह खाज हो रही है। जैसे तैसे मौत की घड़ियां गिन रहा हूँ। पर वह निगोड़ी आती ही नहीं। वह तो न जाने किस स्वस्थ और सुन्दर युवक की तलाश में है। आप ही देखिये न कि क्षणिक संसार की विनाश लीला के सारे दृश्य मेरे शरीर के परदे पर ही दिखाये जा रहे हैं। मैं चाहता हूँ, कि बस मृत्यु के पर्दे का पटाक्षेप हो और मेरे जीवन-नाटक का यह वीभत्स दृश्य शीघ्र ही समाप्त हो।"······कहते-कहते युवराज हंसराज की आंखों से सावन की झड़ी लग गई। उसका कंठ रुँध गया और वह आगे एक शब्द भी न बोल सका।

अपने साथियों सहित भ्रमण को आये हुए वहाँ के राजा मानगिरि युवराज की यह करुण कहानी सुनकर एवं उसकी यह नारकीय दारुण पीड़ा देखकर अविचलित न रह सके। यद्यपि वे कठोरता और निष्ठुरता के साक्षात् अवतार थे।

× × ×

राजकुमारी कलावती दुलहिन के रूप में सुसज्जित विवाह मंडप के मध्य में खड़ी है और युवराज हंस भी उसी वेष में दूल्हा बन कर खड़ा हुआ है—गठ बन्धन की क्रिया की जा चुकी है—भाँवरें पड़ने भर की देर है। पंडित पुरोहित, विप्र, मंत्री आदि बार-बार राजा को रोक रहे हैं, मना कर रहे हैं कि क्यों आप अपनी एकलौती लाड़ली कोमलाङ्गी कन्या का अमूल्य जीवन अपने ही हाथों विनष्ट करने पर तुले हुये हैं? क्यों एक सड़ी गली मुर्दा लाश से इस रूपवती बाला के सुकुमार यौवन को बांध रहे हैं? ऐसा करने से नरक में भी जगह न मिलेगी।······पर राजा मानगिरि तो ऐसे आपे से बाहिर है कि किसी की सुनते ही नहीं। आँखें उनकी अंगार की तरह लाल-लाल हो रही है। दभ और अहम् का कोई ठिकाना नहीं है। उनका तो विश्वास है कि जब यह लड़की हमारा दिया हुआ खाती है, हमारे आश्रित रह कर यह इतनी बड़ी हुई है तो फिर क्यों कर कर्म-कर्म चिल्लाती है? बार-बार उनकी दुहाई देती है। कर्म के आगे वह मेरा अस्तित्व भी नहीं मानती। मेरे उपकार की कोई कद्र भी नहीं करती। देखें, इसका ये कर्म कब तक साथ देते हैं। कर्मों का सताया हुआ युवराज ही इसका सर्व श्रेष्ठ योग्य वर है।

विवाह में उल्लास का नहीं, मातम सा करुण वातावरण छाया हुआ था। माता की ममता दीवार से सिर फोड़ रही थी। परन्तु उस मदान्ध कोढ़ी को

कुछ नहीं सूझता था। भारतीय नारी कलावती कैसे अपने पति के विरोध में एक भी शब्द कह सकती थी ? पातिव्रत्य धर्म की सु-शिक्षा तो यहाँ की नारियों को जन्मघुटी के साथ ही मिली है। वह बेचारी तो धीरता पूर्वक अपने कर्मों का यह तमाशा देखती रही। भावी सु-दिन की आशाओं के सहारे उसने अपने को बांधकर विष का यह कडुवा घूंट पी लिया। पर चूं तक न की।

और इस प्रकार राजकुमारी कलावती एवं हंसराज का जीवन एक परिणय सूत्र मे बंध गया।

× × ×

जिस दिन युवराज हंसराज को कलावती पाणिग्रहण में प्राप्त हुई उसी दिन से उसका प्रत्येक दिन सोने का और प्रत्येक रात मानों चांदी की बनती गई। जिस प्रकार विपत्तियां कभी अकेली दुकेली नहीं आतीं वैसे ही सौभाग्य भी जब आता है तो वह अपने साथ स्वर्गलोक का पूरा वैभव लाता है। निमित्त मिलते आते हैं—कार्य होता आता है। बात यह हुई कि एक दिन उपर्युक्त दोनों दम्पत्ति को एक परम निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनिश्री द्वारा महा प्रभावक श्री भक्तामर स्तोत्र का ४५ वां श्लोक का निमित्त मिल गया। उसके ७ दिन तक निरन्तर अखण्ड जाप्य से युवराज हंस की वह घिनौनी काया कंचन काया होगई। और युवक कामदेव को लज्जित करने लगा।

मुनिराज ने बतलाया कि कुमार की यह दयनीय हालत उसकी विमाता कमला द्वारा दी गई दिनाई के कारण हुई है। यह अच्छा हुआ कि युवराज ने वह राजमहल तत्काल ही छोड़ दिया अन्यथा जीवन-दान देने का यह परम सौभाग्य मुझे कभी भी प्राप्त नहीं होता। वास्तव में मनुष्य को कदापि एक पत्नी के स्वर्गवासी हो जाने पर अपना पुनर्विवाह नहीं करना चाहिये, क्योंकि उसके ऐसे ही अनेकों भयङ्कर दुष्परिणाम देखे और सुने जाते है।

कनेक्शन : आत्मा से परमात्मा तक

मध्ययुगीन इतिहास के पन्नों में जहाँ भारत की सांस्कृतिक गौरव-गरिमा का सूर्य अस्ताचल की ओर ढलता हुआ दिखलाई देता है, वहीं उसमें कुछ

ऐसे स्वर्णिम अध्याय भी हैं जिनमें भक्ति-काल का उदीयमान मार्तण्ड अपनी प्रखर रश्मियों से राजा-प्रजा दोनों को चमत्कृत कर रहा था।

मध्ययुग के इसी भक्तिकाल में मीरा ने हँसते-हँसते विष का प्याला पिया, तुलसी ने पवनपुत्र हनुमान का साक्षात्कार किया, सूर ने कृष्ण की बाहें पकड़ी, गुरुनानक ने जिस ओर पैर पसारे उसी तरफ मन्दिर मस्जिद पहुँच गई। तारणतरण स्वामी ने शास्त्रों को आकाश में उड़ते हुए दिखलाया। पूज्य प्रातः स्मरणीय मानतुङ्गाचार्य जी ने कठोर कारावास के एक के बाद एक अड़तालीस ताले अपनी समाधि स्तुति द्वारा तोड़े और स्वामी हेमचन्द्राचार्य, शंकराचार्य, एवं श्री भट्टाकलंक देव आदि ने अपने युगों में जो-जो चमत्कार दिखलाये वे उनकी आध्यात्मिक प्रतिभा के ज्वलन्त प्रतीक हैं—योग विद्या के उदाहरण हैं।

× × ×

राजपूताने का जैन वीर युवराज रणपाल एक सुन्दर, स्वस्थ, सुशील, सुशिक्षित किशोर था। पिता उरपाल राज दरबार में सिंहासनासीन थे कि उसी समय पड़ौसी मित्र राज्य वासुपुर के नृपति का उनके राजदूत द्वारा एक गुप्त-पत्र प्राप्त हुआ।

महा मान्यवर, नृपतिवर।

उभयत्र कुशलं! अपरंच जोयिनपुर के नवाब शाह सुलतान आप पर आक्रमण करने की योजना बना रहे हैं। मित्र राज्य होने के नाते मेरा यह राज्यधर्म है कि आपको इस संदर्भ की अग्रिम सूचना देकर सचेत कर दूँ। शेष शुभ। आदेश की प्रतीक्षा में—

विनयावनत :—

वासुपुर नरेश

पत्र पढ़कर अजमेर नरेश 'उरपाल' प्रथम तो कुछ गंभीर हुए परन्तु क्षण भर में ही साहस और शूरवीरता का ऐलान करके बोले—

"कोई ऐसा बहादुर इस भरी सभा में है जो शाह सुलतान को जीवित पकड़ कर ला सके?"

"मैं ला सकता हूँ"—बुलन्द आवाज में युवराज रनपाल ने हाथ उठाकर संक्षिप्त सा उत्तर दिया।

× × ×

इतिहास साक्षी है कि भारत के भाग्य में वीरतापूर्ण अमर बलिदान के रक्तिम टीके तो अवश्य लगे हैं, परन्तु जिसे "विजयलक्ष्मी" के नाम से पुकारा जाता है, वह सदैव राजपूत और हिन्दुओं से रूठी ही रही और अपनी वरमाला फिरंगी मुहिमों के गले में ही बहुधा डालती रही। यही परिणाम रनपाल एवं शाह सुलतान के मध्य होने वाले घमासान युद्ध का हुआ।...राज कुमार रनपाल बन्दी बना लिया गया व जेलखाने मे डाल दिया गया। सामान्य कैदी की भाँति उससे व्यवहार किया गया तथा कारागार में भूखा-प्यासा निराहार दो दिन-दो रात पड़ा अपने उदीयमान कर्मों का तमाशा देखता रहा। पराधीनता में केवल एक ही पुरुषार्थ शेष रहता है और वह है आत्मा का परमात्मा तक सीधा कनेक्शन।

संस्कार अपना प्रभाव समय आने पर अवश्यमेव दिखलाते हैं। छात्र-जीवन मे गुरुदेव से सीखा हुआ महाप्रभावी भक्तामर मंत्र का उन्होंने तन्मय होकर पाठ प्रारम्भ किया। छियालीस वें पद्य तक पहुँचते-पहुँचते लौह निर्मित मस्त बेड़ियां अपने आप टूट कर नीचे गिर गईं। बन्धनमुक्त राजकुमार प्रातः शाह सुलतान के दरबार मे बैठा हुआ दिखलाई दिया।

नवाब ही नही, सभी दरबारी भी भौचक्के रह गये। कोतवाल, दरोगा, पहरेदार व सिपाही आदि सभी मे कैफियत तलब की गई। परन्तु, सब खामोश—निरुत्तर-मौन! अन्ततोगत्वा पुनः राजकुमार रनपाल को शाह सुलतान ने स्वयं अपनी देखरेख मे बेड़ियों और सांकलों मे जकड़वाकर जेलखाने मे बन्द करवाया—और इस बार शाह सुलतान निगरानी के लिए स्वय एक झरोखे मे सावधानी पूर्वक बैठ गया और जो दृश्य उसने अपनी विश्वासी आखों से देखा उसे अब उसके अविश्वासी दृश्य को बरबस स्वीकार करना पड़ा, क्योंकि पुनः राजकुमार बन्धनमुक्त होकर शाह सुलतान के दरबार मे पहुँचने की तैयारी कर रहे थे।

(भक्तामर सत्य कथालोक समाप्त)
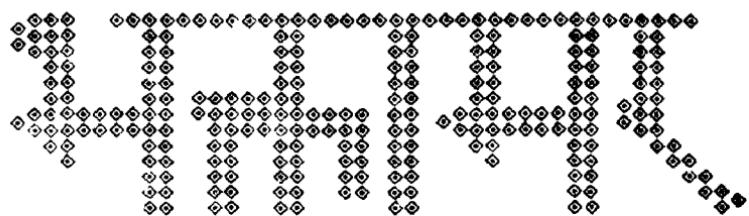
दिव्य-मन्त्रालोक

(तृतीय-खण्ड)

भक्तामर स्तोत्र नित्य पाठ-विधि

भक्तामर स्तोत्र की महिमा अपूर्व है, महाप्रभावक है। जो पुरुष श्रद्धा पूर्वक नित्य-नियमित इस महान् स्तोत्र का पाठ करता है उसके हृदय रूपी कमल की पांखुड़ियां प्रस्फुटित होने लगती हैं, उसमें दिव्य-प्रकाश की किरणें फूटने लगती हैं और उस आराधक के आध्यात्मिक विकास के पथ को प्रशस्त करने लगती हैं। दूसरे शब्दों में मानव जीवन का सर्वोत्कृष्ट एवं मधुर फल मोक्ष-सुख भक्तामरस्तोत्र के आराधक को अवश्य ही प्राप्त होता है और वह अपने को कृतकृत्य अनुभव करने लगता है।

अद्यावधि पर्यन्त अनेक आराधकों ने इस प्रकार का सुखद अनुभव किया है और हम भी अगर चाहें तो उस प्रकार का अनुभव प्राप्त कर सकते हैं; परन्तु व्यावहारिक विविध प्रकार के जटिल जंजालों में फंसे हुये हम इस प्रकार की कामना ही कहाँ करते हैं ? शुभ सुन्दर प्रशस्त कार्य या प्रवृत्ति की इच्छा होना एक मंगलमय ध्येय है, इसे हमें कभी भी नहीं भूलना चाहिये इच्छाओं में से संकल्प जागता है और वह संकल्प पूरा होते ही हमारे जीवन में एक नई रोशनी प्रकट होती है। अतएव हमें इस महान्—अद्वितीय महा-प्रभावक स्तोत्र का नित्य-नियमित पाठ करने की अभिलाषा रखनी चाहिये। अस्तु—

सद्‌गुरु के पादमूल में ही इस स्तोत्र की साधना किया जाना श्रेयस्कर है। संस्कृत के ४८ श्लोक किस प्रकार कंठस्थ होंगे ? ऐसा विचार कदापि नहीं करना चाहिये। पुरुषार्थ करने वाले जब अनेक शास्त्रों को याद रखते हैं तो ४८ श्लोक मुखाग्र याद करना कोई कठिन काम नहीं है। प्रतिदिन एक श्लोक कंठस्थ करे तो ४८ दिन में ४८ श्लोक कंठस्थ हो जावेंगे और अगले भव का भव्य कलेवा साथ बंध जावेगा। जिस व्यक्ति से इतना भी न बने तो वह प्रतिदिन आधा श्लोक कंठस्थ करके तीन माह में इस अमूल्य पावन वस्तु को अपना बना सकता है। एक बार अशुद्ध श्लोक आपके मुख लग गया तो उसकी

शुद्धि होना बड़ा ही कठिन कार्य होगा, इसलिए सद्गुरु के सानिध्य में बैठ कर भक्तामरस्तोत्र के ४८ काव्यों को शुद्ध कंठाग्र कर लेवे ! ताकि भविष्य में किसी अनिष्ट की आशंका ही न रहने पावे ।

भक्तामरस्तोत्र के नित्य नियमित पाठ से अनेकों व्यावहारिक लाभ होते हैं । जैसे आती हुई अनेकों मुसीबतें टलती है, भय दूर भागते है, उपसर्गों का निवारण होता है, विविध प्रकार की व्याधियां नष्ट हो जाती हैं, धन-धान्यादि संपत्ति-सौभाग्य की वृद्धि होती है, हर काम मे यश मिलता है, राजा-प्रजा में लोकप्रिय होता है, इत्यादि ।

सारांश यह है कि भक्तामरस्तोत्र के नित्य नियमित पाठ करने से मुक्ति और भुक्ति दोनों प्रकार के सुख मिलते है अतएव विज्ञजनों को इस ओर विशेष लक्ष्य देने की जरूरत है । कितने ही व्यक्ति यह स्तोत्र बांच कर, पढ़कर उसका पाठ करते हैं, परन्तु कंठस्थ श्लोकों के पाठ करते समय जो भावोल्लास जागता है और आनन्द आता है वह पढ़कर पाठ करने में नहीं आता इसलिए इस स्तोत्र को कंठस्थ करने की तरफ विशेष लक्ष्य देना चाहिये !

श्री मानतुंगाचार्य जी ने "धत्ते जनो य इह कण्ठगतामजस्रं" इन शब्दों मे उसको कंठस्थ करने की सूचना दी है और इस प्रकार उसका पाठ करने ही लक्ष्मी विवश होकर उसके समीप आती है ऐसा अन्तिम श्लोक में बताया गया है।

विशेषतया इस अनुपम स्तोत्र का अर्थ जानने से भाव-वृद्धि और भाव-विशुद्धि मे बहुत अधिक सहायता मिलती है अत प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रथम खण्ड बहुत ही उपयोगी है । उसका स्थिर चित्त से वाचन-मनन करना हम सबके हित मे उपादेय है।

इस स्तोत्र के नित्यपाठ को कब प्रारंभ करना चाहिये इसके उत्तर मे विज्ञ पुरुषो ने कहा है कि—

"मत्रारम्भस्य चैत्रस्य, बहु दुखस्य दायक" तथा "ज्येष्ठे च मरणं ध्रुवम्" एव "आषाढे कलहश्चैव" अर्थात् चैत्र, जेष्ठ तथा आसाढ़ मास मे इसका प्रारंभ न करे शेष महिनो में इसको प्रारंभ करना चाहिये । उसका फल निम्न प्रकार वर्णित किया गया है—

कार्तिक	स्वर्ण-लाभ	मगसिर	महोदय
पोष	धन-लाभ	माघ	मेघवृद्धि
फाल्गुन	धान्य-लाभ	वैशाख	रत्नलाभ
श्रावण	पूर्णार्थ-प्राप्ति	भाद्रपद	सुखवृद्धि

आसोज मास में—पुत्र धन लाभ

उक्त माहों में शुक्ल पक्ष और पूर्ण तिथि को पाठ प्रारंभ करने का निर्देश किया गया है अर्थात् सुदी ५, १०, १५. के दिन प्रारम्भ करना चाहिये। नन्दा तथा जया तिथियों को भी योग्य गिना गया है अतः १, ३, ६, ८, ११, और १३ के दिन भी इसका पाठ प्रारंभ कर सकते हैं। यह पाठ दिन में बारह बजे के पूर्व कर लेना चाहिये। सूर्योदय से पूर्व पाठ किया जावे तो वह सर्वोत्तम है! पाठ करते समय पूर्व या उत्तराभिमुख पद्मासन लगाकर बैठना चाहिये सामने भगवान ऋषभदेव की मूर्ति या फोटो ऊँचे स्थान पर विराजमान कर लेना चाहिये। भक्तामर का पाठ एकाग्रचित्त से करना चाहिये।

अखण्ड-पाठ-विधि

अकस्मात् महान् उपद्रवों के प्रसंग में जैसे शान्ति, तुष्टि-पुष्टि के लिए इस महाप्रभावक स्तोत्र का अखण्ड पाठ किया जाता है तदनुसार आत्मा को परमात्मा बनाने के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि परमात्मा के पवित्र अनन्त गुणों का सतत् चिन्तन-मनन तथा स्तवन कर उन्हें आत्मा में व्यक्त और विकसित करने का प्रयास किया जावे इसी आन्तरिक सुखद भावना से भक्तामर स्तवन द्वारा परमात्मा की आराधना से आत्मविकास की परम्परा—जैन सम्प्रदाय में शताब्दियों से योजनाबद्ध तरीके से प्रचलित है।

जगद्धितैषी वीतराग सर्वज्ञ जिनवरेन्द्र के समक्ष स्तोत्रराज भक्तामर के "अखण्ड पाठ" का क्रम या विधि-विधान निम्न प्रकार है—

पाठ प्रारम्भ करने के एक दिन पूर्व एक बड़े चौकोर तख्त पर पांच प्रकार के रंगों से रंगे हुए तन्दुलों से "भक्तामर-मण्डल" (मांडना) बनाया जाय।

दूसरे दिन प्रातः काल स्नान करके धुले हुए धवल वस्त्र धारण कर पूजन सामग्री तैयार कर मंडल के ऊपर मध्य में उत्तर या पूर्वाभिमुख उच्चासन पर सुन्दर सिंहासन में श्री १००८ श्री आदिनाथ भगवान की दो मनोज्ञ मूर्तियां तथा सामने दूसरे सिंहासन पर सिद्धचक्र यन्त्र स्थापित करना चाहिये, चारों

कोणों में श्रीफल युक्त चार कलश रख कर-मंडल की शोभा हेतु अष्ट मंगल-द्रव्य, तीनछत्र और अष्टप्रातिहार्य यथास्थान स्थापित करना चाहिये। मंडल के ऊपर चन्दोवा लगाकर चंवर भी लटका देवे।

सिंहासन से कुछ नीचे एक छोटी चौकी पर श्रीजी के बाईं ओर एक अखण्ड दीपक जो (निर्विघ्न कार्य समाप्ति पर्यन्त प्रज्ज्वलित रहे) रखा जावे। विविध जय घोषों के पश्चात्" भक्तामर महामण्डल विधान" की जय बोलें। मंगलाचरण तथा मंगलाष्टक के पद्यान्त में हर्ष विभोर हो चारों ओर पुष्प वर्षा करें! इसके बाद भावशुद्धि, रक्षासूत्रबन्धन, तिलककरण, रक्षाविधान, दिग्बंधन कर भव्य मंगल-कलश की स्थापना करना चाहिये। कलश में हल्दी सुपारी रजत स्वर्णादिक डाल कर ऊपर सीधा श्रीफल रखकर पीतवस्त्र और पंचवर्ण सूत्र से उसे बांधना चाहिये। उसमें प्रासुक जल भी भरकर लवंगचूर्ण डाल देना चाहिये। मंगलकलश श्रीजी की बांई ओर स्थापित करना चाहिये।

विधि पूर्वक जलधारा शान्ति-धारा करके २४, ४८, या ७२ घन्टे तक अखण्डपाठ करने का संकल्प कर जयध्वनि पूर्वक श्री भक्तामरस्तोत्र पाठ का शुभारम्भ करना चाहिये। यह अखण्डपाठ प्रतिमा के सामने बैठकर समान स्वर में एक स्थल पर अनेक व्यक्ति संकल्पित समय तक करें। यदि बीच में पाठकर्ता बदले जावें तो जब तक नवीन पाठकर्त्ता पाठ प्रारभ न करदें तब तक पूर्व पाठकर्त्ता अपना स्थान नहीं छोड़े।

संकल्पित समय पूर्ण होने पर मंगलाष्टक तथा शान्तिपाठ पढ़ कर चौकी पाटे उठाकर उचित स्थान पर टेबिल जमाकर पुन आदीश्वर भगवान् का अभिषेक एवं यन्त्र पर शान्तिधारा की जावे। उपरान्त—

विधिपूर्वक नित्यपूजा कर भक्तामर महामण्डल पूजा-विधान किया जावे। पूजा समाप्ति पर शान्ति कलशाभिषेक (पुण्याहवाचन) शान्ति-विसर्जन आरती भक्तामर महिमा परिक्रमादि यथाविधि किये जावें। यदि पाठ के साथ जाप्य भी किया गया हो तो विधि पूर्वक हवन भी करना चाहिये।

भक्तामर के प्रत्येक पद का विशेष प्रभाव

भक्तामर स्तोत्र का प्रत्येक पद्य प्रभावशाली है। जो आराधक उसकी विशिष्ट रीति से साधना करते है तो वह अपना प्रभाव अवश्य दिखलाता है।

जिज्ञासुओं को इस वस्तु की प्रतीति कराने के लिये पूर्व महर्षियों ने अधिकांश पद्यों की महिमा दर्शक कथाओं का संकलन किया है और वह हमने प्रस्तुत ग्रन्थ में भक्तामर कथालोक के नाम से प्रकट किया है।

वर्तमान समय में भी कितने ही पंडितों—मंत्र विशारदों ने अमुक पद्य तथा उसकी ऋद्धि-मंत्र का सुनिश्चित संख्या में शुद्ध परिणामों से स्मरण करके अमुक व्यक्ति पर प्रयोग किया तो वे भूत-प्रेत व्यन्तरादिक के कष्टों से मुक्त होगये, रोगों से छुटकारा पागये और उन्हें इच्छित फल की प्राप्ति सुलभ होगई। हम स्वयं एक ऐसे व्यक्ति से परिचित हैं जिन्हें अमुक अपराध में कारावास में जाना पड़ता किन्तु भक्तामर की आराधना से वह सजा से बहाल होगये।

तात्पर्य यह है कि भक्तामर के प्रत्येक पद्य में अद्‌भुत शक्ति विद्यमान है। जिसके बल पर वह आपदाओं से छुटकारा पा लेता है।

जो व्यक्ति बैंक में खाता खोलकर रुपया-पैसा जमा करता है; वही व्यक्ति चेक द्वारा पैसा निकाल सकता है। तात्पर्य यह कि जो इस स्तोत्र का नित्य नियमित पाठ करने से आध्यात्मिक अर्थ जमा करता है वही आपत्ति के समय काम आता है और अपने को शोक संताप से मुक्त करता है।

विशेष प्रयोजनों के सम्बन्ध में जब इस स्तोत्र के एक या उससे अधिक पद्यों का स्मरण करना हो तब वह पद्य या पद्यों की एक पूरी माला सूर्योदय के पहिले फेर लेना चाहिये। ऐसे समय स्नान करने का योग न हो तो हाथ पैर मुंह धोकर शुद्ध वस्त्र पहिन कर भी किया जा सकता है। इन पद्यों के साथ तत्सम्बन्धी मंत्रों का जाप करने से उनका फल शीघ्र और तत्काल सामने दृष्टिगोचर होता है।

●●●

मंत्र साधक की अर्हताएँ

कार्य सिद्धि या अन्यान्य उपायों के लिए मंत्र साधना या मंत्राराधना भी एक उपाय है, जिसके द्वारा देवी देवताओं को वश में कर सकते हैं। जो कार्य

अशक्य एवं असंभव हों उनकी भी सिद्धि इनके द्वारा की जा सकती है। मंत्र साधना द्वारा आराधक अपने मन, वचन, काय की शक्ति का विकास कर सकता है। और इस प्रकार महत्वपूर्ण व्यक्तित्व अर्जित किया जा सकता है। परन्तु एक बात निश्चित है कि जब शुभ कर्मों का उदय हो तब मंत्र-तंत्र यंत्र लाभदायक सिद्ध होते हैं। इसके विपरीत अशुभ कर्मोदय के समय उनका विशिष्ट फल नहीं मिलता। अतएव मंत्र साधकों को दान, दया, परोपकार सदाचार आदि शुभ कर्मों द्वारा शुभ कर्मों का सचय करते रहना चाहिये।

आराधक का अभीष्ट तो यह होना चाहिये कि सांसारिक विषय वासनाओं को छोड़ने तथा कर्मबन्धन से मुक्त होने के लिये मंत्राराधन करे परन्तु यदि इस भूमिका को प्राप्त न कर सके और मात्र सांसारिक मुसीबतों के छुटकारे के लिये—इष्ट मनोरथ सिद्धि के लिये ही मंत्राराधन का आश्रय ले तो उसे इतना लक्ष्य अपने सामने अवश्य रखना चाहिये कि हमारे इस कृत्य से किसी के प्राणों का हनन न हो, कोई दुखी न हो। मंत्र साधकों को अपने हित के लिये मुख्य रूप से शान्ति, तुष्टि, पुष्टि के लिए इनका आश्रय लेना चाहिये। और अत्यधिक आवश्यकता हो तो

वश्यकर्म—दूसरों को वश में करने की क्रिया।

विद्वेषणकर्म—दो मित्रों के मध्य मैत्री भंग हो जाय और उनका संगठन टूट जाय ऐसी क्रिया।

स्तम्भनकर्म—आक्रमणकारी मनुष्य पशु वगैरह को रोक देने की क्रिया का आश्रय लेना चाहिये किन्तु :—

उच्चाटनकर्म—स्थान धन्धा आदि से भ्रष्ट करने रूप क्रिया।

मारणकर्म—प्राण हनन रूप क्रिया, जैसे उग्र कर्म का आश्रय कदापि नहीं लेना चाहिये। क्योंकि ऐसे कृत्य करने से मंत्र साधक को भविष्य में बहुत दुःख सहन करने पड़ते हैं। और कितने ही बार ऐसे अधम प्रयोग करते समय यदि साधक से कोई भूल होजावे तो उसे तत्काल बहुत बड़ा दंड प्राप्त होता है।

यह बात सही है कि मंत्र शास्त्र में उच्चाटन मारण आदि प्रयोग बताये हैं परन्तु उसका प्रयोग देश, समाज, धर्म की रक्षा के प्रसंग में आ पड़ी मुसीबत से छूटने के लिये है। निजी स्वार्थ साधन के लिये नहीं।

मंत्र सिद्ध करने का मूल उपाय श्रद्धा है। जो साधक मंत्र देवता, मंत्र तथा मंत्र दाता गुरु के प्रति पूर्ण आस्थावान् होता है उसीकी मंत्र-साधना सफल होती है। जो डगमगाते हृदय से अथवा शंकाशील मन से मंत्र-साधना प्रारंभ

करते हैं उनको कभी भी सिद्धि नहीं होती। मंत्र साधना को सफल बनाने के लिये बाह्य तथा अभ्यन्तर शुद्धि की परम आवश्यकता होती है। बाह्य शुद्धि अर्थात् स्नानादि और अभ्यन्तर पवित्रता काम क्रोधादि मलिन विचारों के परित्याग से आती है। इस प्रकार की पवित्रता प्राप्त करने के लिए खान-पान तथा दिनचर्या में जितना अधिक बन सके उतनी शुद्धि अवश्य करनी चाहिये। ऐसे व्यक्ति ही मंत्र-साधना में सफलीभूत होते हैं। मंत्र साधना के लिये यह और भी अधिक परमावश्यक है कि किसी मंत्र विशारद सद्गुरु की देखरेख में यह कार्य आरंभ करना चाहिये—क्योंकि मंत्र सिद्ध करना कोई मामूली कार्य नहीं है। मंत्र सिद्ध करते समय कई भयप्रद दृश्य उपस्थित होते हैं। यदि उस समय साधक डर गया तो स्थिति भयंकर रूप धारण कर लेती है—डरपोक व्यक्ति को कदापि मंत्र-साधन का प्रयास नहीं करना चाहिये। जिस प्रकार सिंहनी का दूध कनक-पात्र में ही ठहर सकता है उसी प्रकार निर्भय हिम्मत वाले मनुष्य ही मंत्र साधना करके सफलता को पा सकते है।

मंत्र साधना एक विज्ञान है। अस्तु मंत्र साधक को मंत्र साधने के पूर्व तत्सम्बधी पूर्ण जानकारी प्राप्त कर लेना चाहिये। ताकि वह अपने कार्य में सफल हो सके।

दीपनादि-प्रकार-यन्त्र

कार्य-नाम	वशीकरण	स्तम्भन	आकर्षण	शान्तिक	पौष्टिक	मारण	विद्वेषण	उच्चाटन	सिद्धि
समय	पूर्वाह्ल	पूर्वाह्ल	पूर्वाह्ल	अर्धरात्रि	प्रभात	सायंकाल	मध्याह्न	अपराह्न	
ऋतु	वसन्त	वसन्त	वसन्त	हेमन्त	शिशिर	शरद	ग्रीष्म	वर्षा	
हस्त	वामहस्त	दक्षिण	दक्षिण	दक्षिण	दक्षिण	दक्षिण	दक्षिण	दक्षिण	
अंगुलि	अनामिका	तर्जनी	कनिष्ठा	मध्यमा	मध्यमा	तर्जनी	तर्जनी	तर्जनी	
मुद्रा	सरोजमुद्रा	शंखमुद्रा	अंकुशमुद्रा	ज्ञानमुद्रा	ज्ञानमुद्रा	वज्रासन	प्रवाल	प्रवाल	
आसन	स्वस्तिकासन	वज्रासन	दंडासन	पद्मासन	पद्मासन	मुद्रासन	कुक्कुटासन	कुक्कुटासन	
ध्यान-वर्ण	रक्त	पीत	अरुण	चन्द्रकान्त	चन्द्रकान्त	कृष्ण	धूम्र	धूम्र	
तत्व-ध्यान	जल	पृथ्वी	अग्नि	जल	पृथ्वी	व्योम	वायु	वायु	
माला	प्रवाल	सुवर्ण	प्रवाल	स्फटिक	मुक्तामणि	पुत्रजीवनी	पुत्रजीवनी	पुत्रजीवनी	
पल्लव	वषट्	घे घे	वौषट्	स्वाहा	स्वाहा	घे घे	हुं	फट्	
मुख	उत्तर	पूर्व	दक्षिण	पश्चिम	नैऋत्य	ईशान	आग्नेय	वायव्य	

काव्य १—ऋद्धि—"ॐ ह्रीं अर्हं णमो अरिहंताणं णमो जिणाणं ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः अ सि आ उ सा अप्रतिचक्रे फट् विचक्राय झ्रौं झ्रौं (नमः ?) स्वाहा।"

मंत्र—"ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं श्रीं क्लीं ब्लूं क्रौं (क्रों ?) ॐ ह्रीं नमः स्वाहा।"

यंत्र—वलयाकारमध्ये ॐ कारोपरि ॐ कारं लिखित्वा चतुर्दश-ह्रीं कारैः परिवेष्टय ऋद्धिमंत्रस्य च परिधिं रचयित्वा चतुर्सुदिक्षु चतुर्चत्वारिंशत् ॐ क्लीं लिखेत्।

विधि--सफेद वस्त्र पहिन कर, सफेद आसन पर पूर्वाभिमुख बैठकर पवित्र भावों के साथ प्रतिदिन प्रातः १०८ बार प्रथम काव्य ऋद्धि तथा मंत्र का आराधन करते हुए एक लाख जप पूर्ण करना चाहिये।

गुण—प्रथम यंत्र को भूर्ज पत्र पर केशर से लिखकर सुगन्धित धूप की धूनी देकर अपने पास रखने से उपद्रव नष्ट होते हैं, सौभाग्य की प्राप्ति होती है और लक्ष्मी का लाभ होता है। यह मंत्र महा प्रभावक है।

◈ इति प्रथम काव्य पंचांग विधि सम्पूर्णम् ◈

काव्य २—ऋद्धि—"ॐ ह्रीं अर्हं णमो ओहि-जिणाणं (झ्रौं झ्रौं नमः स्वाहा ?)।"

मंत्र—ॐ ह्रीं श्री क्लीं ब्लूं नमः। (सकलार्थं सिद्धीणं)"

यंत्र—वर्गाकृतिमध्ये ह्रींकारोपरि ह्रींकारं स्थापयित्वा चतुर्सुदिक्षु श्रींकाराम् लिखेत्। ततः तेषामुपरि ऋद्धिमंत्रस्य रचनां कुर्यात्। पश्चात् अष्टचत्वारिंशत् ॐ कारैः सह कंकारान् विलिख्य यंत्राकृतिं पूरयेत्।

विधि—काले वस्त्र पहिन कर, काली माला लेकर, काले-आसन पर पूर्वाभिमुख दंडासन माड़कर २१ या ३० दिन तक प्रतिदिन १०८ बार अथवा ७ दिन तक प्रतिदिन १००० बार ऋद्धि तथा मंत्र का स्मरण करना चाहिये।

गुण—यंत्र को पास में रखने और २रा काव्य एवं ऋद्धि-मंत्र के स्मरण करने से शत्रु तथा शिर की पीड़ा नाश होती है, दृष्टिबन्ध (वह क्रिया जिससे देखने वालों की दृष्टि में भ्रम हो जाय।) दूर होता है। आराधक को मंत्र-साधन तक नमक से होम करना चाहिये तथा दिन में एक बार भोजन करना चाहिये।

◈ इति द्वितीय काव्य पंचांग विधि सम्पूर्णम् ◈

काव्य ३—ऋद्धि—"ॐ ह्रीं अर्हं णमो परमोहि-जिणाणं (झ्रौं झ्रौं नमः स्वाहा ?)"

मंत्र—"ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं सिद्धेभ्यो बुद्धेभ्यः सर्वसिद्धिदायकेभ्यो नमः

स्वाहा" "ॐ नमो भगवते परमतत्त्वार्थ भावकार्यसिद्धिः ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रः असकृपाय (अस्वकृपाय ?) नमः।"

यंत्र—वलयाकारमध्ये श्रींकारोपरि श्रींकारं लिखित्वा तेषामुपरि चतुर्दश क्लींकारान् वेष्टयेत्। अनन्तरं वलयं कृत्वा ऋद्धिमंत्रे स्थापयेत् पश्चात् वर्गाकारे चतुर्मुदिक्षु **"ॐ नमो भगवते परमतत्त्वार्थ भावकार्यसिद्धिः ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रः असकृपाय (अस्वकृपाय ?) नमः** इति मंत्रेण विलिख्य यंत्रं परिपूरयेत्।

विधि—पद्मबीज (कमल गट्टा) की माला से ऋद्धि और मंत्र का ७ दिन तक प्रतिदिन १०८ बार स्मरण करना चाहिये। होम के लिए सुगन्धित दशांगधूप हो और चढ़ाने के लिए खिले हुए गुलाब के फूल।

गुण—अंजुलि भर जल को उक्त मंत्र से मंत्रित कर २१ दिन तक मुख पर छींटें देने से सब लोग प्रसन्न होते हैं। यंत्र को पास में रखने तथा ३रा काव्य, ऋद्धि मंत्र स्मरण करने से शत्रु की नजर बन्द हो जाती है। दृष्टि दोष भी दूर होता है।

◈ इति तृतीय काव्य पंचांग विधि सम्पूर्णम् ◈

काव्य ४—ऋद्धि—"ॐ ह्रीं अर्हं णमो सव्वोहि-जिणाणं (श्रौं श्रौं नमः स्वाहा ?)।"

मंत्र—ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं जल-यात्रा जलदेवताभ्यो नमः स्वाहा।

यंत्र—प्रथमं वर्गाकृतिमध्ये क्लींकारोपरि क्लींकारं स्थापयेत्। तस्योपरि चतुर्सुदिक्षु चतुर्विंशति ग्लौं (ग्लौं ?) कारान् स्थापयेत्। तेषामुपरि ऋद्धिमंत्रं लिखेत्। तस्योपरि परितः अष्टाविंशति श्रौंकारैः सह यंत्राकृतिं पूरयेत्।

विधि—स्नान करके स्वच्छ सफेद वस्त्र पहिन कर यंत्र स्थापित करे तथा यंत्र की पूजा करे पश्चात् स्फटिक मणि की माला द्वारा ७ दिन तक प्रतिदिन १००० बार ऋद्धि तथा मंत्र का जाप जपते हुए हर रोज १०८ सफेद फूल चढ़ाना चाहिये, दिन में एक बार भोजन और रात्रि में पृथ्वी पर शयन करना चाहिये।

गुण—यंत्र को पास में रख कर ४था काव्य ऋद्धि तथा मंत्र द्वारा २१ कंकरियों को लेकर प्रत्येक कंकड़ी ७ बार मंत्र कर जल में डालने से मछलियां तथा जलजन्तु जाल में नहीं फँसते। मंत्र-आराधक जल मे नही डूबता और तेज बहाव वाले पानी मे बच निकलता है।

◈ इति चतुर्थ काव्य पंचांग विधि सम्पूर्णम् ◈

काव्य ५—ऋद्धि—"ॐ ह्रीं अर्हं नमो अणंतोहि--जिणाणं) झ्रौं झ्रौं नमः स्वाहा ?)"

मंत्र—"ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं क्रौं (क्रों ?) सर्व संकट निवारणेभ्यः सुपार्श्व यक्षेभ्यो नमो नमः स्वाहा ।"

यंत्र—प्रथमे वर्गाकारे क्लींकारोपरि क्लींकारं धारयेत् । द्वितीये च परितः पंचविंशति श्रींकारान् धारयेत् । तेषामुपरि ऋद्धिमंत्रे रक्षेत् । अनन्तरं अन्तिमे वर्गे परितः पंचविंशति झ्रींकारान् विलिख्य यंत्राकृति संपादयेत् ।

विधि—पवित्र होकर पीले वस्त्र पहिने, यंत्र स्थापित कर पूजा करे पश्चात् पीले आसन पर बैठ कर पीले रंग के फूलों द्वारा ७ दिन तक प्रतिदिन १००० बार ऋद्धि तथा मंत्र का शुद्ध भाव से जाप जपे और हर बार कुंदरू की धूप खेवे ।

गुण—यंत्र को पास में रखने और काव्य ऋद्धि मंत्र द्वारा मंत्रित जल को कुएँ में डालने से लाल रंग के कीड़े पैदा नहीं होते । जिसकी आंखों में दर्द हो, भयानक पीड़ा हो उसे सारे दिन भूखा रख कर सायंकाल मंत्र द्वारा २१ बार मंत्रित कर बतासों को जल में घोल कर पिलाने और आंखों पर छींटने से दुख दर्द दूर होता है ।

◇ इति पंचम काव्य पंचांग विधि सम्पूर्णम् ◇

काव्य ६—ऋद्धि—"ॐ ह्रीं अर्हं नमो कुट्ठबुद्धीणं (झ्रौं झ्रौं नमः स्वाहा ?) ।"

मंत्र—ॐ ह्रीं श्रां श्रीं श्रूं श्रः हं सं थ थ (थः थः ?) थः (थः ?) ठः ठः सरस्वती भगवती विद्याप्रसादं कुरु कुरु स्वाहा ।

यंत्र—प्रथम वर्गाकृति मध्ये ल्र्वूंकारोपरि ल्र्वूंस्थापयेत् । पश्चात् द्वितीये वर्गे परितः द्वात्रिंशत् श्रौंकारान् लिखेत् । पुनश्च तृतीये वर्गे परितः ऋद्धिमंत्रे लेखितव्ये । ततः चतुर्थे वर्गे परितः पंचविंशति ह्रौंकारैः संयुक्ता यंत्राकृतिः पूरणीया ।

विधि—पवित्र होकर लाल वस्त्र पहिने, यंत्र स्थापित कर पूजा करे पश्चात् लाल आसन पर बैठ कर २१ दिन तक प्रतिदिन ऋद्धि तथा मंत्र का १००० बार जाप करे । हर बार कुंदरू की धूप क्षेपण करे । दिन में एक बार भोजन और रात में पृथ्वी पर शयन करना चाहिये ।

गुण—६वां काव्य तथा उक्त मंत्र को प्रतिदिन स्मरण करने से तथा यंत्र

को पास में रखने से स्मरण-शक्ति बढ़ती है, विद्या बहुत शीघ्र आती है तथा बिछुड़े हुए व्यक्ति से मिलाप होता है।

◈ इति षष्टम् काव्य पंचांग विधि सम्पूर्णम् ◈

काव्य ७—ऋद्धि—"ॐ ह्रीं अर्हं णमो बीज (बीज ?) बुद्धीणं (झ्रौं झ्रौं नमः स्वाहा ?)।"

मंत्र—"ॐ ह्रीं (श्रीं ?) हं सं (सौं ?) श्रां श्रीं क्रौं (क्रों ?) क्लीं सर्व दुरित संकटक्षुद्रोपद्रवकष्टनिवारणं कुरु कुरु स्वाहा।" "ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं नमः।"

यंत्र—षट्कोणाकृतियंत्रमध्ये "क्ष्म्ल्व्र्यूं" लिखेत्। यंत्रस्य बाह्यकोणे क्रमशः "ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं नमः" इति षडाक्षरान् स्थापयेत्। पुनः वर्गाकृतिं कृत्वा ऋद्धि मंत्रे लिखेत्। पश्चात् षड्विंशति भौंकारान् विलिख्य यंत्रं परिपूरयेत्।

विधि—पवित्र होकर हरे रंग के वस्त्र धारण कर हरे रंग की आसन पर बैठ कर हरी माला से २१ दिन तक प्रतिदिन १०८ बार सातवां काव्य, ऋद्धि तथा मंत्र की जाप जपते हुए लोभान की धूप क्षेपण करना चाहिये।

गुण—भूर्ज पत्र पर हरे रंग से लिखा यंत्र पास में रखने से सर्प विष दूर होता है। दूसरे विष भी प्रभावशील नहीं होते। ऋद्धि-मंत्र द्वारा १०८ बार कंकरी मंत्रित कर सर्प के सिर पर मारने से नाग कीलित हो जाता है।

◈ इति सप्तम् काव्य पंचांग विधि सम्पूर्णम् ◈

काव्य ८—ऋद्धि—"ॐ ह्रीं अर्हं णमो अरिहंताणं (ॐ ह्रीं अर्हं ?) णमो पादाणु सारिणं (सारीणं ?) (झ्रौं झ्रौं नमः स्वाहा ?)।"

मंत्र—"ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रः अ सि आ उ सा अप्रतिचक्रे फट् विचक्राय झ्रौं झ्रौं स्वाहा। पुनः ॐ ह्रीं लक्ष्मणरामचन्द्र देव्यै (नमो ?) नमः स्वाहा।"

यंत्र—अष्टदलकमलाकृतिं कृत्वा कर्णिकामध्ये "क्ष्म्ल्व्र्यूं" स्थापयेत्। दले-दले क्रमशः "ॐ ह्रीं श्रीं स वं सिद्धेभ्यः" इति बीजाक्षराणि लेखितव्यानि। कमलं परितः वर्गं कृत्वा ऋद्धिमंत्रे लिखेत्। तस्योपरि परितः एकोनविंशति यंकारान् लिखित्वा यंत्रं पूर्णं कुर्यात्।

विधि—अरिष्ट (अरीठा) के बीज की माला से २९ दिन तक प्रतिदिन १००० बार ऋद्धि तथा मंत्र का जाप जपते हुए घृत मिश्रित गुग्गल की धूप क्षेपण करना चाहिये। नमक की डली से होम अवश्य करे।

गुण—यंत्र को पास में रखने से तथा आठवां काव्य ऋद्धि मंत्र के आराधन

से सब प्रकार के अरिष्ट (आपत्ति-विपत्ति-पीड़ा आदि) दूर होते हैं। नमक के ७ टुकड़े लेकर एक-एक को १०८ बार मंत्र कर पीड़ित अंग को झाड़ने से पीड़ा दूर होता है।

◆ इति अष्टम् काव्य पंचांग विधि सम्पूर्णम् ◆

काव्य ९—ऋद्धि—"ॐ ह्रीं अर्हं णमो अरिहंताणं णमो संभिण्ण-सोदराणं (सोयाण ?) (ह्रौं ह्रौं नमः स्वाहा ?)।" "ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रः फट् स्वाहा।" "ॐ ऋद्धये नमः।"

मंत्र—"ॐ ह्रीं श्रीं क्रौं (क्रों ?) क्ष्वीं (क्लीं ?) रः रः हं हः नमः स्वाहा।" "ॐ नमो भगवते जय यक्षाय ह्रीं हूं नमः स्वाहा।"

यंत्र—षड्दलकमलं रचयित्वा कर्णिका मध्ये म्ल्व्र्यूं स्थापयेत्। ॐ ऋद्धये नमः इति षडाक्षरैः प्रतिदलं पूरयेत्। तस्योपरि ऋद्धिमंत्रे वेष्टयेत्। ततः पंचविंशति औंकारान् परितः विलिख्य "ॐ नमो भगवते जय यक्षाय ह्रीं हूं नमः स्वाहा" इति मंत्रेण मंत्रवलयं परिवेष्टयेत्।

विधि—नौवां काव्य, ऋद्धि और मंत्र का प्रतिदिन १०८ बार जाप जपना चाहिये।

गुण—इस काव्य, ऋद्धि और मंत्र के बार-बार स्मरण करने तथा यंत्र को पास में रखने से मार्ग में चोर डाकुओं का भय नहीं रहता। चोर-चोरी नहीं कर सकता। ४ कंकड़ियों को लेकर प्रत्येक कंकरी को १०८ बार मंत्र कर चारों दिशाओं में फेंकने से मार्ग कीलित हो जाता है।

◆ इति नवम् काव्य पंचांग विधि सम्पूर्णम् ◆

काव्य १०—ऋद्धि—"ॐ ह्रीं अर्हं णमो सयं-बुद्धीणं (ह्रौं ह्रौं नमः स्वाहा ?)

मंत्र—"ॐ ह्रां ह्रीं ह्रौं ह्रः श्रां श्रीं श्रूं श्रः सिद्ध-बुद्ध कृतार्थो भव-भव वषट् संपूर्ण स्वाहा।"

(जन्मसख्यानतो अन्यतो वा मनोत्कर्ष-श्रुतावाविर्भोर्याणाज्ञाता भावे प्रत्यक्षा बुद्धान्मनो।)

"ॐ ह्रीं अर्हं णमो शत्रुविभाशनाय जय-पराजय उपसर्गहराय नमः।"

यंत्र—दशदलकमलाकृति कृत्वा तन्मध्ये "ह्रूं म्ल्व्र्यूं" स्थापयेत्। प्रतिदलं "ॐ ह्रीं विक्रमाधिपतये नमः" इति मंत्रस्याक्षरान् लिखेत्। पश्चात् वलयं कृत्वा ऋद्धिमंत्रे स्थापयेत्। तस्योपरि परितः सप्तविंशति ह्रींकारान् लिखित्वा

अधस्तन्मंत्रेण परिधिं कुर्यात् । (मंत्रम्)—ॐ ह्रीं अर्हं णमो शत्रुविनाशनाय जय-पराजय उपसर्गहराय नमः ।

विधि—पीले रंग के वस्त्र पहिन कर, पीले रंग की माला से ७ या १० दिन तक प्रतिदिन १०८ बार दशवां काव्य ऋद्धि तथा मंत्र का आराधन करते हुए कुंदरू की धूप क्षेपण करना चाहिये ।

गुण—यंत्र को पास में रखने से कुत्ते के काटने का विष उतर जाता है । नमक की ७ डली लेकर प्रत्येक को १०८ बार मंत्र कर खाने से कुत्ते का विष असर नहीं करता ।

◈ इति दशम् काव्य पंचांग विधि सम्पूर्णम् ◈

काव्य ११—ऋद्धि—"ॐ ह्रीं अर्हं णमो पत्तेय-बुद्धीणं (बुद्धाणं ?) (झ्रौं झ्रौं नमः स्वाहा ?) ।"

मंत्र—"ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं श्रां श्रीं कुमति-निवारिण्यै महामायायै नमः स्वाहा । ॐ नमो भगवते प्रसिद्धरूपाय भक्ति-युक्ताय सां सीं सौं ह्रां ह्रीं ह्रौं क्रौं झ्रौं नमः ।"

यंत्र—द्वादशदलयुक्तस्य कमलस्य मध्ये "क्ष्म्ल्व्र्यूं" लिखितव्यम् । दले-दले ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं श्रां भक्ति (रूप ?) रूपाय नमः इति मंत्रस्याक्षराणि क्रमशः पूरितव्यानि । तदनन्तरं वलयं कृत्वा ऋद्धिमंत्रं लिखेत् । पश्चात् परितः "ॐ नमो भगवते प्रसिद्धरूपाय भक्तियुक्ताय सां सीं सौं ह्रां ह्रीं ह्रौं क्रौं झ्रौं नमः" इत्यनेन मंत्रेण आकृतिं परिपूरयेत् ।

विधि—पवित्र होकर सफेद वस्त्र पहिनकर मंदिर में शुद्ध भावों से पूजा करे । पश्चात् वहीं एकान्त भाग में बैठकर या खड़े होकर प्रसन्न चित्त से सफेद माला द्वारा या लाल रंग की माला से २१ दिन तक प्रतिदिन ११वां काव्य, ऋद्धि तथा मंत्र का १०८ बार आराधन करते हुए कुंदरू की धूप क्षेपण करते रहना चाहिये ।

गुण—यंत्र को पास में रखने से जिसे आप पास बुलाना चाहते हों वह आ जाता है । मुट्ठी भर सफेद सरसों को उक्त मंत्र से १२००० बार मंत्र कर ऊपर उछालकर फेंकने से निश्चय पूर्वक जल वृष्टि होती है ।

◈ इति एकादश काव्य पंचांग विधि सम्पूर्णम् ◈

काव्य १२—ऋद्धि—"ॐ ह्रीं अर्हं णमो बोहि (बोहिय ?) बुद्धीणं (बुद्धाणं ?) (झ्रौं झ्रौं नमः स्वाहा) ।"

मंत्र—' ॐ आं आं अं अः सर्वराजा (रोग ?) प्रजामोहिनी सर्वजनवश्यं कुरु कुरु स्वाहा।" "ॐ नमो भगवते अतुलबलपराक्रमाय आदीश्वर यक्षाधिष्ठाय ह्रां ह्रीं नमः। ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं सिद्धधर्मचिताय क्रौं कौं रं ह्रीं नमः।"

यंत्र—षोडशदलकमलं विरच्य तस्मिन्मध्ये 'क्ष्म्ल्व्र्यूं' स्थापितव्यम्। प्रत्येक दले ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं सिद्धधर्मचिताय क्रौं कौं रं ह्रीं नमः इति मंत्रस्याक्षराणि क्रमशः विलिख्य वर्गः रचितव्यः। तस्योपरि परितः ऋद्धिमंत्रो लिखेत्। पुनश्च परितः ॐ ह्रीं श्रीं नमो अनुदिनं मनुज स्वायाम समीप्यावजामि भूत अलानि स्वरपस्याब्रेनैकै श्री वेचापरपावितानि भावकनिनादेवकं विश्वालधुमुमन मुक्तस्तान बोधितान बुधादानं, इति मंत्रं लिख्यताम्। पुनश्च परितः ॐ नमो भगवते अतुलबल पराक्रमाय आदीश्वर यक्षाधिष्ठाय ह्रां ह्रीं नमः इति मंत्रं विलिख्य यंत्राकृति परिपूरयेत्।

विधि—स्नान करके लाल रंग के वस्त्र पहिनकर लाल रंग की माला द्वारा ४२ दिन तक प्रतिदिन १००० बार ऋद्धि तथा मंत्र का आराधन करते हुए दशांग धूप खेना चाहिये।

गुण—बारहवाँ काव्य ऋद्धि तथा मंत्र स्मरण करने तथा यंत्र को पास में रखने से और १०८ बार तेल को उक्त मंत्र द्वारा मंत्र कर हाथी को पिलाने से उसका मद उतर जाता है। बार-बार मंत्र स्मरण से रूठकर पीहर गई पत्नी वापिस लौट आती है।

◈ इति द्वादश काव्य यंत्रांग विधि सम्पूर्णम् ◈

काव्य १३—ऋद्धि—" ॐ ह्रीं अर्हं नमो ऋजुमदीणं (उजुमईणं ?) (क्रौं क्रौं नमः स्वाहा ?)।"

मंत्र—ॐ ह्रीं श्रीं हं सः ह्रौं ह्रां ह्रीं द्रां द्रीं द्रौं द्रः मोहिनी सर्व (जन) वश्यं कुरु कुरु स्वाहा। ॐ मा (माँ ?) मा (मौं ?) अष्टसिद्धि कौं ह्रौं ह्म्ल्व्र्यूं युक्ताय नमः। ॐ नमो भगवते सौभाग्य रूपाय ह्रीं नमः।

यंत्र—षोडशदलकमलं कृत्वा मध्ये ह्म्ल्व्र्यूं" विलिख्य प्रतिदलं क्रमशः 'ॐ नमो भगवते सौभाग्यरूपाय ह्रीं नमः' एतानि अक्षराणि पूरितव्यानि। अनन्तरं वलयं कृत्वा ऋद्धि मंत्राभ्यां वेष्टयेत्। पुनश्च वलयं कृत्वा "ॐ मा (माँ ?) मा (मौं ?) अष्टसिद्धि कौं ह्रौं 'ह्म्ल्व्र्यूं" युक्ताय नमः" इत्यनेन मंत्रेण यंत्रस्याकृति परिपूर्णां कुर्यात्।

विधि—पवित्र होकर पीले वस्त्र पहिनकर पीली माला द्वारा ७ दिन तक

प्रतिदिन १००० बार ऋद्धि तथा मंत्र का स्मरण करते हुए कुंदरू की धूप क्षेपण करे। दिन में एक बार भोजन व रात में पृथ्वी पर शयन करना चाहिये।

गुण—१३वाँ काव्य ऋद्धि तथा मंत्र के स्मरण से एवं यंत्र पास रखने और ७ कंकरी लेकर हरेक को १०८ बार मंत्र कर चारों दिशाओं में फेंकने से चोर चोरी नहीं कर पाते तथा मार्ग में किसी भी प्रकार का भय नहीं रहता।

◈ इति त्रयोदश काव्य पंचांग विधि सम्पूर्णम् ◈

काव्य १४—ऋद्धि—"ॐ ह्रीं अर्हं णमो विउलमदीणं (मईणं ?) (झ्रौं झ्रौं नमः स्वाहा ?)।"

मंत्र—ॐ (ह्रीं ?) नमो भगवती गुणवती महामानसी स्वाहा।

यंत्र—मुख्य तोरणद्वारस्य रचना क्रियताम्। शीर्षे च 'क्ष्म्ल्व्र्यूं' स्थापयेत्। तस्योपरि "ॐ ह्रीं अर्हं नमो महामानसी स्वाहा" इति मंत्रं लेखनीयम्। पुनश्च सप्तविंशतिकोष्टयुक्त कपाटं रचयेत्। प्रथमेषु पंचकोष्टकेषु पंच ओंकारान्, द्वितीयेषु पंच ह्रींकारान्, तृतीयेषु सप्त रंकारान् चतुर्थेषु पंच श्रींकारान्, पंचमेषु कोष्टकेषु पंच क्लींकारान् लिखेत्। पुनश्च परितः ऋद्धि मंत्राभ्यां द्वारं परिवेष्टतव्यम्।

विधि—पवित्र होकर सफेद वस्त्र धारण कर स्फटिक मणि की माला द्वारा प्रतिदिन तीनों काल १०८ बार चौदहवाँ काव्य, ऋद्धि तथा मंत्र का आराधन करे, दीपक जलावे, धूप प्रक्षेपण करे। गुग्गुल, कस्तूरी, केशर, कपूर, शिलारस, रत्नाञ्जलि, अगर-तगर, धूप, घी आदि से प्रतिदिन होम करना चाहिये।

गुण—यंत्र पास रखने से तथा ७ कंकरी लेकर प्रत्येक को २१ बार मंत्र कर चारों ओर फेंकने से आधि-व्याधि और शत्रु का भय नाश होता है। लक्ष्मी की प्राप्ति होती है तथा बुद्धि का विकास होता है। सरस्वती देवी प्रसन्न होती है।

◈ इति चतुर्दश काव्य पंचांग विधि सम्पूर्णम् ◈

काव्य १५—ऋद्धि—"ॐ ह्रीं अर्हं णमो दसपुव्वीणं (झ्रौं झ्रौं नमः स्वाहा ?)।"

मंत्र—"ॐ नमो भगवती गुणवती सुसीमा पृथ्वी वज्र-श्रृंखला मानसी महामानसी स्वाहा।" "ॐ नमो अचिन्त्यबल-पराक्रमाय सर्वार्थकामरूपाय ह्रां ह्रीं क्रौं (क्रों ?) श्रीं नमः।"

यंत्र—दशदलसंयुक्तमरविन्दं विरच्य तस्याङ्के 'क्ष्म्ल्व्र्यूं' स्थापयेत्। दले-

दले क्रमश: "ॐ अप्रतिचक्राय ह्रीं नमः" लिखेत् । अनन्तरं परिधि कृत्वा तदुपरि ऋद्धिमंत्रं लिखेत् । पुनश्च वलय कृत्वा "ॐ नमो अचिन्त्यबल-पराक्रमाय सर्वार्थ कामरूपाय ह्रां ह्रीं क्रों (क्रों ?) श्रीं नमः" इत्यनेन मंत्रेण यंत्रस्याकृतिं परिपूर्णा कुर्यात् ।

विधि—स्नान करके लाल रंग के वस्त्र धारण कर लाल आसन पर बैठकर मूंगा की लाल माला द्वारा १४ दिन तक प्रतिदिन १५वां काव्य, ऋद्धि तथा मंत्र का स्मरण करते हुए दशांग धूप क्षेपण करना चाहिये तथा प्रतिदिन एकाशन करना चाहिये ।

गुण—उपरोक्त ऋद्धि मंत्र द्वारा २१ बार तेल मंत्र कर मुख पर लगाने से राज-दरबार में प्रभाव बढ़ता है, सन्मान प्राप्त होता है, और लक्ष्मी की प्राप्ति होती है । इस ऋद्धि मंत्र के बारम्बार स्मरण से तथा भुजा पर यंत्र बांधने से वीर्य की रक्षा होती है और स्वप्नदोष कभी नहीं होता ।

◈ इति पंचदश काव्य पंचांग विधि सम्पूर्णम् ◈

काव्य १६—ऋद्धि—"ॐ ह्रीं अर्हं णमो चउदसपुव्वीणं (क्ष्रौं क्ष्रौं नमः स्वाहा ?) ।"

मंत्र—ॐ नमः सु-मंगला सुसीमा नामदेवी सर्वसमीहितार्थं वज्रशृंखलां कुरु कुरु स्वाहा ।

यंत्र—वर्गाकारमध्ये 'ज्म्ल्व्यू' लिखित्वा वर्गाकृतिं रचयेत् । पुनः परितः क्रमशः "**ॐ ब प ह्रीं**" लिखेत् । पश्चात् उत्तरदिशि—"**ॐ ह्रीं जयाय नमः**" पूर्वदिशि—"**ॐ श्रीं विजयाय नमः**" दक्षिणदिशि—"**ॐ क्लीं अपराजिताय नमः**" पश्चिमदिशि च "**ॐ ब्लौं माणिभद्राय नमः**" इत्येतानि मंत्राणि क्रमशः उपरि लिखित्वा पुनश्च वर्गाकृतिं कुर्यात् तथा च ऋद्धिमंत्रं लिखेत् । अनन्तरं वर्गाकृतिमा यंत्रं पूर्णं कुर्यात् ।

विधि—स्नान द्वारा पवित्र होकर ६ दिन तक प्रतिदिन हरे रंग की माला से १००० बार १६वां काव्य ऋद्धि तथा मंत्र स्मरण करते हुए कुंदरू की धूप क्षेपण करना चाहिये ।

गुण—यंत्र को पास में रखने से तथा १०८ बार शुद्ध भावों से ऋद्धि मंत्र का स्मरण कर राज दरबार में पहुँचने पर प्रतिपक्षी पराजित होता है और शत्रु का भय नहीं रहता । पुनश्च इसी ऋद्धि मंत्र द्वारा जल मंत्र कर छींटने से हर प्रकार की अग्नि शान्त हो जाती है ।

◈ इति षोडश काव्य पंचांग विधि सम्पूर्णम् ◈

काव्य १७—ऋद्धि—"ॐ ह्रीं अर्हं णमो अट्ठांग महानिमित्त-कुशलाणं (झ्रौं झ्रौं नमः स्वाहा ?) ।"

मंत्र—"ॐ णमो णमिऊण अट्ठे मट्ठे क्षुद्र विघट्टे क्षुद्रपीड़ां जठरपीड़ां भञ्जय भञ्जय सर्वपीड़ां सर्वरोग निवारणं कुरु कुरु स्वाहा ।" "ॐ नमो अजित शत्रु पराजयं कुरु कुरु स्वाहा ।"

यंत्र—प्रथमं वर्गाकृति रचयेत् । सम्पूर्णो वर्गः षोडशवर्गेषु विभक्तव्यः । प्रत्येककोष्ठमध्ये क्रमशः **"ॐ नमो अजित शत्रु पराजयं कुरु कुरु स्वाहा"** इति मंत्रस्याक्षराणि विलिख्य वर्गोपरि परितः ऋद्धिमंत्रे लिखेत् आकृतिं च पूर्णां कुर्यात् ।

विधि—पवित्र भावों से ७ दिन तक प्रतिदिन सफेद माला द्वारा १००० बार १७वां काव्य, ऋद्धि तथा मंत्र स्मरण करते हुए चंदन की धूप क्षेपण करना चाहिये ।

गुण—यंत्र को बांधने तथा अछूता शुद्ध जल ऋद्धि मंत्र द्वारा २१ बार मंत्र कर पिलाने से उदर की असाध्य पीड़ा वायुगोला, वायुशूल आदि रोग दूर होते हैं ।

◈ इति सप्तदश काव्य पंचांग विधि सम्पूर्णम् ◈

काव्य १८—ऋद्धि—"ॐ ह्रीं अर्हं णमो विउयणयट्ठि (विउव्वणइट्ठि ?) पत्ताणं (झ्रौं झ्रौं नमः स्वाहा ?) ।"

मंत्र—"ॐ नमो भगवते जय विजय मोहय मोहय स्तम्भय स्तम्भय स्वाहा । ॐ नमो शास्त्रज्ञानबोधनाय परमद्धि प्राप्तिजयंकराय ह्रां ह्रीं क्रौं (क्रों ?) श्रीं नमः । ॐ नमो भगवते शत्रुसैन्यनिवारणाय यं यं यं क्षुर विध्वंसनाय नमः क्लीं ह्रीं नमः ।"

यंत्र—कलशाकारं चित्रं विरच्य तन्मध्ये ताराकृतिवत्षट्कोणान् निर्मापयेत् । षटकोणमध्ये ॐ लिखितव्यं । अनन्तरं कोणे कोणे **'ह्रीं परमर्द्धये नमः'** इति अक्षराणि अंकतव्यानि । कलशोपरि परितः ऋद्धिमंत्रे लिखेत् । उपरि च वलयं कृत्वा **ॐ नमो शास्त्र ज्ञान बोधनाय परमद्धि प्राप्तिजयं कराय ह्रां ह्रीं क्रौं श्रीं नमः । ॐ नमो भगवते शत्रुसैन्य निवारणाय यं यं यं क्षुर विध्वंसनाय नमः क्लीं ह्रीं नमः इति मंत्रेण वेष्टयेत् ।**

विधि—पवित्र होकर लाल रंग की माला द्वारा ७ दिन तक प्रतिदिन १००० बार १८वां काव्य, ऋद्धि तथा मंत्र स्मरण करते हुए दशांग धूप क्षेपण करना चाहिये । दिन में एक बार शुद्ध भोजन करना चाहिये ।

गुण—यंत्र को पास में रखने से तथा १०८ बार ऋद्धि मंत्र के स्मरण से शत्रु की सेना का स्तम्भन होता है। इस मंत्र का आराधन करने वाले आराधक के मन में व्यर्थ के संकल्प विकल्प पैदा नहीं होते। चिन्ता, कोप, दुर्ध्यान, मोह, मिथ्यात्व नाश होता है तथा धर्मध्यान में स्थिर चित्त रहता है।

◈ इति अष्टादश काव्य पंचांग विधि सम्पूर्णम् ◈

काव्य १९—ऋद्धि—"ॐ ह्रीं अर्हं णमो विज्जाहराणं (झ्रौं झ्रौं नमः स्वाहा ?)।"

मंत्र—"ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रः य (यः ?) क्ष (क्षः ?) ह्रीं वषट् नमः स्वाहा।"

यंत्र—धनुषाकारं यंत्रं रचयित्वा धनुःप्रत्यंचामध्ये पंच **ह्रीं** समूहं लिखेत्। धनुष्कोणे उत्तरस्यां दिशि—**ह्रंकाराष्टौ**, पूर्वस्यां दिशि—**रंकाराष्टौ**, दक्षिणायां दिशि **यंकाराष्टौ** तथा पश्चिमायां दिशि **क्षंकाराष्टौ** लिखितव्यम्। पुनः वर्गं कृत्वा परितः ऋद्धिमंत्रं लिखेत्।

विधि—प्रतिदिन प्रातःकाल स्नान करके शुद्ध वस्त्र धारण करे तथा मन को एकाग्र करके १९वां काव्य, ऋद्धि तथा मंत्र का १०८ बार स्मरण करना चाहिये।

गुण—यंत्र को पास में रखने से आराधक पर प्रयोग किये हुए दूसरे के मंत्र, विद्या, टोटका, जादू, मूठ आदि का प्रभाव नहीं पड़ता और नाहीं उच्चाटन का भय रहता है। यदि कोई भाग्यहीन पुरुष इस ऋद्धि मंत्र का सतत स्मरण करे तो उसकी आजीविका सुचारु रूप से चलने लगती है। सभी सुख सुविधाएँ उपलब्ध होने लगती है।

◈ इति एकोनविंशति काव्य पंचांग विधि सम्पूर्णम् ◈

काव्य २०—ऋद्धि—"ॐ ह्रीं अर्हं णमो चारणाणं (झ्रौं झ्रौं नमः स्वाहा ?)।"

मंत्र—"ॐ श्रां श्रीं श्रूं श्रः शत्रु-भय-निवारणाय ठः ठः नमः स्वाहा। ॐ नमो भगवते पुत्रार्थसौख्यं कुरु कुरु स्वाहा, ह्रीं नमः।"

यंत्र—अर्द्धचन्द्राकारवर्ती आकृतिं रचयित्वा तस्यां "**ॐ नमो भगवते पुत्राय अर्थसौख्यं कुरु कुरु स्वाहा, ह्रीं नमः** इति मंत्रं लिखितव्यम् अधश्च चतुर्विंशति **यंकारान्** धारयेत्। **अनन्तरं** चापकर्णोपरि **ॐ ॐ श्रीं ॐ श्रीं ॐ ॐ** इति **बीजाक्षराणि** स्थापयेत्। पश्चात् परितः ऋद्धिमंत्रं लिखेत्।

विधि—प्रातः पवित्र होकर शुद्ध वस्त्र पहिनकर यंत्र स्थापित कर पूजा करे

पश्चात् पूर्वाभिमुख बैठकर नौ बार णमोकार मंत्र पढ़े तदुपरान्त २०वाँ काव्य, ऋद्धि तथा मंत्र का १०८ बार स्मरण करते हुए उतने ही सुगंधित सुमन प्रतिदिन चढ़ाना चाहिये।

गुण—यंत्र को पास में रखने से तथा ऋद्धि मंत्र का १०८ बार स्मरण करने से सन्तान की उत्पत्ति होती है, लक्ष्मी का लाभ, सौभाग्य की वृद्धि, विजय प्राप्ति तथा बुद्धि का विकास होता है।

◈ इति विंशति काव्य पंचांग विधि सम्पूर्णम् ◈

काव्य २१—ऋद्धि—"ॐ ह्रीं अर्हं णमो पण्ण-समणाणं (ह्रौं ह्रौं नमः स्वाहा ?)।"

मंत्र—"ॐ नमः श्रीमणिभद्र जय-विजय अपराजिते सर्वसौभाग्यं सर्वसौख्यं कुरु कुरु स्वाहा। ॐ नमो भगवते शत्रुभयनिवारणाय नमः।"

यंत्र—वर्गाकृति षोडशोपवर्गेषु विभज्य प्रत्येककोष्ठे "ॐ नमो भगवते शत्रुभयनिवारणाय नमः" इति मंत्रस्याक्षराणि लेख्यानि। तदुपरि परितः पंचविंशति झंकारान् लिखेत्। पुनश्च वर्गं कृत्वा परितः ऋद्धिमंत्रे लिखित्वा यंत्राकृति परिपूरयेत्।

विधि—पवित्र होकर लाल वस्त्र धारण कर लाल माला द्वारा ४२ दिन तक प्रतिदिन १०८ बार २१वाँ काव्य, ऋद्धि तथा मंत्र का स्मरण करते हुए १०८ पुष्प चढ़ाना चाहिये।

गुण—यंत्र पास में रखने तथा काव्य, ऋद्धि और मंत्र का स्मरण करते रहने से सर्वजन, स्वजन और परिजन अपने अधीन होते हैं—वशीभूत होते हैं।

◈ इति एकविंशति काव्य पंचांग विधि सम्पूर्णम् ◈

काव्य २२—ऋद्धि—"ॐ ह्रीं अर्हं णमो आगास-गामिणं (ह्रौं ह्रौं नमः स्वाहा ?)।"

मंत्र—"ॐ नमो श्री वीरेहिं जृम्भय जृम्भय मोहय मोहय स्तम्भय स्तम्भय अवधारणं कुरु कुरु स्वाहा।"

यंत्र—षट्कलिकायुक्तं प्रसूनं विरच्य तस्य कर्णिकायां नव झंकारान् विलिख्य कलिकासु श्रींकारं, ह्रींकारं, ह्रौंकारं, क्लींकारं, ब्लूंकारं क्रमशः प्रत्येकं नव बारं स्थापयेत्। तदुपरि वर्गं कृत्वा ऋद्धिमंत्रे संस्थाप्य यंत्राकृतिः पूरणीया।

विधि—पवित्र होकर शुद्ध वस्त्र धारण कर यंत्र स्थापित कर उसकी पूजा करे। मंगल कलश रखे, दीपक जलावे, पश्चात् पूर्वाभिमुख बैठकर प्रतिदिन

१०८ बार २२वां काव्य ऋद्धि तथा मंत्र का स्मरण करना चाहिये।

गुण—यंत्र को गले में बांधने से तथा हल्दी की गांठ को २१ बार ऋद्धि मंत्र द्वारा मंत्र कर चबाने से डाकिनी, शाकिनी, भूत, पिशाच, चुड़ैल आदि की बाधायें दूर होती हैं।

◈ इति द्वाविंशति काव्य पंचांग विधि सम्पूर्णम् ◈

काव्य २३—ऋद्धि—"ॐ ह्रीं अर्हं णमो आसी-विसाणं (ह्रौं ह्रौं नमः स्वाहा ?)।"

मंत्र—"ॐ नमो भगवती जयावती मम समीहितार्थं मोक्षसौख्यं कुरु कुरु स्वाहा। ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं सर्व सिद्धाय श्रीं नमः।"

यंत्र—विरच्यमाना वर्गाकृतिः द्वादशोपवर्गेषु विभाज्या। वर्गे वर्गे क्रमशः "ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं सर्वसिद्धाय श्रीं नमः" इति मंत्रस्य बीजाक्षराणि लिखितव्यानि। तदुपरि वर्गं कृत्वा परितः द्वात्रिंशत् रंकारान् लेख्यानि। पुनश्च परितः ऋद्धिमंत्रे विलिख्य यंत्राकृतिः पूरितव्या।

विधि—शुभ योग में पवित्र हो सफेद वस्त्र धारण कर उत्तराभिमुख यंत्र स्थापित कर मंगलकलश रखे, दीपक जलावे, तथा यंत्र की पूजा करे पश्चात् सफेद माला द्वारा ४००० बार ऋद्धि मंत्र का आराधन करके मंत्र सिद्ध करना चाहिये।

गुण—सर्वप्रथम स्वशरीर की रक्षा के लिये १०८ बार २३वां काव्य, ऋद्धि तथा मंत्र स्मरण कर पश्चात् जिसे भूत-प्रेत की बाधा हो उसे यंत्र बांधे तथा मंत्र द्वारा झाड़े तो प्रेत बाधा दूर होती है।

◈ इति त्रयोविंशति काव्य पंचांग विधि सम्पूर्णम् ◈

काव्य २४—ऋद्धि—"ॐ ह्रीं अर्हं णमो दिट्ठि-विसाणं (ह्रौं ह्रौं नमः स्वाहा ?)।"

मंत्र—"स्थावर जंगम वायकृतिमं सकल विषं यद्भक्तेः अप्रणमिताय ये दृष्टि विषयान् मुनीस्ते वड्ढमाण-स्वामी सर्वहितं कुरु कुरु स्वाहा। ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः अ सि आ उ सा झ्रौं झ्रौं स्वाहा।"

यंत्र—चतुःकलिकायुक्तं प्रसूनं रचयित्वा कर्णिकायां ॐ इति कलिकासु च क्रमशः "ह्रीं क्लीं सौं नमः" इति बीजाक्षराणि लेख्यानि। तदुपरि वर्गं कृत्वा परितः ऋद्धिमंत्रं स्थापयेत् यंत्राकृति पूरणीया च।

विधि—पवित्र होकर गेरुवा रंग के वस्त्र पहिने, यंत्र स्थापित कर पूजा

करे, दीपक जलावे, आरती उतारे पश्चात् प्रतिदिन १०८ बार अथवा ७ दिन तक प्रतिदिन १००० बार ऋद्धि-मंत्र का आराधन करना चाहिये।

गुण—२१ बार राख मंत्र कर दुखते हुए शिर पर लगाने से और यंत्र को पास में रखने से आधाशीशी, सूर्यवात, मस्तक का वेग आदि शिर संबंधी सब तरह की पीड़ायें दूर होती हैं।

◎ इति चतुर्विंशति काव्य पंचांग विधि सम्पूर्णम् ◎

काव्य २५—ऋद्धि—"ॐ ह्रीं अर्हं णमो उग्ग-तवाणं (झ्रौं झ्रौं नमः स्वाहा ?)।"

मंत्र—"ॐ ह्रां ह्रीं ह्रौं ह्रः अ सि आ उ सा झ्रौं झ्रौं स्वाहा। ॐ नमो भगवते जय विजयापराजिते सर्वसौभाग्यं सर्वसौख्यं कुरु कुरु स्वाहा।"

यंत्र—षड्कोणाकृति विरच्य प्रत्येककोणे "ॐ नमः परम" इति मध्ये कर्णिकायां च 'पवाय' इति शब्दं स्थापयेत्। तदुपरि वर्गं कृत्वा अष्टाविंशति ह्रूंकारान् लिखेत्। पश्चात् परितः ऋद्धिमंत्रं लिखित्वा यंत्राकृतिः पूरणीया।

विधि—स्नान करके लाल रंग के वस्त्र पहिनकर यंत्र स्थापित कर उसकी पूजा करे, आरती उतारे। रात्रि के समय किसी एकान्त स्थान में निर्भय होकर ४००० बार ऋद्धि मंत्र का स्मरण कर मंत्र सिद्ध करना चाहिये।

गुण—२५वां काव्य ऋद्धि तथा मंत्र के स्मरण एवं यंत्र के पास में रखने से धीज उतरती है नजर उतरती है। दृष्टि दोष से बचता है, अग्नि का प्रभाव नहीं पड़ता तथा मारने के लिए उद्यत शत्रु के हाथ से शस्त्र गिर पड़ता है, वह वार नहीं कर पाता।

◎ इति पंचविंशति काव्य पंचांग विधि सम्पूर्णम् ◎

काव्य २६—ऋद्धि—"ॐ ह्रीं अर्हं णमो दित्त-तवाणं (झ्रौं झ्रौं नमः स्वाहा ?)।"

मंत्र—"ॐ नमो ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं ह्रूं ह्रूं परजन-शान्ति व्यवहारे जयं कुरु कुरु स्वाहा।"

यंत्र—स्वस्तिकाकृतिं विरच्य पूर्वपश्चिमोत्तरदक्षिणदिक्षु क्रमशः मंकार, यंकार श्रींकार विकार सप्त सप्त संख्याभिः पूरयेत्। तदनन्तरं स्वस्तिकं वर्गेण वेष्टितव्यं उपरि च परितः ऋद्धिमंत्रं विलिख्य यंत्राकृतिः पूरितव्या।

विधि—स्नान करके लाल रंग के वस्त्र धारण कर उत्तराभि मुख यंत्र स्थापित करें, आरती उतारें, यंत्र का पूजन करें पश्चात् अर्द्ध रात्रि से अपराह्न

काल तक १२००० बार ऋद्धि-मंत्र की जाप जपकर मंत्र सिद्ध करे।

गुण—यंत्र को पास में रखने से तथा ऋद्धि-मंत्र द्वारा १०८ बार तेल मंत्र कर शिर पर लगाने से अर्धकपाली (आधे शिर की पीड़ा) नष्ट होती है। मंत्रित तेल की मालिश तथा मंत्रित जल को पिलाने से प्रसूता की पीड़ा दूर होती है। इस मंत्र के प्रभाव से प्राणान्तक रोग उपस्थित नहीं हो पाते।

◆ इति षट्विंशति काव्य पंचांग विधि सम्पूर्णम् ◆

काव्य २७—ऋद्धि—"ॐ ह्रीं अर्हं णमो तत्त-तवाणं (झ्रौं झ्रौं नमः स्वाहा ?)।"

मंत्र—"ॐ नमो चक्रेश्वरीदेवी चक्रधारिणी चक्रेण-अनुकूलं साधय साधय शत्रून् उन्मूलय उन्मूलय (घे घे ?) स्वाहा। ॐ नमो भगवते सर्वार्थसिद्धाय सुखाय ह्रीं श्रीं नमः।"

यंत्र—विंशत्युपवर्गेषु विभज्यमाना वर्गाकृतिः विरचणीया। प्रत्येक वर्गे क्रमशः "ॐ नमो भगवते सर्वार्थ सिद्धाय सुखाय ह्रीं श्रीं नमः" इति मंत्रस्याक्षराणि लिखितव्यानि। तस्योपरि वर्गं कृत्वा परितः विंशति अंकारान् लिखेत्। पुनः परितः ऋद्धिमंत्रे संस्थाप्य यंत्राकृति पूरय।

विधि—पवित्र होकर काले वस्त्र पहिने, रक्त चन्दन से यंत्र लिख कर स्थापित करे, यंत्र की पूजा करे। पश्चात् २१ दिन तक प्रतिदिन काले रंग की माला से १०८ बार २७ वाँ काव्य, ऋद्धि तथा मंत्र का जाप करते हुए १०८ पुष्प चढ़ाना चाहिये। बिना नमक का एक बार भोजन करना चाहिये। कालीमिर्च की धूप से होम करना आवश्यक है।

गुण—यंत्र को पास में रखने तथा ऋद्धि-मंत्र का बार-बार स्मरण करते रहने से शत्रु मंत्र आराधना में कोई बाधा नहीं पहुँचा सकता। वह पराजित हो जाता है।

◆ इति सप्तविंशति काव्य पंचांग विधि सम्पूर्णम् ◆

काव्य २८—ऋद्धि—"ॐ ह्रीं अर्हं णमो महातवाणं (झ्रौं झ्रौं नमः स्वाहा ?)।"

मंत्र—"ॐ नमो भगवते जय विजय, जृम्भय जृम्भय, मोहय मोहय, सर्व-सिद्धि-(सौभाग्यं ?) सम्पत्ति-सौख्यं कुरु कुरु स्वाहा।"

यंत्र—षड्दलकमलं विरच्य कर्णिकायां ओंकारं स्थापयेत्। तदा दले

दले ह्रींकाराम् लिखेत् । तस्योपरि वर्गं कृत्वा परितः षोडश ह्रींकारं लिखेत् । पुनश्च वर्गं कृत्वा ऋद्धिमंत्रे विलिख्य यंत्राकृतिः पूरणीया ।

विधि—पवित्र होकर पीले वस्त्र धारण करे, उत्तर या पूर्वाभिमुख यंत्र स्थापित कर उसकी पूजा करे पश्चात् पीले आसन पर बैठकर पीली माला द्वारा प्रतिदिन १००० बार ऋद्धि मंत्र का आराधन कर १२००० जप पूरा करे। पीले फूल चढ़ावे ।

गुण—यंत्र पास में रखने तथा प्रतिदिन अट्ठाईस वां काव्य ऋद्धि तथा मंत्र के आराधन करते रहने से व्यापार में लाभ, सुख-समृद्धि, यश, विजय, सन्मान तथा राजदरबार में प्रतिष्ठा बढ़ती है ।

◈ इति अष्टाविंशति काव्य पंचांग विधि सम्पूर्णम् ◈

काव्य २९—ऋद्धि—"ॐ ह्रीं अर्हं णमो घोर-तवाणं (झ्रौं झ्रौं नमः स्वाहा ?) ।"

मंत्र—"ॐ णमो णमिऊण पासं विसहर फुलिंग (नागाकार ?) मंतो विसहर नाम रकार मंतो सर्वसिद्धि-मीहे इह समरंताणं मण्णे-जागई कप्पदुमच्चं सर्वसिद्धिः ॐ नमः स्वाहा ।"

यंत्र—त्रिकोणाकारस्य मध्ये यींकारत्रयं स्थापयेत् । वर्गं कृत्वा तस्योपरि परितः वर्णमालायाः षोडश स्वराणि क्रमशः लेख्यानि । पुनरपि वर्गेण वेष्टितं यंत्रं ऋद्धिमंत्राभ्यां पूरितव्यम् ।

विधि—स्नान करके आसमानी रंग के वस्त्र धारण कर उत्तराभिमुख यंत्र स्थापित करे, आरती उतारे, मालती के फूल चढ़ावे, पूजा करे, मंत्र सिद्धि पर्यन्त प्रतिदिन १००० बार ऋद्धि-मंत्र की आराधना करना चाहिये ।

गुण—यंत्र पास में रखने तथा २९वां काव्य ऋद्धि और मंत्र द्वारा १०८ बार मंत्र कर जल पिलाने से नशीले स्थावर पदार्थ जैसे भांग, चरस, धतूरा आदि नशे का प्रभाव दूर होता है तथा दुखती आंख की पीड़ा दूर होती है । बिच्छू का विष भी उतर जाता है ।

◈ इति एकोनत्रिंशत् काव्य पंचांग विधि सम्पूर्णम् ◈

काव्य ३०—ऋद्धि—"ॐ ह्रीं अर्हं णमो घोर-गुणाणं (झ्रौं झ्रौं नमः स्वाहा ?) ।"

मंत्र—"ॐ (ह्रीं श्री पार्श्वनाथाय ह्रीं धरणेन्द्र पद्मावती सहिताय ?) णमो अट्ठे मट्ठे (क्षुद्रविघट्ठे) क्षुद्रान् स्तम्भय स्तम्भय रक्षां कुरु कुरु स्वाहा ।"

यंत्र—वृत्तमध्ये पंचकोष्ठकान् विरच्य तेषु पंच ह्रूंकाराम् स्थापयेत्। तदुपरि पंचदश कमलकर्णिका: विरच्य तासु हंकाराम् लिखेत्। पुनश्च ऋद्धि-मंत्रयो: वलयं विरच्य यंत्राकृतिः पूरणीया।

विधि—स्नान के बाद सफेद वस्त्र धारण कर पूर्वाभिमुख यंत्र स्थापित करें, यंत्र की पूजा करे, सफेद फूल चढ़ावे, आरती उतारे पश्चात् सफेद आसन पर पद्मासन बैठ कर स्फटिकमणि की माला द्वारा प्रतिदिन १००० बार ऋद्धि मंत्र का आराधन कर उसे सिद्ध करना चाहिये।

गुण—उपरोक्त ऋद्धि मंत्र के बारंबार स्मरण करने तथा यंत्र को पास में रखने से शत्रु का स्तम्भन होता है। बियावान वन में चोर सिंहादिक हिंसक पशुओं का भय नहीं रहता। सब प्रकार के भय दूर भाग जाते हैं।

◈ इति त्रिंशति काव्य पंचांग विधि सम्पूर्णम् ◈

काव्य ३१—ऋद्धि—"ॐ ह्रीं अर्हं णमो घोर गुण-परक्कमाणं (झ्रौं झ्रौं नमः स्वाहा ?)।"

मंत्र—ॐ उवसग्गहरं पासं, (पासं ?) वंदामि कम्म-घण-मुक्कं। विसहर विसणिण्णासिणं (णिण्णासं ?) मंगल-कल्लाण-आवासं ॐ ह्रीं नमः स्वाहा।

यंत्र—वर्गाकाररचनायां क्रौंह्रींकारस्य सप्त युग्मानि स्थापयेत्। परितः वर्गं कृत्वा द्वाविंशति नंकाराम् विलिख्य तस्योपरि वर्गाकारे परितः ऋद्धिमंत्रं संस्थाप्य यंत्राकृतिः पूरणीया।

विधि—पवित्र होकर रक्त वर्ण के वस्त्र धारणकर यंत्र स्थापित करे, यंत्र की पूजा करे, जल से परिपूर्ण कलश रखे, पश्चात् उत्तराभिमुख लाल आसन पर पद्मासन लगाकर प्रतिदिन ऋद्धि मंत्र का जाप जपते हुए ७५०० सौ जाप पूरा करे।

गुण—प्रतिदिन १०८ बार ३१वां काव्य, ऋद्धि तथा मंत्र स्मरण करने और यंत्र को पास में रखने से राजदरबार में सन्मान मिलता है—राजा वश में होता है तथा सब तरह के चर्म रोगों से छुटकारा हो जाता है।

◈ इति एकत्रिंशति काव्य पंचांग विधि सम्पूर्णम् ◈

काव्य ३२—ऋद्धि—"ॐ ह्रीं अर्हं णमो घोरगुणबंभचारिणं (बंभयारिणं ?) (झ्रौं झ्रौं नमः स्वाहा ?)।"

मंत्र—"ॐ नमो ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः सर्व-दोष-निवारणं कुरु कुरु स्वाहा। सर्व सिद्धि वृद्धि वांछा (पूर्णं ?) कुरु कुरु स्वाहा।"

यंत्र—वलयमध्ये पंचकोष्ठकान् कृत्वा तेषु पंच ह्रींकारान् स्थापयेत्। तदुपरि वलयं कृत्वा परित: पंचदश सौंकारान् विलिख्य पुनश्च वर्गं कुर्यात्। तस्योपरि परित: ऋद्धिमंत्रे लिखित्वा पुनरपि वर्गेण वेष्टितव्यं यंत्रम्।

विधि—पवित्र होकर पीत वर्ण के वस्त्र धारण कर यंत्र स्थापित करे, पार्श्व भाग में मंगल-कलश रखे, यंत्र की पूजा करे पश्चात् पूर्वाभिमुख पद्मासन लगाकर १००८ बार पीली माला से ऋद्धि-मंत्र जपकर मंत्र सिद्ध करना चाहिये।

गुण—अविवाहित कन्या द्वारा काते हुए कच्चे धागे को ३२ वाँ काव्य, ऋद्धि तथा मंत्र द्वारा २१ बार या १०८ बार मंत्र कर उस धागे को गले में बांधने से और यंत्र को पास में रखने से संग्रहणी आदि उदर की सब तरह की पीड़ायें दूर होती हैं।

◈ इति द्वात्रिंशति काव्य पंचांग विधि सम्पूर्णम् ◈

काव्य ३३—ऋद्धि—"ॐ ह्रीं अर्हं णमो सव्वो (आमो ?) सहि-पत्ताणं (झ्रौं झ्रौं नमः स्वाहा ?)।"

मंत्र—"ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं ब्लूं ध्यान—सिद्धि (सिद्ध ?) परम-योगीश्वराय नमो नमः स्वाहा।"

यंत्र—वर्गाकारमध्ये दशसुत्रिकोणेषु क्लींकारान् लिखित्वा मध्ये ॐकारं लिखेत्। परित: वर्गाकारं विरच्य षोडश ह्रींकारान् स्थापयेत्। तदुपरि परित: ऋद्धिमंत्रे विलिख्य यंत्राकृति: पूरणीया।

विधि—पवित्र होकर धवल वस्त्र धारण कर पूर्वाभिमुख यंत्र स्थापित करे, यंत्र की पूजा-अर्चा करे पश्चात् सफेद आसन पर उत्तराभिमुख बैठ कर सफेद माला द्वारा घृत मिश्रित गुग्गुल की धूप क्षेपण करते हुए १००८ बार ऋद्धि-मंत्र का जाप कर सिद्धि प्राप्त करना चाहिये।

गुण—कुमारी कन्या द्वारा काते हुए कच्चे धागे का गंडा बनाकर और उसे ३३वें काव्य ऋद्धि तथा मंत्र द्वारा २१ बार मंत्र कर बांधने, झाड़ा देने तथा यंत्र पास में रखने से एकांतरा, ताप-ज्वर, तिजारी आदि रोग दूर होते हैं।

◈ इति त्रयस्त्रिंशत काव्य पंचांग विधि सम्पूर्णम् ◈

काव्य ३४—ऋद्धि—"ॐ ह्रीं अर्हं णमो विप्पलो (खेलो ?) सहिपत्ताणं (झ्रौं झ्रौं नमः स्वाहा ?)।"

मंत्र—"ॐ नमो ह्रीं श्रीं (क्लीं ?) ऐं ह्रौं (ह्सौं ?) पद्मावत्यै देव्यै नमो नमः स्वाहा। ॐ प च य म ह्रां ह्रीं नमः।"

यंत्र—नवोपवर्गेषु विभक्तः एकः वर्गः विरचनीयः। प्रति कोष्ठे "ॐ प च य म ह्रां ह्रीं नमः" इति मंत्रस्याक्षराणि क्रमशः पूरणीयानि। तदुपरि वर्गं कृत्वा षोड़श फंकारान् लिखेत्। पुनश्च परितः ऋद्धिमंत्रं संस्थाप्य यंत्राकृतिः पूरणीया।

विधि—पवित्र होकर सफेद रेशमी वस्त्र धारण कर उत्तराभिमुख मंगल-कलश तथा यंत्र की स्थापना कर यंत्र पूजा करे पश्चात् सफेद आसन पर पूर्वाभिमुख पद्मासन लगाकर स्फटिक मणि की माला द्वारा १२००० बार ऋद्धि-मंत्र जपकर सिद्धि प्राप्त करना चाहिये।

गुण—केशरिया रंग से रंगे हुए धागे को १०८ बार ३४वें काव्य, ऋद्धि तथा मंत्र से मंत्रित कर गूगल की धूनी देकर गले में या कटिप्रदेश में बांधने और यंत्र को पास में रखने से गर्भ का स्तम्भन होता है—असमय में गर्भ का पतन नहीं होता।

◈ इति चतुस्त्रिंशति काव्य यंत्रांग विधि सम्पूर्णम् ◈

काव्य ३५—ऋद्धि—"ॐ ह्रीं अर्हं णमो अल्लो-सहिपत्ताणं (झ्रौं झ्रौं नमः स्वाहा ?)।"

मंत्र—"ॐ (ह्रीं अर्हं ?) नमो जय विजय अपराजिते महालक्ष्मी अमृत-वर्षिणी अमृतस्राविणी अमृतं भव भव वषट् सुधायै (सुधाय ?) स्वाहा। ॐ नमो गजगमने सर्वकल्याणमूर्ते रक्ष रक्ष नमः स्वाहा।"

यंत्र—रचनीयं द्वादशदलयुक्तं कमलं। कर्णिकायां ॐकारं विलिख्य दले दले च ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रः ह्र र ह्र र इति मंत्रस्याक्षराणि स्थापयेत्। कमलं वलयेन वेष्टितव्यम्। ततः "ॐ नमो गजगमने सर्व कल्याण-मूर्तये रक्ष रक्ष नमः स्वाहा" इति मंत्रस्याक्षराणि लिखेत्। पुनश्च वर्गं कृत्वा तदुपरि परितः ऋद्धिमंत्रं संस्थाप्य यंत्रं पूर्णं कुर्यात्।

विधि—पवित्र होकर पीले रंग के वस्त्र धारणकर उत्तराभिमुख यंत्र स्थापित करे-यंत्र की पूजा करे, पीले फूल चढ़ावे। दीप प्रज्वलित करे पश्चात् पीले रंग की माला द्वारा ४००० बार ऋद्धि-मंत्र की साधना कर सिद्धि प्राप्त करना चाहिये पीछे प्रतिदिन १०८ बार जाप जपना चाहिये।

गुण—यंत्र पास में रखने और ३५वें काव्य ऋद्धि तथा मंत्र की आराधना

से मरी, मिरगी, चोरी, दुर्भिक्ष, राज्य-भय आदि दूर होते हैं तथा व्यापार में लाभ होता है राज्य में मान्यता होती है, वचन प्रामाणिक माने जाते हैं।

◈ इति पंचत्रिंशति काव्य पंचांग विधि सम्पूर्णम् ◈

काव्य ३६—ऋद्धि—"ॐ ह्रीं अर्हं णमो विप्पो-सहि-पत्ताणं (झ्रौं झ्रौं नमः स्वाहा ?)।"

मंत्र—"ॐ ह्रीं श्रीं कलिकुण्ड-दण्ड-स्वामिन् आगच्छ आगच्छ। आत्ममंत्रान् आकर्षय आकर्षय। आत्ममंत्रान् रक्ष रक्ष। परमंत्रान् छिन्द छिन्द मम समीहितं कुरु कुरु स्वाहा।

यंत्र—विरच्यतामेको वर्गः विभक्तः षोडशोपवर्गेषु पूर्यतां "ॐ ह्रां ह्रीं श्रीं क्लीं ह्रूं ह्र र य म व म ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रः" इति मंत्रस्य षोडशाक्षराणि क्रमशः तेषु तदुपरि वर्ग कृत्वा परितः ऋद्धि मंत्रे विलिख्य यंत्रं पूर्णं कुर्यात्।

विधि—स्नान करके पीले वस्त्र धारण कर उत्तराभिमुख यंत्र स्थापित कर यंत्र की पूजा पीले फूलों से करे, दीपक जलावे पश्चात् पीले आसन पर पद्मासन लगाकर पीली माला द्वारा १२००० जप पूर्ण कर मंत्र सिद्ध करना चाहिये।

गुण—यंत्र पास में रखने तथा प्रतिदिन १०८ बार ३६वें काव्य ऋद्धि-मंत्र के आराधन से सुवर्णादिक धातुओं के व्यापार में लक्ष्मी का लाभ होता है। राज्य में मान्यता प्राप्त होती है। पांच पंचों में बात प्रमाणिक मानी जाती है।

◈ इति षट्त्रिंशति काव्य पंचांग विधि सम्पूर्णम् ◈

काव्य ३७—ऋद्धि—"ॐ ह्रीं अर्हं णमो सव्वोसहि-पत्ताणं (झ्रौं झ्रौं नमः स्वाहा ?)।"

मंत्र—"ॐ नमो भगवते अप्रतिचक्रे ऐं क्लीं ब्लूं ॐ ह्रीं मनोवांछित-सिद्ध्यै नमो नमः अप्रतिचक्रे ह्रीं ठः ठः स्वाहा।"

यंत्र—वृत्तमध्ये चतुर्दल कमलं विरच्य कर्णिकायां ॐकारं तथा च दले दले "श्रीं ह्रीं क्रौं झ्रौं" इति बीजाक्षराणि लेख्यानि। तदुपरि त्रयोदश ह्रींकाराणां वलयं विरच्यताम्। पुनश्च वर्ग कृत्वा परितः ऋद्धिमंत्रे विलख्य यंत्रं पूर्णं कुर्यात्।

विधि—स्नान करके सफेद वस्त्र धारण कर उत्तराभिमुख यंत्र स्थापित कर उसकी पूजा अर्चा करे पश्चात् धवलासन पर बैठ कर गुग्गुल कपूर केशर

कस्तूरी मिश्रित १००८ गोली बनावे और ऋद्धि-मंत्र का जाप करते हुए एक एक गोली अग्नि में छोड़ता जावे। इस प्रकार मंत्राराधन कर सिद्धि प्राप्त करना चाहिये।

गुण—यंत्र पास में रखने तथा ३७वें काव्य ऋद्धि तथा मंत्र से २१ बार जल मंत्र कर मुख पर छिड़कने से दुष्ट पुरुषों के दुर्वचनों का स्तम्भन होता है, और दुर्जन पुरुष वश में होता है कीर्ति तथा यश की वृद्धि होती है।

◈ इति सप्तत्रिंशति काव्य पंचांग विधि सम्पूर्णम् ◈

काव्य ३८—ऋद्धि—"ॐ ह्रीं अर्हं णमो णवबलीणं (क्रौं क्रौं नमः स्वाहा ?)।"

मंत्र—"ॐ नमो भगवते (अष्ट ?) महा-नाग-कुलोच्चाटिनी काल-दंष्ट्र-मृतको-त्थापिनी पर-मंत्र प्रणाशिनी देवि शासनदेवते ह्रीं नमो नमः स्वाहा। ॐ ह्रीं शत्रुविजयरणरणाग्रे ग्रां ग्रीं ग्रूं ग्रः नमो नमः स्वाहा।"

यंत्र—आयताकारमध्ये खड्गाकारं रचनीयम्। तन्मध्ये "ॐ ह्रीं नमो नमः स्वाहा" इति मंत्रस्याक्षराणि विलिख्य तस्योपरि अधोभागे च "ॐ नमः शत्रुविजयरणरणाग्रे ग्रां ग्रीं ग्रूं ग्रः नमो नमः" इति मंत्रं स्थापयेत्। पुनः परितः एकविंशत्क्रोंकारैः पूर्यताम्। पुनः वर्गं कृत्वा परितः ऋद्धिमंत्रं विलिख्य यंत्रं पूर्णं कुर्यात्।

विधि—पवित्र होकर पीले वस्त्र पहिनकर उत्तराभिमुख यंत्र स्थापित कर यंत्र की पूजार्चा करने के पश्चात् पीले आसन पर बैठकर पीली माला द्वारा १००८ बार ऋद्धि-मंत्र का स्मरण करते हुए मंत्र सिद्ध करना चाहिये।

गुण—३८वां काव्य ऋद्धि तथा मंत्र का बारम्बार आराधन करने और यंत्र को पास में रखने से मदोन्मत्त हाथी वश में होता है और अर्थ की प्राप्ति होती है।

◈ इति अष्टात्रिंशत् काव्य पंचांग विधि सम्पूर्णम् ◈

काव्य ३९—ऋद्धि—"ॐ ह्रीं अर्हं णमो वय (वयण ?) बलीणं (क्रौं क्रौं नमः स्वाहा ?)।"

मंत्र—"ॐ नमो एषु वृत्तेषु (वर्तेषु ?) वर्द्धमान तव भयहरं वृत्ति वर्णायेषु (ते ?) मंत्राः पुनः स्मर्तव्या अतो ना-परमंत्र-निवेदनाय नमः स्वाहा।

यंत्र—एको वर्गः षोडशोपवर्गेषु विभाजनीयः। ॐ नमो भगवते जय विजयंत ह्रां ह्रीं क्लीं श्रीं इति मंत्रस्याक्षराणि प्रत्येक उपवर्गे स्थापयेत्। चतुर्दश क्रौं-

कारान् च वर्गोपरि लिखेत् । पुनश्च तदुपरि परित: ऋद्धिमंत्रं संस्थाप्य यंत्राकृतिं पूर्णां कुर्यात् ।

विधि—पवित्र होकर पीले वस्त्र पहिनकर पूर्वाभिमुख यंत्र स्थापित कर उसकी पूजा करे । पश्चात् पीले आसन पर उत्तराभिमुख बैठकर पीत वर्ण की माला द्वारा १००८ बार ऋद्धि-मंत्र का शुद्ध मन से आराधन करें तथा प्रत्येक मंत्र के बाद गुग्गुल, केशर, कर्पूर, कस्तूरी, घृत मिश्रित धूप को खेते रहना चाहिये ।

गुण—यंत्र को पास में रखने तथा ३९वें काव्य ऋद्धि और मंत्र के स्मरण करने से मार्ग में सर्प, सिंह, बाघ आदि जंगली क्रूर हिंसक पशुओं का भय नहीं रहता तथा विस्मृत रास्ता मिल जाता है और आराधक गन्तव्य स्थान को बिना किसी कष्ट के प्राप्त कर लेता है ।

◈ इति एकोनचत्वारिंशत् काव्य पंचांग विधि सम्पूर्णम् ◈

काव्य ४०—ऋद्धि—"ॐ ह्रीं अर्हं णमो काय-बलीणं (झ्रौं झ्रौं नम: स्वाहा ?) ।"

मंत्र—'ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं ह्रां ह्रीं अग्निमुपशमनं शान्तिं कुरु कुरु स्वाहा । ॐ सौं ह्रीं क्रौं ग्लौं (ल्वौं ? ब्लौं ?) सुंवरपाय (सुंवरबाय ?) नम: ।"

यंत्र—द्वादशदलयुक्तं कमलं विरच्य कर्णिकामध्ये ॐकारं दले दले च "ॐ सौं ह्रीं क्रौं ग्लौं सुंवरपाय नम:" इति मंत्रस्याक्षराणि लेख्यानि । तदुपरि वलयं कृत्वा चतुर्दश सौंकारान् स्थापयेत् । पश्चात् वर्गं कृत्वा परित: ऋद्धिमंत्रं विलिख्य यंत्रं पूर्णं कुर्यात् ।

विधि—पवित्र होकर लाल रंग के वस्त्र पहिनकर पूर्वाभिमुख मंगल कलश तथा उत्तराभिमुख यंत्र स्थापित कर यंत्र की पूजा करे । पश्चात् लाल आसन पर पूर्वाभिमुख बैठकर लाल रंग की माला से ऋद्धि-मंत्र का १२००० बार जप करके मंत्र सिद्ध करना चाहिये ।

गुण—यंत्र को पास में रखने से तथा ४०वें काव्य ऋद्धि एवं मंत्र से २१ बार जल मंत्र कर चारों ओर छिड़कने से अग्नि का भय दूर होता है ।

◈ इति चत्वारिंशत् काव्य पंचांग विधि सम्पूर्णम् ◈

काव्य ४१—ऋद्धि—'ॐ ह्रीं अर्हं णमो खीर (खीरा ?) सवीणं (सवाणं ?) (झ्रौं झ्रौं नम: स्वाहा ?) ।"

मंत्र—"ॐ नमो श्रां श्रीं श्रूं श्रौं श्रः जलदेविकमले पद्महृद निवासिनी (नि ?) पद्मोपरि-संस्थिते सिद्धि देहि मनोवांछितं कुरु कुरु स्वाहा। ॐ ह्रीं आदिदेवाय ह्रीं नमः।"

यंत्र—सांगुलिहस्तं विरच्य अंगुष्ठभागे पंच ॐकारं, तर्जनीमध्ये पंच ह्रींकारं, मध्यमायां पंच श्रींकारं, अनामिकामध्ये पंचक्लींकारं, कनिष्ठकायां च पंचग्लौंकारं, स्थापयेत्। अनन्तरं कर तले "ॐ ह्रीं आदिदेवाय नमः" इति मंत्रं विलिख्य वर्गः क्रियताम्। उपरि च परितः ऋद्धि-मंत्रे संस्थाप्य यंत्राकृतिं पूर्णां कुर्यात्।

विधि—स्नान करके सफेद वस्त्र धारण कर पूर्वाभिमुख यंत्र स्थापित कर उसकी पूजा करे, दीपक जलावे, आरती उतारे। पश्चात् सफेद आसन पर उत्तराभिमुख बैठकर स्फटिकमणि की माला द्वारा ऋद्धि-मंत्र का १२००० बार आराधन कर मंत्र सिद्ध करना चाहिये।

गुण—यंत्र को पास में रखने से तथा ४१वां काव्य ऋद्धि तथा मंत्र का बारम्बार स्मरण करने से राज दरबार में सन्मान मिलता है, प्रतिष्ठा बढ़ती है तथा इसी मंत्र के झाड़ने से विषधर का विष उतरता है। कांस्य-पात्र में जल भरकर १०८ बार मंत्र कर मंत्रित जल पिलाने से विष का प्रभाव दूर हो जाता है।

◈ इति एकचत्वारिंशत् काव्य पंचांग विधि सम्पूर्णम् ◈

काव्य ४२—ऋद्धि—"ॐ ह्रीं अर्हं णमो सप्पि (सव्वोप ?) सवाणं (सवीणं ?) (झ्रौं झ्रौं नमः स्वाहा ?)।"

मंत्र—"ॐ नमो णमिऊण विषधर-विष-प्रणाशन-रोग-शोक-दोष ग्रह कप्प-दुमच्चजायई सुहनाम गहण सकल सुहदे ॐ नमः स्वाहा।"

यंत्र—द्वादशोपवर्गेषु विभक्ता वर्गाकृतिः विरचनीया। प्रत्येक कोष्ठे "ॐ ह्रीं श्रीं बलपराक्रमाय नमः" इति मंत्रस्याक्षराणि स्थापयेत्। तस्योपरि वर्गं कृत्वा परितः सप्तदश वंकारं धारयेत्। पुनश्च परितः ऋद्धिमंत्रे विलिख्य यंत्रं पूर्णं कुर्यात्।

विधि—पवित्र होकर धवल वस्त्र पहिनकर रक्तचंदन से लिखे यंत्र को पूर्वाभिमुख स्थापित करे, यंत्र की पूजा करे, दीपक जलावे, आरती उतारे। पश्चात् रक्त आसन पर उत्तराभिमुख बैठकर लाल रंग की माला द्वारा १२५०० बार ऋद्धि-मंत्र का जाप जपे तथा मंत्र सिद्ध करे।

गुण—यंत्र को भुजा में बांधने तथा ऋद्धि मंत्र का स्मरण करते रहने से भयंकर युद्ध में भी भय उत्पन्न नहीं होता। राजा का क्रोध शान्त होता है और वह पीठ दिखाकर भाग जाता है। चंदा की चांदनी-सी कीर्ति चारों ओर फैलती है।

◈ इति द्विचत्वारिंशत् काव्य पंचांग विधि सम्पूर्णम् ◈

काव्य ४३—ऋद्धि—"ॐ ह्रीं अर्हं णमो महुरसवाणं (सवीणं ?) (झ्रौं झ्रौं नमः स्वाहा ?)।"

मंत्र—"ॐ नमो चक्रेश्वरीदेवी चक्रधारिणी जिन-शासन-सेवाकारिणी क्षुद्रोपद्रव-विनाशिनी धर्मशान्तिकारिणी नमः शान्ति कुरु कुरु स्वाहा।"

यंत्र—विरच्यतां चतुर्दलकमलं। लिख्यतां कर्णिकायां च ॐकारः। तथा च दलेषु "ह्रीं श्रीं नमः" इति लिख्यताम्। वलय वेष्टित पुष्पोपरि पंचदश ध्रूंकारं लिखित्वा पुनश्च वर्गं कृत्वा तदुपरि परितः ऋद्धिमंत्रं संस्थाप्य यंत्राकृतिः पूरणीया।

विधि—स्नान करके शुद्ध स्वच्छ सफेद वस्त्र धारण कर पूर्वाभिमुख यंत्र स्थापित कर यंत्र की पूजा करना चाहिये पश्चात् उत्तराभिमुख सफेद आसन पर बैठकर सफेद माला द्वारा १२५०० बार ऋद्धि-मंत्र का आराधन कर मंत्र सिद्ध करे।

गुण—४३वां काव्य, ऋद्धि तथा मंत्र के स्मरण करने और यंत्र की पूजा करने व उसे पास में रखने से सब प्रकार के भय दूर होते हैं। संग्राम में अस्त्र-शस्त्रों की चोटें नहीं लगतीं तथा राजा द्वारा धन लाभ होता है।

◈ इति त्रिचत्वारिंशत् काव्य पंचांग विधि सम्पूर्णम् ◈

काव्य ४४—ऋद्धि—"ॐ ह्रीं अर्हं णमो अमीयसवाणं (अमियासवीणं ?) (झ्रौं झ्रौं नमः स्वाहा ?)।"

मंत्र—"ॐ नमो रावणाय विभीषणाय कुम्भकरणाय लंकाधिपतये महाबल पराक्रमाय मनश्चिन्तितं (कार्यं ?) कुरु कुरु स्वाहा।"

यंत्र—अष्टदलकमलं विरच्य कर्णिकायां ॐकारं लिखित्वा दलेष्वन्तः झ्रौं-कारं स्थापयेत्। पुनश्च वलयाकारं कृत्वा द्वादश ह्रींकारान् लिखेत्। पश्चात् पुनः वर्गं कृत्वा परितः ऋद्धिमंत्रं संस्थाप्य यंत्राकृतिं पूर्णां कुर्यात्।

विधि—स्नानानन्तर सफेद स्वच्छ वस्त्र धारण कर उत्तराभिमुख यंत्र स्थापित कर यंत्र की पूजा करे, मंगल-कलश रखे, दीपक जलावे, आरती उतारे

पश्चात् धवलासन पर बैठकर स्फटिकमणि की माला द्वारा १००८ बार ऋद्धि-मंत्र का आराधन कर मंत्र सिद्ध करना चाहिये।

गुण—४४वाँ काव्य, ऋद्धि तथा मंत्र की आराधना से तथा यंत्र को अपने पास रखने से आपत्तियाँ दूर होती हैं। समुद्र में तूफान का भय नहीं होता। आसानी से समुद्र पार कर लिया जाता है।

◈ इति चतुश्चत्वारिंशत् काव्य पंचांग विधि सम्पूर्णम् ◈

काव्य ४५—ऋद्धि—"ॐ ह्रीं अर्हं णमो अक्खीण-महाण-साणं (सीणं ?) (झ्रौं झ्रौं नमः स्वाहा ?)।"

मंत्र—"ॐ नमो भगवती क्षुद्रोपद्रव-शान्तिकारिणी रोगकष्टज्वरोपशमनं शान्ति कुरु कुरु स्वाहा। ॐ ह्रीं भगवते भयभीषणहराय नमः।"

यंत्र—षोडशकोष्ठयुक्तं वर्गाकारं रचय। तन्मध्ये "**ॐ ह्रीं भगवते भयभीषण हराय नमः**" इति मंत्रस्याक्षराणि लेख्यानि। अनन्तरं वर्गं कृत्वा तस्योपरि **षोडश झंकाराम्** विलिख्य पुनः वर्गं कृत्वा परितः **ऋद्धिमंत्रं** संस्थाप्य यंत्राकृतिं पूर्णां कुर्यात्।

विधि—पवित्र होकर पीले रंग के वस्त्र पहिनकर दक्षिण दिशा की ओर यंत्र स्थापित कर यंत्र की पूजा करे पश्चात् पीले आसन पर बैठकर पीले रंग की माला द्वारा १००८ बार **ऋद्धिमंत्र** का स्मरण कर मंत्र सिद्ध करना चाहिये।

गुण—४५वाँ काव्य ऋद्धि तथा मंत्र जपने और यंत्र को पास में रखने से तथा उसकी त्रिकाल पूजा करने से अनेक प्रकार की व्याधियों की पीड़ा शान्त होती है और महाभयानक मरण-भय-जलोदर, भगन्दर, गलित कोढ़ आदि शान्त होते हैं तथा उपसर्ग दूर होते हैं।

◈ इति पंचचत्वारिंशत् काव्य पंचांग विधि सम्पूर्णम् ◈

काव्य ४६—ऋद्धि—"ॐ ह्रीं अर्हं णमो वड्ढ-माणाणं (झ्रौं झ्रौं नमः स्वाहा ?)।"

मंत्र—"ॐ नमो ह्रां ह्रीं श्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः ठः ठः (ठः ?) जः जः (जः ?) क्षां क्षीं क्षूं (क्षौं ?) क्षः क्षयः स्वाहा।"

यंत्र—आयताकारमध्ये षट्कोणाकृतिं विरच्य तस्याः मध्ये "**ह्म्ल्व्र्यूं**" स्थापयेत्। कोणे कोणे च **ॐकारं** लिखेत्। तथा आयताकारस्य चतुष्कोणे **श्रीं**-काराम् स्थापयेत्। पश्चात् वर्गं कृत्वा एकोनविंशत् ऐंकाराम् विलिख्य तदुपरि परितः **ऋद्धिमंत्रं** संस्थाप्य यंत्राकृतिः पूरणीया।

विधि—स्नानानन्तर पीले रंग के वस्त्र पहिनकर पूर्वाभिमुख यंत्र स्थापित कर पीले फूलों से यंत्र की पूजा करना चाहिये। मंगल-कलश की स्थापना भी करे, दीपक जलाकर आरती उतारे पश्चात् पीले आसन पर उत्तराभिमुख बैठ कर पीली माला द्वारा ऋद्धिमंत्र का १२००० बार जप पूरा करे तो मंत्र सिद्ध होवे।

गुण—संकट आने पर सतत ४६वां काव्य ऋद्धि तथा मंत्र को जपने और यंत्र को पास में रखने तथा उसकी त्रिकाल पूजा करने से कारागार में लौह शृंखलाओं से बँधा हुआ शरीर बन्धन मुक्त हो जाता है और कैद से छुटकारा होता है। राजा आदि का भय नहीं रहता।

◈ इति षट्चत्वारिंशत् काव्य पंचांग विधि सम्पूर्णम् ◈

काव्य ४७—ऋद्धि—"ॐ ह्रीं अर्हं णमो (लोए ?) सव्व सिद्धायदणाणं (सिद्धाइयारमाणं ?) (सिद्धिदायाणं ?) वड्ढमाणाणं (झ्रौं झ्रौं स्वाहा ?)

मंत्र—"ॐ नमो ह्रां ह्रीं ह्रूं (ह्रौं ?) ह्रः य क्ष श्रीं ह्रीं फट् स्वाहा।" ॐ नमो भगवते उन्मत्तभय हराय नमः।

यंत्र—षोडशकोष्ठयुक्तं वर्गं रचयेत्। प्रति कोष्ठं **"ॐ नमो भगवते उन्मत्त भय हराय नमः"** इति मंत्रस्याक्षराणि स्थापयित्वा वर्गं च कृत्वा **'भयहर'** इति शब्दं पंचविंशति बारं लिखेत्। पुनश्च वर्गं कृत्वा तदुपरि परितः ऋद्धिमंत्रे संस्थाप्य यंत्राकृति पूरणीया।

विधि—स्नान करके शुद्ध वस्त्र पहिनकर उत्तरदिशाभिमुख यंत्र स्थापित कर उसकी पूजा-अर्चा करना चाहिये। पश्चात् धवल आसन पर पूर्वाभिमुख बैठ कर सफेद माला द्वारा ६००० बार ऋद्धि मंत्र का आराधन कर मंत्र सिद्ध करना चाहिये।

गुण—यंत्र को पास में रखने, यंत्र का अभिषेक कर उसकी पूजा-अर्चा करके ४७वां काव्य ऋद्धि तथा मंत्र का १०८ बार पवित्र भावों के साथ स्मरण करने से विपक्षी शत्रु पर चढ़ाई करने वाले को विजय-लक्ष्मी प्राप्त होती है, शत्रु का नाश और उसके सभी हथियार भोथरे हो जाते हैं, बन्दूक की गोली बरछी आदि के घाव नहीं होते। इसके अतिरिक्त मदोन्मत्त हस्ती, सिंह, दावानल, भयंकर सर्प, समुद्र, महान् रोग तथा अनेक तरह के बन्धनों से छुटकारा हो जाता है।

◈ इति सप्तचत्वारिंशत् काव्य पंचांग विधि सम्पूर्णम् ◈

काव्य ४८—ऋद्धि—"ॐ ह्रीं अर्हं णमो सव्वमाहूणं ॐ णमो भयवदो (भयवं ?) महवि महावीर वड्ढमाणं बुद्धिरिसीणं (श्रौं श्रौं नमः स्वाहा ?)।"

मंत्र—ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः अ सि आ उ सा श्रौं श्रौं स्वाहा। ॐ नमो बंभचारिणे अट्ठारह सहस्त्र सीलांगरथधारिणे नमः स्वाहा।

यंत्र—अष्टदलकमलं विरच्य कर्णिकायां ॐकारं लिखेत्। प्रत्येक दल मध्ये **"ॐ ह्रीं लक्ष्मी प्राप्त्यै नमः"** इति मंत्रस्याक्षराणि लेख्यानि। तदुपरि वलयं पुनश्च षोडशदलयुक्तस्य कमलस्य रचना कुरुत। सर्वेषु दलेषु **श्रौंकारान्** लिखत् पश्चात् वर्गं कृत्वा तदुपरि परितः ऋद्धिमंत्रे संस्थाप्य यंत्राकृतिः पूरणीया।

विधि—स्नान करके पीले रंग के वस्त्र धारण कर उत्तराभिमुख यंत्र स्थापित कर पीले पुष्पों से यंत्र की पूजा करके पीले आसन पर पूर्वाभिमुख बैठ कर पीले रंग की माला द्वारा ४५०० बार अथवा १००००० बार ऋद्धि मंत्र का आराधन ७ महिने में पूर्ण कर मंत्र सिद्ध करना चाहिये।

गुण—प्रतिदिन १०८ बार २१ दिन तक अथवा ४६ दिन तक ऋद्धिमंत्र तथा ४८वां काव्य का स्मरण करने और यंत्र को पास में रखने से मनोवांछित कार्य की सिद्धि होती है। जिसको अपने आधीन करना हो उस व्यक्ति का नाम चिन्तन करने से वह व्यक्ति अपने वश में होता है।

◈ इति अष्टचत्वारिंशत् काव्य पंचांग विधि सम्पूर्णम् ◈

मन्त्रोद्गम

जितने भी है मन्त्र-शास्त्र, सम्पूर्ण लोक में।
उन सब की उत्पत्ति हुई है णमोकार से ।।
जितने भी अक्षर संख्या है श्रुतज्ञान की।
महामन्त्र मे सभी निहित वह हर प्रकार से ।।१।।

सप्त तत्त्व या नव पदार्थ या छह द्रव्यों का।
गुण पर्यायों सहित सार इसमें गर्भित है ।।
बंध-मोक्ष नय निक्षेपादिक द्वादशांग का।
समयसार प्रामाणिक में सम्पूर्ण निहित है ।।२।।

रहा सदा अस्तित्व इसी का धारावाही।
हर तीर्थंकर के शासन में, कल्पकाल में ।।
काल दोष से हुआ कदाचित् क्वचित् लुप्त जो।
दिव्यध्वनि से पुनः प्रकट हो गया हाल में ।।३।।

भस्मीभूत यही करता है सभी पाप-मल।
इसका भी है तर्क युक्त वैज्ञानिक कारण ।।
होती है उत्पन्न धनात्मक और ऋणात्मक।
द्वन्द शक्तियाँ, करते ही इसका उच्चारण ।।४।।

विद्युत् शक्ति प्रकट होती है ज्योतिमयी तब।
चेतन में चिनगारी जैसा चमत्कार ले ।।
कर्म-कलंक जला देती है वह चिनगारी।
जो नियोग पूर्वक जीवन में यह उतार ले ।।५।।

आत्मा का आदेश जनावे वही मन्त्र है।
या कि निजानुभव तक पहुँचावे वही मन्त्र है ।।
मन् ज्ञाने में 'ष्ट्रन' प्रत्यय को लगाइये।
बन जाता व्याकरण रीति से शब्द मन्त्र है ।।६।।

देवनागरी लिपि में जितने बीजाक्षर हैं।
उन सबकी ध्वनियों का उद्गम णमोकार है ।।
स्वर स्वतन्त्र है, इसीलिए तो शक्ति रूप हैं।
व्यंजन बोये गये शक्ति में बीज-सार हैं ।।७।।

महामन्त्र की सभी मातृका ध्वनियों में हैं।
गर्भित व्यंजन एवं स्वर सब वर्णमाल के ।।
ये अनादि हैं, ये अनन्त हैं, अक्षय अक्षर।
पर्ययवाची तीन लोक के, तीन काल के ।।८।।

मारण-मोहन-उच्चाटन ध्वनियों का क्रम है।
जो उत्पादक-ध्रौव्य और व्यय रूप सत्य है ।।
अष्ट कर्म का व्यय करके उपजाता वैभव।
ध्रौव्य रूप अव्यय पद देना परम कृत्य है ।।९।।

शक्ति रूप स्वर और बीज संज्ञक व्यंजन है।
'अच्' एवं 'हल' मिलकर बनते मंत्र-बीज हैं ।।
चमत्कार दिखलाती उन पर मन्त्र-ध्वनियां।
जन्म जरा या मृत्यु-रोग के जो मरीज हैं ।।१०।।

स्वर अक्षरों की शक्ति

व्यंजन और स्वरों से मिलकर मंत्र-बीज बनते हैं।
बीज-शक्ति के ही प्रभाव से, मंत्र-भाव छनते हैं ।।
पृथ्वी-पावक-पवन-पय: नभ, प्रणव बीज की माया।
सारस्वत-भुवनेश्वरी के बीजों को समझाया ।।

अ अव्यय सूचक, शक्ति प्रदायक, प्रणव बीज का कर्ता।
शुद्ध बुद्ध सद्ज्ञान रूप, एकत्व आत्म में भर्ता ।।

आ सारस्वत का जनक यही है, शक्ति बुद्धि परिचायक।
माया बीज सहित होता है, यह धन-कीर्ति प्रदायक ।।

इ गति का सूचक, अग्नि-बीज का, जनक लक्ष्मी साधक ।
कोमल कार्य सिद्ध करता है, कठिन कार्य में बाधक ।।

ई अमृत-बीज यह स्तम्भक है, कार्य साधने वाला ।
सम्मोहक, जृम्भण करता, "ई" ज्ञान बढ़ाने वाला ।।

उ उच्चाटन का मंत्र-बीज यह, बहुत शक्तिशाली है ।
उच्चाटन का श्वांस नली से शक्ति मारने वाली है ।।

ऊ उच्चारण के सम्मोहन के बीजों का यह मूल मंत्र है ।
बहुत शक्ति को देने वाला, यह विध्वंसक कार्य तंत्र है ।।

ऋ ऋद्धि-सिद्धि को देने वाला, शुभ कार्यों में उपयोगी ।
बीजभूत इस अक्षर द्वारा कार्य सिद्धि निश्चित होगी ।।

लृ वाणी का संहारक है यह, किन्तु सत्य का संचारक ।
आत्म-सिद्धि में कारण बनता, लक्ष्मी बीज यही कारक ।।

ए पूर्ण अटलता लाने वाला, पोषन संवर्द्धन करता ।
'ए' बीजाक्षर शक्ति युक्त हो सभी अरिष्ट हरण करता ।।

ऐ वशीकरण का जनक बीज यह, ऋण विद्युत का उत्पादक ।
वारि बीज को पैदा करता, यह उदात्त सुख सम्पादक ।।
इसके द्वारा ही होता है, शासन देवों का आह्वान ।
कितना ही हो कठिन काम, पर इससे हो जाता आसान ।।

ओ लक्ष्मी पोषक, माया बीजक, सुष्ठु वस्तुएँ करे प्रदान ।
अनु-स्वरान्त का सहयोगी है, कर्म-निर्जरा-हेतु प्रधान ।।

औ मारण में या उच्चाटन में, शीघ्र कार्य-साधक बलवान ।
निरपेक्षी है स्वयं बीज यह, कई बीजों का मूल प्रधान ।।

अं "अं" अभाव का सूची है, शून्याकाश बीज परतंत्र ।
मृदुल शक्तियों का उद्घाटक, कर्माभावी है यह मंत्र ।।

अः शान्ति-बीज में प्रमुख बीज यह, रहता नहीं स्वयं निरपेक्ष ।
सहयोगी के साथ साधता, कार्य हमारे सभी यथेच्छ ।।

व्यञ्जन अक्षरों की शक्ति

क् [व्यंजन]+अ [स्वर]="क" बीजाक्षर [मंत्र-बीज]
भोग और उपभोग जुटावै, साधै यही काम-पुरुषार्थ।
यही प्रभावक शक्ति बीज है, संततिदायक वर्ण यथार्थ॥

ख् [व्यंजन]+अ [स्वर]="ख" बीजाक्षर [मंत्र-बीज]
उच्चाटन बीजों का दाता, यह आकाश-बीज है एक।
किन्तु अभाव कार्यों के हित, कल्पवृक्ष सम है यह नेक॥

ग् [व्यंजन]+अ [स्वर]="ग" बीजाक्षर [मंत्र-बीज]
पृथक-पृथक यदि करना चाहो, तो इसका उपयोग करो।
प्रणव और माया बीजों का, पर इससे संयोग करो॥

घ् [व्यंजन]+अ [स्वर]="घ" बीजाक्षर [मंत्र-बीज]
यह स्तम्भक बीज विघ्न का, मारण करने वाला है।
सम्मोहक बीजों का दाता, रोक मिटाने वाला है॥

ङ् [व्यंजन]+अ [स्वर]="ङ" बीजाक्षर [मंत्र-बीज]
स्वर से मिलकर फल देता है, करता है रिपुओं का नाश।
यह विध्वंसक बीज जनक है, सभी मातृकाओं में वास॥

च् [व्यंजन]+अ [स्वर]="च" बीजाक्षर [मंत्र-बीज]
उच्चाटन बीजों का दाता, खंड शक्ति कहलाता है।
अंगहीन है स्वयं स्वरों पर, अपना फल दिखलाता है॥

छ् [व्यंजन]+अ [स्वर]="छ" बीजाक्षर [मंत्र-बीज]
छाया सूचक बन्धन-कारक, माया का सहयोगी है।
जल बीजों का जनक यही है, मृदुल कार्य फल भोगी है॥

ज् [व्यंजन]+अ [स्वर]="ज" बीजाक्षर [मंत्र-बीज]
आधि-व्याधि का उपशम करके, साधै सारे कार्य नवीन।
यह आकर्षक बीज जनक है, शक्ति बढ़ाने में तल्लीन॥

झ् [व्यंजन] + अ [स्वर] = "झ" बीजाक्षर [मंत्र-बीज]
इस पर रेफ लगा दोगे तो, आधि-व्याधि हो जाय समाप्त ।
श्री बीजों का जनक यही है, शक्ति इसी से होती प्राप्त ।।

ञ् [व्यंजन] + अ [स्वर] = "ञ" बीजाक्षर [मंत्र-बीज]
यही जनक है मोह बीज का, स्तम्भन का माया का ।
यही साधना का अवरोधक, बीजभूत है काया का ।।

ट् [व्यंजन] + अ [स्वर] = "ट" बीजाक्षर [मंत्र-बीज]
अग्नि-बीज है अतः अग्नि से, सम्बन्धित है जितने कार्य ।
इसके उच्चारण से पावक, जल्दी बुझती है अनिवार्य ।।

ठ् [व्यंजन] + अ [स्वर] = "ठ" बीजाक्षर [मंत्र-बीज]
अशुभ कार्य का सूचक है यह, मंजुल कार्य न सफलीभूत ।
शान्ति भंग कर रुदन मचाता, कठिन कार्य को करे प्रसूत ।।

ड् [व्यंजन] + अ [स्वर] = "ड" बीजाक्षर [मंत्र-बीज]
शासन देवी की शक्ती को, यही फोड़ने वाला है ।
निम्न कोटि की कार्य सिद्धि को, यही जोड़ने वाला है ।।
जड़ की क्रिया साधना है यह, हों खोटे आचार-विचार ।
पंच-तत्त्व के भौतिक संयोगों का करता है विस्तार ।।

ढ् [व्यंजन] + अ [स्वर] = "ढ" बीजाक्षर [मंत्र-बीज]
यह निश्चित है माया बीजक, एवं मारण बीज प्रधान ।
शान्ति विरोधी मूल मंत्र है, शक्ति बढ़ाने में बलवान ।।

ण् [व्यंजन] + अ [स्वर] = "ण" बीजाक्षर [मंत्र-बीज]
नभ बीजों मे यही मुख्य है, शक्ति प्रदायक स्वय प्रशान्त ।
ध्वंसक बीजों का उत्पादक, महाशून्य एवं एकान्त ।।

त् [व्यंजन] + अ [स्वर] = "त" बीजाक्षर [मंत्र-बीज]
आकर्षक करवाने वाला, साहित्यिक कार्यों मे मित्र ।
आविष्कारक यही शक्ति का, सरस्वती का रूप-प्रसिद्ध ।।

थ् [व्यंजन] + अ [स्वर] = "थ" बीजाक्षर [मंत्र-बीज]
मंगल कारक लक्ष्मी बीजों का, बन जाता सहयोगी ।
अगर स्वरों मे मिल जाये तो, मोहकता जाग्रत होगी ।।

द् [**व्यंजन**] + **अ** [**स्वर**] = **"द" बीजाक्षर** [**मंत्र-बीज**]
आत्मशक्ति को देने वाला. वशीकरण यह बीज प्रधान।
कर्म-नाश में उपयोगी है, करे धर्म आदान-प्रदान ॥

ध् [**व्यंजन**] + **अ** [**स्वर**] = **"ध" बीजाक्षर** [**मंत्र-बीज**]
धर्म साधने में अचूक है, श्रीं क्लीं करता धारण।
मित्र समान सहायक है यह, माया बीजों का कारण ॥

न् [**व्यंजन**] + **अ** [**स्वर**] = **"न" बीजाक्षर** [**मंत्र-बीज**]
आत्म-सिद्धि का सूचक है यह, वारि तत्त्व रचने वाला।
आत्म-नियन्ता वृष्टि सृष्टि में, एक मात्र नचने वाला ॥

प् [**व्यंजन**] + **अ** [**स्वर**] = **"प" बीजाक्षर** [**मंत्र-बीज**]
परमातम को दिखलाता है, विद्यमान इसमें जल-तत्त्व।
सभी कार्यों में रहता है, इसका अपना अलग महत्त्व ॥

फ् [**व्यंजन**] + **अ** [**स्वर**] = **"फ" बीजाक्षर** [**मंत्र-बीज**]
वायु और जल तत्त्व युक्त है, बड़े कार्य कर देता सिद्ध।
स्वर को जोड़ो रेफ लगा दो, हो प्रध्वंसक यही प्रसिद्ध ॥
इसके साथ अगर फट् बोलो, तो उच्चाटन हो जाएगा।
कठिन कार्य भी सफल करेगा, विघ्न शमन हो जाएगा ॥

ब् [**व्यंजन**] + **अ** [**स्वर**] = **"ब" बीजाक्षर** [**मंत्र-बीज**]
अनुस्वार इसके मस्तक पर आकर विघ्न विनाश करे।
स्वयं सफलता का सूचक बन, सबको अपना दास करे ॥

भ् [**व्यंजन**] + **अ** [**स्वर**] = **"भ" बीजाक्षर** [**मंत्र-बीज**]
मारक एवं उच्चाटक है, सात्त्विक कार्य निरोधक है।
कल्याणों से दूर साधना, लक्ष्मी बीज निरोधक है ॥

म् [**व्यंजन**] + **अ** [**स्वर**] = **"म" बीजाक्षर** [**मंत्र-बीज**]
लौकिक एवं पारलौकिकी सफलताएँ इससे मिलतीं।
यह बीजाक्षर सिद्धि प्रदाता, संतति की कलियाँ खिलतीं ॥

य् [**व्यंजन**] + **अ** [**स्वर**] = **"य" बीजाक्षर** [**मंत्र-बीज**]
मित्र मिलन में, इष्ट प्राप्ति में, यह बीजाक्षर उपयोगी।
ध्यान-साधना में सहकारी, सात्त्विकता इससे होगी ॥

र् [व्यंजन] + अ [स्वर] = "र" बीजाक्षर [मंत्र-बीज]
अग्नि-बीज यह कार्य-प्रसाधक, शक्ति सदा देने वाला।
जितने भी हैं प्रमुख बीज यह, उन सब को जनने वाला॥

ल् [व्यंजन] + अ [स्वर] = "ल" बीजाक्षर [मंत्र-बीज]
लक्ष्मी लावे, मंगल गावे, श्रीं बीज का सहकारी।
लाभ करावे, सुख पहुँचावे, परम सगोत्री उपकारी॥

व् [व्यंजन] + अ [स्वर] = "व" बीजाक्षर [मंत्र-बीज]
भूत पिशाचिन-शाकिन, डाकिन सबको दूर भगाता है।
ह्, र् एवं अनुस्वार से मिल जादू सा दिखलाता है॥
लौकिक इच्छा पूरी करता, सब विपत्तियाँ देता रोक।
मंगल-साधक सारस्वत है, आकर्षित होता सब लोक॥

श् [व्यंजन] + अ [स्वर] = "श" बीजाक्षर [मंत्र-बीज]
शान्ति मिला करती है इससे, किन्तु निरर्थक है यह बीज।
स्वयं उपेक्षा धर्मयुक्त है, अति साधारण यह मायीज॥

ष् [व्यंजन] + अ [स्वर] = "ष" बीजाक्षर [मंत्र-बीज]
आह्वान बीजों का दाता, है जल-पावक स्तम्भक।
आत्मोन्नति से शून्य भयंकर, रुद्र-बीज का उत्पादक॥
रौद्र और बीभत्स रसों में भी प्रयुक्त यह होता है।
ध्वनि सापेक्ष ग्रहण करता है, संयोगी सुख बोता है॥

स् [व्यंजन] + अ [स्वर] = "स" बीजाक्षर [मंत्र-बीज]
सर्व समीहित साधक है यह, सब बीजों में अति उपयुक्त।
शान्ति प्रदाता कामोत्पादक, पौष्टिक कार्यों हेतु प्रयुक्त॥
ज्ञानावरणी और दर्शनावरणी कर्म हटाता है।
क्लीं बीज का सहयोगी यह, आत्मा प्रकट दिखाता है॥

ह् [व्यंजन] + अ [स्वर] = "ह" बीजाक्षर [मंत्र-बीज]
मंगल कार्यों का उत्पादक, पौष्टिक सुख सन्तान करे।
है स्वतन्त्र पर सहयोगार्थी, लक्ष्मी प्रचुर प्रदान करे॥
अनुस्वार यदि इस पर होवे, तो फिर इसी बीज की जाप।
नव तत्त्वों से मिलकर धोता, पाप और कर्मों के शाप॥

विविध यन्त्रालोक

(चतुर्थ-खण्ड)

पहला भक्तामर-यंत्र : सर्वोपद्रव-संहारक

दूसरा भक्तामर-यंत्र : सर्वविघ्न-विनाशक

तीसरा भक्तामर-यंत्र : शत्रुदृष्टि-बन्धक

चौथा भक्तामर-यंत्र : जलजन्तु अभय-प्रदायक

पांचवां भक्तामर-यंत्र : लोचनकष्ट-मोचक

छठवां भक्तामर-यंत्र : वियुक्तव्यक्ति-संयोजक

सातवाँ भक्तामर-यंत्र : भुजंगविष-उपशामक

आठवाँ भक्तामर-यंत्र : सर्वारिष्ट-संहारक

नवमा भक्तामर-यंत्र : दस्युतस्कर चौरभय-विवर्जक

दशवाँ भक्तामर-यंत्र : उन्मत्त श्वान-विष-विनाशक

ग्यारहवां भक्तामर-यंत्र : इष्टव्यक्ति-आमंत्रक
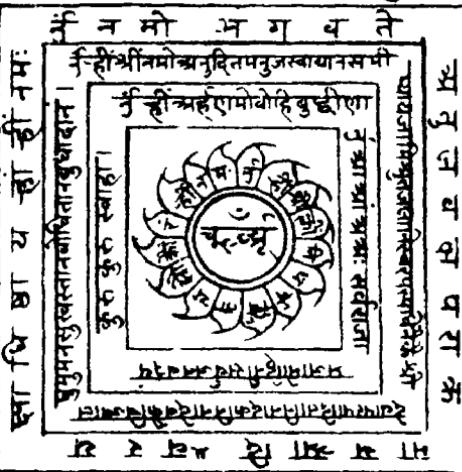
बारहवां भक्तामर-यंत्र : मदोन्मत्त हस्तिमद-मारक

तेरहवाँ भक्तामर-यंत्र : विविध भय-निवारक
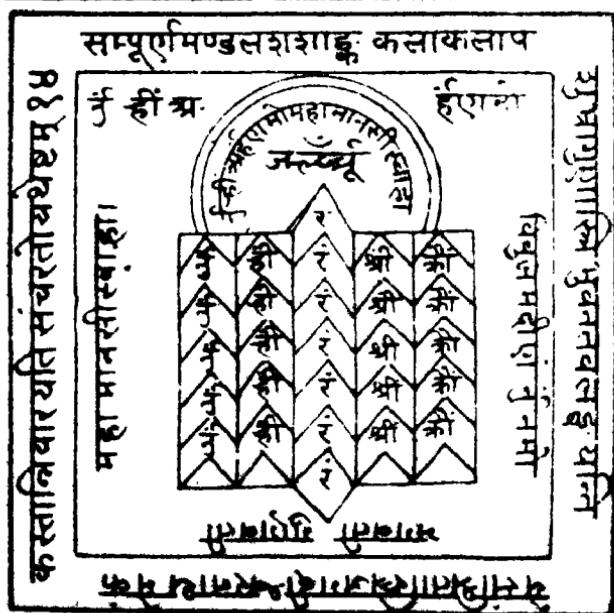
चौदहवाँ भक्तामर-यंत्र : वात-व्याधि-विघातक

पन्द्रहवाँ भक्तामर-यंत्र : राज्य-वैभव-प्रदायक
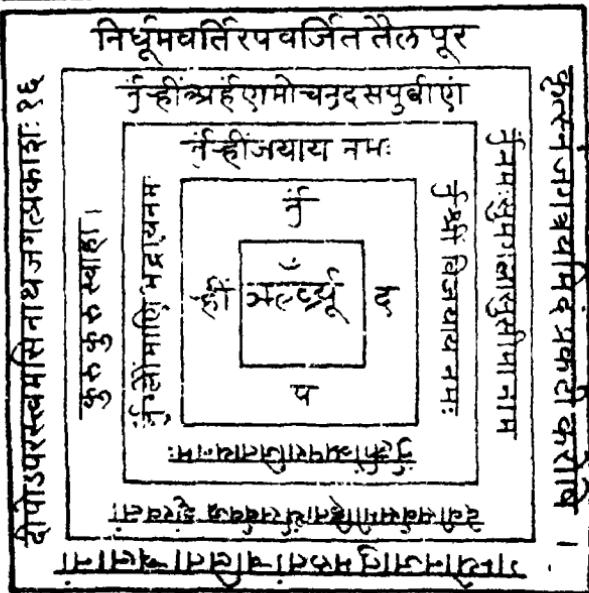
सोलहवाँ भक्तामर-यंत्र : प्रतिद्वन्द्वी प्रताप-अवरोधक

सत्तरहवाँ भक्तामर-यंत्र : ज्वरव्याधि-विघातक
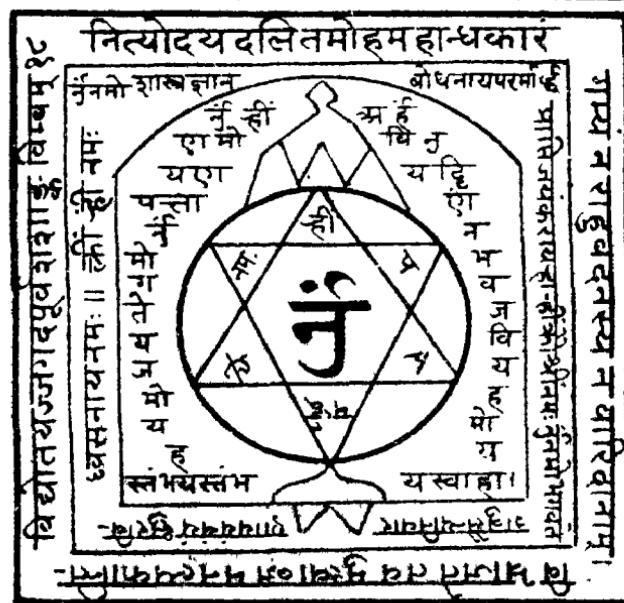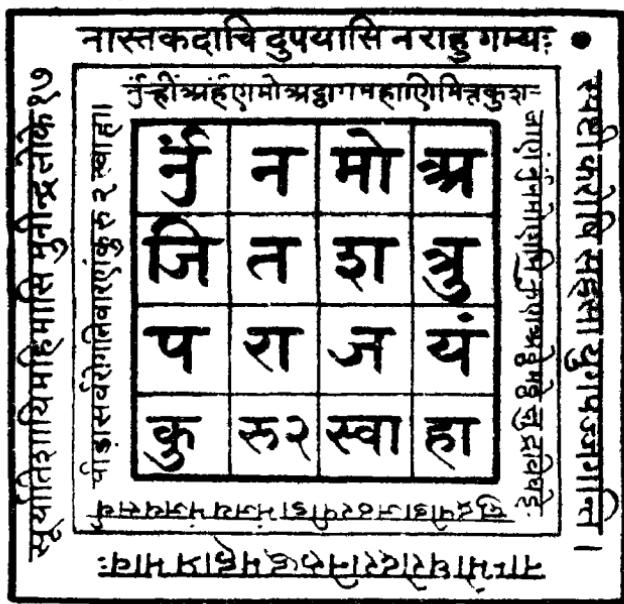
अठारहवाँ भक्तामर-यंत्र : शत्रु-सैन्य-स्तम्भक

उन्नीसवां भक्तामर-यंत्र : तन्त्र-प्रभाव-उच्चाटक

बीसवां भक्तामर-यंत्र : विजय-लक्ष्मी-प्रदायक

इक्कीसवां भक्तामर-यंत्र : सर्वाधीन-कारक

बाइसवां भक्तामर-यंत्र : व्यन्तरादि-भय-नाशक

तेईसवाँ भक्तामर-यंत्र : प्रेत-बाधा-पलायक

चौबीसवाँ भक्तामर-यंत्र : शीर्ष-पीड़ा-निवारक

पच्चीसवाँ भक्तामर-यंत्र : अग्निताप-शामक

छब्बीसवाँ भक्तामर-यंत्र : प्रसूतिवेदना-विनाशक

उन्तीसवाँ भक्तामर-यंत्र : वृश्चिक-विष-विदारक

तीसवाँ भक्तामर-यंत्र : शत्रु सिंहादिक-भय-स्तम्भक

इकतीसवाँ भक्तामर-यन्त्र : यशस्कीर्ति:विधायक

बत्तीसवाँ भक्तामर-यन्त्र : संग्रहणी-ज्वर-पीड़ा-संहारक

तेतीसवाँ भक्तामर-यन्त्र : तापज्वर-शमनकारक

चौंतीसवाँ भक्तामर-यन्त्र : भ्रूण-संरक्षक

पैंतीसवां भक्तामर-यन्त्र : प्रकृति-प्रकोप-प्रहारक

उन्निद्रहेमनवपङ्कजपुञ्जकान्ती

ॐ ह्रीं अर्हं णमो विप्पोसहिपत्ताणं ॐ ह्रीं

ॐ	ह्रां	ह्रीं	श्रीं
प	ह्रां	ह्रीं	क्लीं
च	ह्रः	ह्रूं	ह्रूं
म	य	र	ह
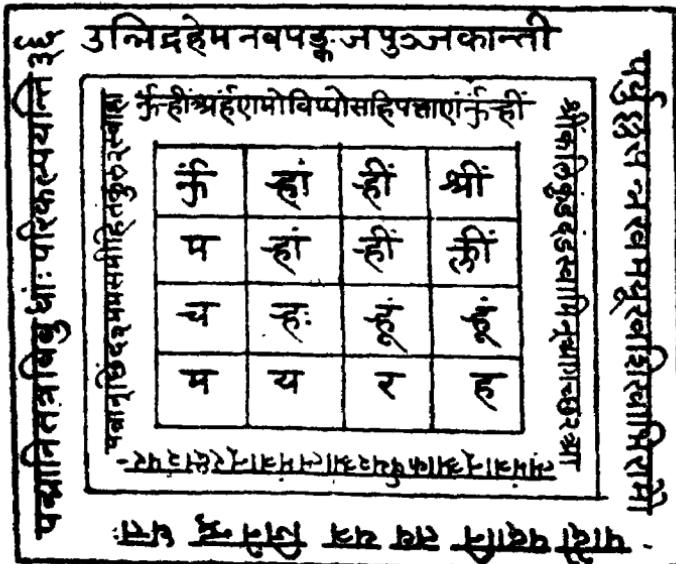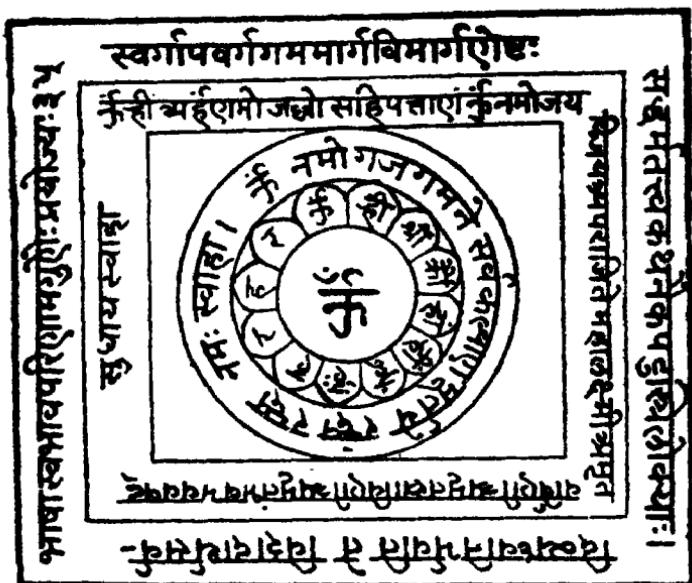
छत्तीसवां भक्तामर-यन्त्र : सर्वसम्पत्ति लाभदायक

सैंतीसवाँ भक्तामर-यन्त्र : दुष्ट-वचन-अवरोधक

अड़तीसवाँ भक्तामर-यन्त्र : मदोन्मत्तगज-वशीकरण

उन्तालीसवाँ भक्तामर-यन्त्र : सन्मार्ग-दर्शक

चालीसवाँ भक्तामर-यन्त्र : अग्निप्रकोप-शामक

इकतालीसवाँ भक्तामर-यन्त्र : विष-प्रभाव-प्रतिरोधक
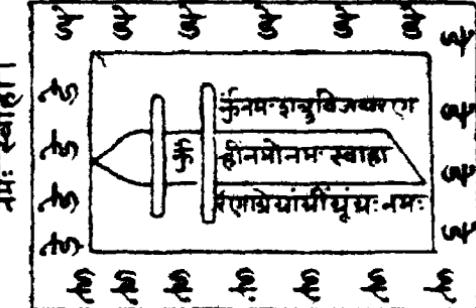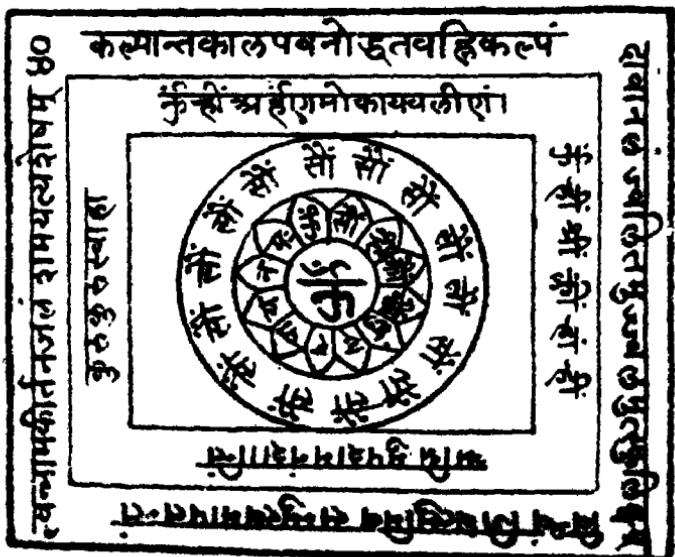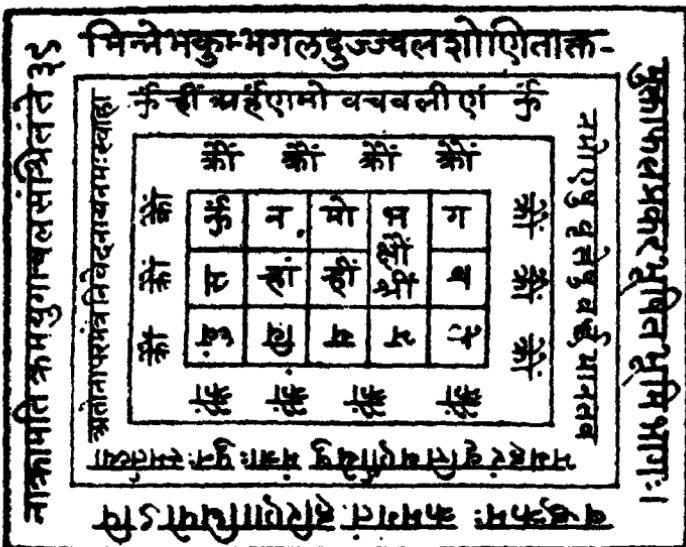
ब्यालीसवाँ भक्तामर-यन्त्र : युद्ध-भयरोधक
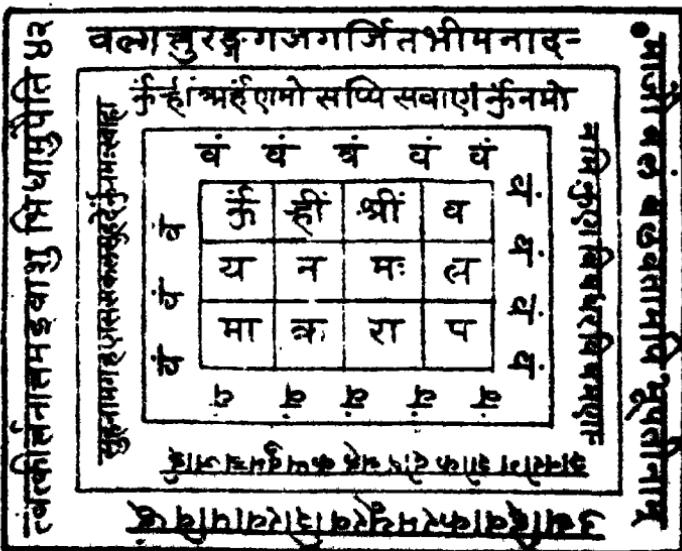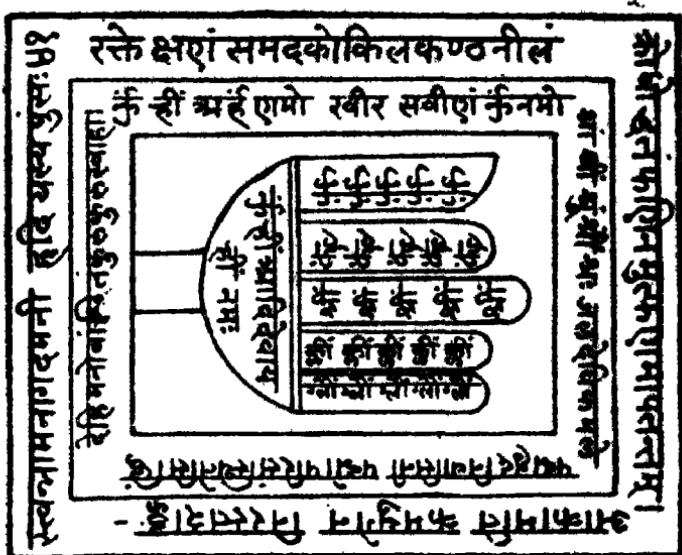
तेतालीसवाँ भक्तामर-यन्त्र : अस्त्र-शस्त्र प्रभावहीन-कारक

चवालीसवाँ भक्तामर-यन्त्र : प्रलय-तूफान भय-नाशक

पैंतालीसवाँ भक्तामर-यन्त्र : असाध्य रोगान्तक
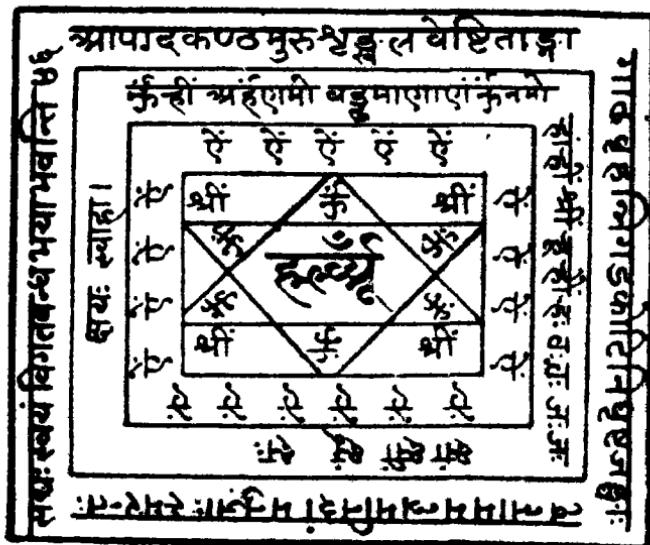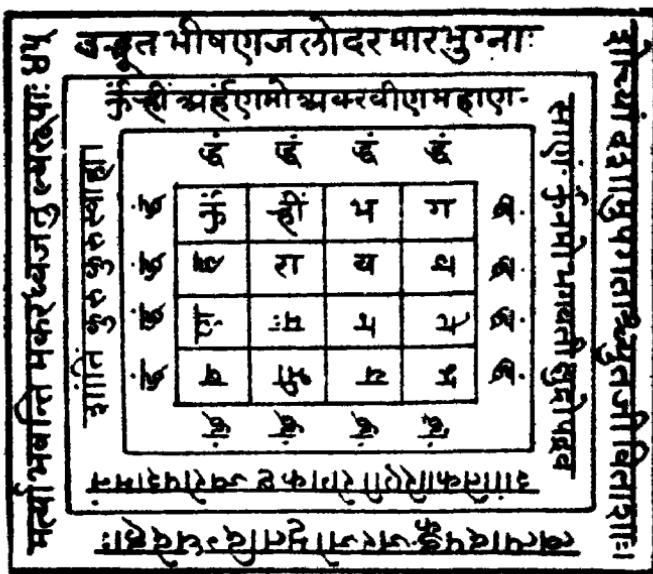
छियालीसवाँ भक्तामर-यन्त्र : कारागार बन्ध विमोचक

संतालीसवाँ भक्तामर-यन्त्र : अस्त्र-शस्त्र निष्क्रिय कारक

मत्तद्विपेन्द्रमृगराजदवानलाहि-

ॐ अर्हं णमो वड्ढमाणाणं ।

अड़तालीसवाँ भक्तामर-यन्त्र : सर्वाधीन-कारक

सरस अर्चनालोक

(पंचम खण्ड)

भक्तामर-महिमा

रचयिता— श्री हीरालाल जी जैन 'कौशल' देहली

श्री भक्तामर का पाठ, करो नित प्रात, भक्ति मन लाई।
सब संकट जायें नशाई।

जो ज्ञान-मान मतवारे थे, मुनि मानतुंग से हारे थे।
उन चतुराई से नृपति लिया बहकाई ।। सब संकट जायें० ।।
मुनि श्री को नृपति बुलाया था, सैनिक आ हुकम सुनाया था।
मुनि वीतराग को आज्ञा नहीं सुहाई ।। सब संकट जायें० ।।
उपसर्ग घोर तब आया था, बल पूर्वक पकड़ मंगाया था।
हथकड़ी बेड़ियों से तन दिया बंधाई ।। सब संकट जायें० ।।
मुनि कारागृह भिजवाये थे, अडतालिस ताले लगाये थे।
क्रोधित नृप बाहर पहरा दिया बिठाई ।। सब संकट जायें० ।।
मुनि शान्त भाव अपनाया था, श्री आदिनाथ को ध्याया था।
हो ध्यान मग्न भक्तामर दिया बनाई ।। सब संकट जायें० ।।
सब बन्धन टूट गए मुनि के, ताले सब स्वयं खुले उनके।
कारागृह से आ बाहर दिये दिखाई ।। सब संकट जायें० ।।
राजा नत होकर आया था, अपराध क्षमा करवाया था।
मुनि के चरणों में अनुपम भक्ति दिखाई ।। सब संकट जायें० ।।
जो पाठ भक्ति से करता है, नित ऋषभ-चरण चित धरता है।
जो ऋद्धि-मंत्र का विधि वत् जाप कराई। सब संकट जायें० ।।
भय-विघ्न उपद्रव टलते हैं विपदा के दिवस बदलते हैं।
सब मन-वांछित हों पूर्ण शान्ति छा जाई ।। सब संकट जायें० ।।
जो वीतराग-आराधन है, आतम-उन्नति का साधन है।
उससे प्राणी का भव बन्धन कट जाई ।। सब संकट जायें० ।।
कौशल सु-भक्ति को पहिचानो-संसार-दृष्टि बन्धन जानो।
लो भक्तामर से आतम-ज्योति प्रकटाई ।। सब संकट जायें० ।।

यंत्र-प्राण-प्रतिष्ठा-मंत्र

ॐ आं क्रों ह्रीं अ सि आ उ सा य र ल व श ष स हं सः (अमुष्य) त्वग्रसास्तमांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्राणिधातवः (अमुष्य) यंत्रस्य कायवाङ्-मनश्चक्षुः श्रोत्र घ्राण मुख जिह्वाः सर्वाणि इन्द्रियाणि शब्द स्पर्श रस गन्ध प्राणापानसमानोदानव्यानाः सर्वे प्राणाः ज्ञानदर्शनप्राणश्च इहैव आशु आगच्छत २ संवौषट् स्वाहा। अत्र तिष्ठत तिष्ठत ठः ठः स्वाहा। अत्र मम सन्निहिता भवत भवत वषट् स्वाहा। अत्र सर्वजनसौख्याय चिरकालं नन्दन्तु वर्धन्तां वज्रमया भवन्तु। अहं वज्रमयान् करोमि स्वाहा।

भक्तामर-यंत्र-पूजा

करोमि विघ्नौघ विनाश हेतु, आह्वानन स्थापन सन्निधानम्।
यन्त्रस्य पूजा विधिनाय सर्वं, रक्षाभिधानस्य मनोमुदे मे॥

ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः अ सि आ उ सा रक्षय रक्षय यंत्रराज एहि एहि संवौषट्॥इत्याह्वाननम्॥

ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः अ सि आ उ सा रक्षय रक्षय यंत्रराज एहि एहि अत्र तिष्ठ तिष्ठ॥ इति स्थापनम्॥

ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः अ सि आ उ सा रक्षय रक्षय यंत्रराज एहि एहि मम सन्निहितो भव भव वषट्॥ इति सन्निधिकरणम्॥

श्रीमत्कनककाञ्चन निर्मितोरु भृंगार नालाद् गलितैः पयोभिः।
यन्त्रस्य विघ्नौघशमाय सर्व-रक्षाभिधानस्य करोमि पूजाम्॥

ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः अ सि आ उ सा अर्हं नमः। ॐ ह्रीं भगवते ह्म्ल्व्र्यूं श्रीं क्ष्रौं यन्त्राधिपतये घोरारिमारिशाकिनी प्रभृति घोरोपसर्ग, दुष्ट

ग्रह राक्षस भूतप्रेत पिशाचादीन् अपनय अपनय सर्वरोगापमृत्यु विनाशनाय हूं फट् आयुष्यं वर्धय वर्धय (देवदत्तनामधेयस्य) सर्व रक्षां कुरु कुरु, लक्ष्मी प्रभा-बोदित तुष्टि पुष्टिम् आयुरारोग्यक्षेम कल्याण विभव वितरणोपेत वर प्रसाद सद्धर्म सिद्ध्यर्थं वृद्ध्यर्थं शान्त्यर्थं यन्त्रराजाय जलं समर्पयामि ।

पटीरपङ्कैर्घनसार सारैः सौरभ्य सम्प्रीणित विश्वलोकैः ।
यन्त्रस्य विघ्नौघशमाय सर्व, रक्षाभिधानस्य करोमि पूजाम् ॥
ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः..........यन्त्रराजाय गंधं समर्पयामि ।

शाल्यक्षतैः क्षीरपयोधि फेन पिण्डोपमैरक्षत मुक्तिलक्ष्म्यैः ।
यन्त्रस्य विघ्नौघशमाय सर्व रक्षाभिधानस्य करोमि पूजाम् ॥
ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः......यन्त्रराजाय अक्षतं समर्पयामि ॥

मन्दारजाति बकुलाविमुक्तकुन्दादि पुष्पैः सुरभीकृताशैः ।
यन्त्रस्य विघ्नौघशमाय सर्व रक्षाभिधानस्य करोमि पूजाम् ॥
ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः..........यन्त्रराजाय पुष्पं समर्पयामि ॥

शाल्यन्नपक्वान्न समस्तशाकैः क्षीराज्ययुक्तैश्चरुभिर्विचित्रैः ।
यन्त्रस्य विघ्नौघशमाय सर्व रक्षाभिधानस्य करोमि पूजाम् ॥
ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः.........यन्त्रराजाय नैवेद्यं समर्पयामि ॥

कर्पूरपारीज्वलितैः प्रदीपैर्निःशेषितालोक तिमिरप्रकारैः ।
यन्त्रस्य विघ्नौघशमाय सर्व रक्षाभिधानस्य करोमि पूजाम् ॥
ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः.........यन्त्रराजाय दीपं समर्पयामि ॥

पापघ्नपुञ्जैर्घन धूपधूम्रं धूपैः सुकालागरु गन्धलोभैः ।
यन्त्रस्य विघ्नौघशमाय सर्व रक्षाभिधानस्य करोमि पूजाम् ॥
ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः....... ..यन्त्रराजाय धूपं समर्पयामि ॥

नारङ्गपूगाम्र सुमातुलुङ्ग कल्हारलोचादि फलैर्मनोज्ञैः ।
यन्त्रस्य विघ्नौघशमाय सर्व रक्षाभिधानस्य करोमि पूजाम् ॥
ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः.........यन्त्रराजाय फलं समर्पयामि ॥

नवाम्बुगन्धाक्षतपुष्पमुख्यैर्द्रव्यैः कृतं चार्घ्यमिदं ददेऽहम् ।।
यन्त्रस्य विघ्नौघशमाय सर्व रक्षाभिधानस्य करोमि पूजाम् ।।
ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः········यन्त्रराजाय अर्घ्यं समर्पयामि ।।

भग्न - पृष्ठ - कटि - ग्रीवा बद्ध - दृष्टि रधोमुखम् ।
कष्टेन - लिखितं - शास्त्रं - यत्नेन - प्रतिपालयेत् ।।

— सम्पूर्णम् —

श्रीमन्महामुनि-सोमसेनप्रणीता

श्री भक्तामर-महाकाव्य-मण्डल विधान

ॐ जय जय जय
नमोऽस्तु नमोऽस्तु नमोऽस्तु

णमो अरिहंताणं

काम-क्रोध लोभादि शत्रुओं के संहर्ता तीर्थङ्कर ।
करूँ प्रणाम आपको भगवन् ! आदीश्वर हे भवशङ्कर ।।

णमो-सिद्धाणं

मुक्त सदा जो जग प्रपंच से, सिद्ध-शिला में सुख आसीन ।
सिद्ध वृन्द की करूँ वन्दना, भक्ति-भाव में होकर लीन ।।

णमो आयरियाणं

धर्म-तत्त्व समझाने वाले, आचार्यों को नमन करूँ ।
भक्ति भाव से श्रद्धापूर्वक, मोक्ष पंथ में गमन करूँ ।।

णमो उवज्झायाणं

उपाध्याय के श्री चरणों में, शीश झुकाता बारम्बार ।
भगवन् ! करदे पार जगत से, कृपा आपकी परम उदार ।।

णमो लोए सव्वसाहूणं

लोक पूज्य शुभ साधु वृन्द को, करूँ प्रणाम नत-सिर मैं दीन ।
पाप-ताप हर तारो मुझ को, तारण-विद्या परम प्रवीण ।।
ॐ ह्रीं अनादिमूलमन्त्रेभ्योनमः (पुष्पांजलिंक्षिपेत्)

चत्तारि मंगलं

१—अरिहंता मंगलं २—सिद्धा मंगलं ३—साहू मंगलं
४—केवलिपण्णत्तो धम्मो मंगलं

चत्तारि लोगुत्तमा

१—अरिहंता लोगुत्तमा २—सिद्धा लोगुत्तमा ३—साहू लोगुत्तमा
४—केवलिपण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमो

चत्तारि सरणं पव्वज्जामि

१—अरिहंते सरणं पव्वज्जामि २—सिद्धे सरणं पव्वज्जामि
३—साहू सरणं पव्वज्जामि
४—केवलिपण्णत्तं धम्मं सरणं पव्वज्जामि

ॐ नमोऽर्हते स्वाहा (पुष्पांजलिंक्षिपेत्)

नोट :—इत्यादि "नित्य-पूजा" नामक पुस्तक में प्रकाशित "अपवित्र: पवित्रो वा" से लेकर सिद्ध पूजा पर्यन्त नित्य-पूजा करने के उपरान्त यह—

सतत स्मरण करने योग्य, महा प्रभावक, महा महिमाशाली
"श्री भक्तामर महाकाव्य मण्डल-विधान"
प्रारम्भ करना चाहिये ।

पूर्व-पीठिका

श्रीमन्त-मानम्य जिनेन्द्र देवं, परं पवित्रं वृषभं गणेशं ।
स्याद्वादवारां निधिचन्द्रबिम्बं, भक्तामरस्यार्चनमात्मसिद्धयै ।।

वक्ष्ये सुवीरं करुणार्णवं च, श्रीभूषणं केवलज्ञान रूपं ।
अलक्ष्यलक्ष्यं प्रणमाम्यलम्बै, भक्तामरं सिद्ध वधू-प्रियं वै ।।

आदौ भव्यजने नैवं, गत्वा चैत्यालयं प्रति ।
प्रणम्य[1] परया भक्त्या, सर्वज्ञः शुद्ध लक्षणः ।।

ततः सद्गुरु - मानम्य, विनयानत - चेतसा ।
प्रार्थना सुकृता भव्यैः, पूजार्थं भाव शुद्धित. ।।

दीयतां सुगुरो ! आज्ञा, पूजां कर्तुं शुभां वरं ।
इत्युक्ते गुरुणाज्ञाणि, विधिर्भक्तामरस्य वै ।।

श्रीखण्डागुरु—कर्पूर, नारिकेल-फलानि च ।
प्रचुराक्षत—पुष्पौघा, नक्षतांचरु संचयान् ।।

मेलयित्वा प्रमोदेन, चन्द्रोपमध्वजादिकान् ।
दीपान् धूपान् महावाद्य, गीतराव विराजितान् ।।

तोरणै र्मणि-सन्नद्धै—, रुज्ज्वलै-श्चामरैस्तथा ।
मण्डपैः पंचवर्णैश्च, द्रव्यै-र्मंगल सूचकैः ।।

वसुदेव-मिते कोष्ठे, वर्तुलाकार - मण्डले ।
रचयेद् वेदिकां तत्र, श्री जिनार्चन - हेतवे ।।

नातिवृद्धो न हीनाङ्गो, न कोपी न च बालकः ।
मलिनो न न मूर्खश्च, सर्व - व्यसन - वर्जितः ।।

कला-विज्ञान-सम्पूर्णो, वाचालः शास्त्र वाक्पटुः ।
पण्डितो मृग्यते तत्र, करुणा - रस - पूरितः ।।

1—नन्तव्यः इत्यपिपाठः ।

सर्वाङ्ग सुन्दरो वाग्मी, सकली-करण-क्षम: ।
स्पष्टाक्षरश्च मन्त्रज्ञो, गुरुभक्तो विशेषत: ।।

श्रावकान् श्राविकाश्चैव, योगिनश्चार्यिकास्तथा ।
चतुर्विधं परं संघं, समाह्वयेत् सुपण्डित: ।।

पूजा करण - शुद्धेन, कार्या सर्वज्ञ-सद्मनि ।
ततोऽर्चनं श्रुतस्यापि, गुरो: पादार्चनं तत: ।।

कार्यं सर्वज्ञ - पूजाया:, प्रारम्भे सर्वसिद्धिदम् ।
अनेन विधिना भव्यै:, पूजा कार्या निरन्तरम् ।।

एव - यन्नर्हतां पूजा - पीठिकां पुण्यमाप्नुयात् ।
फलन्ति सर्व-कार्याणि, विघ्नराशि: क्षयं व्रजेत् ।।

इति पीठिका समाप्ता

श्री वृषभदेव स्तुति

(स्त्रग्धरावृत्तम्)

श्रीमद्देवेन्द्र-वन्द्यो, जिनवरचरणौ, ज्ञान-दीप प्रकाशी ।
लोकालोकावकाशी, भवजलधिहरी, संततं भव्यपूज्यौ ।।
नत्वा वक्ष्ये सुपूजां, वृषभ जिनपते, प्राणिनां मुक्तिहेतुं ।
यस्मात्संसारपारं, व्रजति स मनुजो, भक्तियुक्त: सदाप्त: ।।

(वसन्त तिलकावृत्तम्)

श्री नाभिराजतनुजं सुरनिष्ट नाथं,
पापापहं मनुजनाथ सुरेश सेव्यम् ।
संसार - सागर - सुपोत समं पवित्रं,
वन्दामि भव्य सुखदं वृषभं जिनेशं ।।

यस्यात्र नाम जपतः पुरुषस्य लोके,
पापं प्रयाति विलयं क्षणमात्रतो हि ।
सूर्योदये सति यथा तिमिरस्तथास्तं,
वन्दामि भव्य सुखदं वृषभं जिनेशं ।।

सर्वार्थसिद्धि निलयाद्भुवि यस्य पुण्यात्,
गर्भावतार - करणोऽमर - कोटि वर्गैः ।
वृष्टिः कृता मणिमयी पुरुदेशतस्तं,
वन्दामि भव्य सुखदं वृषभं जिनेशं ।।

जन्मावतारसमये सुरवृन्द वन्द्यैः,
भक्त्यागतैः परमदृष्टितया नतस्तैः ।
नीत्वा सुमेरुमभिवन्द्य सुपूजितस्तं,
वन्दामि भव्यसुखदं वृषभं जिनेशं ।।

षट्कर्म-युक्तिमवदर्श्य दयां विधाय,
सर्वाः प्रजाः जिन धुरेण वरेण येन ।
संजीविताः सविधिना विधिनायकं तं,
वन्दामि भव्यसुखदं वृषभं जिनेशम् ।।

दृष्ट्वा सकारणमरं शुभदीक्षिताङ्ग,
कृत्वा तपः परममोक्षपदाप्ति हेतुम् ।
कर्मक्षयः परिकृतः भुवि येन तं हि,
वन्दामि भव्य सुखदं वृषभं जिनेशम् ।।

ज्ञानेन येन कथितं सकलं सुतत्त्वं,
दृष्ट्वा स्वरूपमखिलं परमार्थ-सत्यं ।
तद्दर्शितं तदपि येन समं जनेभ्यो,
वन्दामि भव्य सुखद वृषभं जिनेशम् ।।

इन्द्रादिभिः रचितमिष्टिविधि यथोक्तं,
सत्प्रातिहार्यममलं सुखिनं मनोज्ञं ।
यस्योपदेशवशतः सुखता नरस्य,
वन्दामि भव्य सुखदं वृषभं जिनेशम् ।।

पंचास्तिकाय षड्द्रव्यसु-सप्त तत्त्व—,
त्रैलोक्यकादि विविधानि विकासितानि।
स्याद्वाद रूप कुसुमानि हि येन तं च,
वन्दामि भव्य सुखदं वृषभं जिनेशम् ॥

कृत्वोपदेशमखिलं जिन वीतरागो,
मोक्षं गतो गत विकार - पर - स्वरूप:।
सम्यक्त्व मुख्यगुण काष्टक सिद्धकस्त्वं,
वन्दामि भव्य सुखदं वृषभं जिनेशम् ॥

विविध-विभव-कर्ता, पाप-सन्ताप हर्ता,
शिवपद सुख-भोक्ता, स्वर्ग-लक्ष्म्यादि-दाता।
गणधर-मुनि-सेव्य, 'सोमसेनेन' पूज्य:,
वृषभ जिनपति: श्रीं, वांछितां मे प्रदद्यात् ॥

इद स्तोत्रं पठित्वा हृदयास्थित सिंहासनस्योपरि पुष्पांजलिंक्षिपेत्।

अथ स्थापना

मोक्षसौख्यस्य कर्तृणां, भोक्तृणां शिवसम्पदाम्।
आह्वाननं प्रकुर्वेऽहं, जगच्छान्ति - विधायिनाम् ॥

ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं महाबीजाक्षरसम्पन्न ! श्री वृषभजिनेन्द्रदेव ! ममहृदये अवतर अवतर संवौषट्-इत्याह्वाननम्।

देवाधिदेवं वृषभं जिनेन्द्रं, इक्ष्वाकुवंशस्य परं पवित्रं।
संस्थापयामीह पुर: प्रसिद्धं, जगत्सुपूज्यं जगतांपतिं च ॥

ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं महाबीजाक्षरसम्पन्न ! श्री वृषभजिनेन्द्रदेव ! ममहृदये तिष्ठ तिष्ठ ठ: ठ:-इति स्थापनम्।

कल्याणकर्ता, शिवसौख्यभोक्ता, मुक्तेः सु-दाता, परमार्थयुक्तः ।
यो वीतरागो, गतरोषदोषः, वृषभादिनाथं, निकटं करोमि ।।

ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं महाबीजाक्षरसम्पन्न ! श्री वृषभजिनेन्द्रदेव ! ममहृदयसमीपे
सन्निहितोभव भव वषट् । इति सन्निधिकरणम् ।

अथाष्टकम्

मन्दाक्रान्ता वृत्तम्

गांगेया यमुना हरित्सुसरिताम्, सीतानदीया तथा ।
क्षीराब्धि प्रमुखाब्धि तीर्थमहिता, नीरस्य हैमस्य च ।।
अम्भोजीय पराग वासित महद्गन्धस्य धारा सती ।
देया श्रीजिनपादपीठ कमलस्यायं सदा पुण्यदा ।।

ॐ ह्रीं परमशान्तिविधायकाय हृदयस्थिताय
श्री वृषभजिनचरणाय जलम् ।

श्री खण्डाद्रिगिरौ भवेन गहने, वृक्षैः सुवृक्षैर्घनैः ।
श्री खण्डेन सुगन्धिना भवभृतां, सन्ताप-विच्छेदिना ।।
काश्मीर प्रभवैश्च कुंकुमरसैः, घृष्टेन नीरेण वै ।
श्री माहेन्द्र नरेन्द्र सेवित पदं, सर्वज्ञदेवं यजे ।।

ॐ ह्रीं परमशान्तिविधायकाय हृदयस्थिताय
श्री वृषभजिनचरणाय चन्दनम् ।

श्री शाल्युद्भवतन्दुलैः सुविलसद्गन्धै जंगत्क्षोभकैः ।
श्री देवाब्धि-सरूप-हार-धवलैः नेत्रै मनोहारिभिः ।।
सौधौतैरति शुक्ति जाति मणिभि, पुण्यस्य भावैरिव ।
चन्द्रादित्यसमप्रभं प्रभु महो, संचर्चयामो वयम् ।।

ॐ ह्रीं परमशान्तिविधायकाय हृदयस्थिताय
श्री वृषभजिनचरणाय अक्षतम् ।

मन्दाराब्ज सुवर्ण - जाति - कुसुमैः, सेन्द्रीवबृन्तोद्भवैः ।
येषां गन्धविलुब्ध-मत्त-मधुपैः, प्राप्तं प्रमोदास्पदम् ॥
मालाभिः प्रविराजिभिः जिन ! विभोर्वेधाभि वेवस्वतो ।
संचर्चे चरणारविन्द-युगलं, मोक्षार्थिनां मुक्तिदम् ॥
ॐ ह्रीं परमशान्तिविधायकाय हृदयस्थिताय
श्री वृषभजिनवराय पुष्पम् ।

शाल्यन्नं घृतपूर्णसर्पिसहितं, चक्षुर्मनोरंजकम् ।
सुस्वादुं त्वरितोद्भवं मृदुतरं, क्षीराज्यपक्वं वरम् ॥
क्षुद्रोगादिहरं सुबुद्धिजनकं, स्वर्गापवर्गं प्रदम् ।
नैवेद्यं जिन-पाद-पद्म-पुरतः, संस्थापयेऽहं मुदा ॥
ॐ ह्रीं परमशान्तिविधायकाय हृदयस्थिताय
श्री वृषभजिनवराय नैवेद्यम् ।

अज्ञानादि-तमोविनाशन-करैः, कर्पूरदीप्तैर्वरैः ।
कार्पासस्य विवर्तिकाप्रविहितैः, दीपैः प्रभाभासुरैः ॥
विद्युत्कान्ति-विशेष-संशय-करैः, कल्याणसम्पादकैः ।
कुर्यादार्तिहरार्तिकां जिन ! विभो ! पादाग्रतो युक्तितः ॥
ॐ ह्रीं परमशान्तिविधायकाय हृदयस्थिताय
श्री वृषभजिनवराय दीपम् ।

श्रीकृष्णागरु-देवदारु-जनितैः धूमध्वजोद्वर्तिभिः ।
आकाशं प्रति व्याप्त धूमपटलैः आह्वानितैः षट्पदैः ॥
यः शुद्धात्मविबुद्धकर्मपटलोच्छेदेन जातो जिनः ।
तस्यैव क्रमपद्मयुग्मपुरतः, सन्धूपयामो वयम् ॥
ॐ ह्रीं परमशान्तिविधायकाय हृदयस्थिताय
श्री वृषभजिनवराय धूपम् ।

नारिंगाम्र-कपित्थ-पूग-कदली,—द्राक्षादि-जातैः फलैः ।
चक्षुश्चित्तहरैः प्रमोदजनकैः, पापापहै र्देहिनाम् ॥
वर्णाद्यैः मधुरैः सुरेशतरुजैः, खर्जूर पिण्डैस्तथा ।
देवाधीश-जिनेश-पाद-युगलं, सम्पूजयामि क्रमात् ॥
ॐ ह्रीं परमशान्तिविधायकाय हृदयस्थिताय
श्री वृषभजिनवराय फलम् ।

नीरैश्चन्दन-तन्दुलैः सुमधनैः, पुष्पैः प्रमोदास्पदैः ।
नैवेद्यैः नवरत्नदीपनिकरैं, धूमैस्तथा धूपजैः ।।
अर्घ्यं चारुफलैश्च मुक्तिफलदं, कृत्वा जिनाङ्घ्रि-द्वये ।
भक्त्या श्रीमुनिसोमसेनगणिना, मोक्षोमया प्रार्थितः ।।

ॐ ह्रीं परमशान्तिविधायकाय हृदयस्थिताय
श्री वृषभजिनचरणाय अर्घ्यम् ।

जिनेन्द्र पादाब्ज युगस्य भक्त्या, जिनेन्द्रमार्गस्य सुरक्षपालं ।
सम्यक्त्वयुक्तं गुणरश्मिपूर्णं, गोवक्त्रयक्षं परिपूजयामि ।।

ॐ ह्रीं श्री वृषभदेवपादारविन्द सेवक गोवक्त्रयक्षाय
आगत विघ्ननिवारकाय अर्घ्यम् ।

चक्रेश्वरी जैनपदारविन्द - सह्रानुरक्तां जिनशासनस्थाँ ।
विघ्नौघहन्त्री-सुखधामकर्त्री, भक्त्या यजे तां सुखकार्य कर्त्रीम् ।।

ॐ ह्रीं जिनमार्गरक्षाकरायै दारिद्रनिवारिकायै
श्री चक्रेश्वर्यै अर्घ्यम् ।

भक्तामर स्तोत्र

अष्टदल कमल पूजा

नम्रासुरासुर - नृनाथ शिरांसि यस्य,
सम्बिम्बितानि नखविंशति दर्पणेऽस्मिन् ।
तं विश्वनाथ मभिवन्द्य सुपूजयामि,
पक्वान्न - पुष्प - जल - चन्दन तन्दुलाद्यैः ।।

ॐ ह्रीं विश्वविघ्नहराय क्लीं महाबीजाक्षर सहिताय हृदयस्थिताय
श्री वृषभजिनाय अर्घ्यम् ।

रम्यैः सुसंस्तवन - कोटिभि - रादरेण,
देवैः;स्तुतो विविधशस्त्रयुतै जिनो यः।
संसार - सागर — सुतारण - नौसमानं,
पूजामि चारुचरु - चन्दन - पुष्पतोयैः ॥

ॐ ह्रीं नानामरसंस्तुताय सकलरोगहराय क्लीं महाबीजाक्षरसहिताय हृदयस्थिताय श्री वृषभजिनाय अर्घ्यम् ॥२॥

युक्त्या क्रियास्तवनमादिजिनस्य मूढो,
मत्या विनापि बुधसेवित पादकस्य।
सम्पादयामि मनसीह कुतो विचारः,
पूजारतः सुचिरतः सुखदायकस्य ॥

ॐ ह्रीं मत्याविपुलज्ञानप्रकाशनाय क्लीं महाबीजाक्षरसहिताय हृदयस्थिताय श्री वृषभजिनाय अर्घ्यम् ॥३॥

चन्द्रस्य कान्तिसदृशान् परमान् गुणौघान्,
कोऽसौ पुमान् तव विभो ! कथिनुं समर्थः।
तस्माद् विधाय जिनपूजनमेव कार्यम्,
मुक्तिं व्रजामि वरभक्ति ज़वात् देव !

ॐ ह्रीं नानादुःखसमुद्रतारणाय क्लीं महाबीजाक्षरसहिताय हृदयस्थिताय श्री वृषभजिनाय अर्घ्यम् ॥४॥

मूढोऽप्यहं जिनगुणेषु सदानुरक्तः,
भक्तिं करोमि मतिहीन उदार-बुद्धया।
कार्यस्य सिद्धिमुपयाति सदैव पुण्यात्,
तस्माद्यजामि जिनराज पदारविन्दम् ॥

ॐ ह्रीं सकलकार्यसिद्धिकराय क्लीं महाबीजाक्षरसहिताय हृदयस्थिताय श्री वृषभजिनाय अर्घ्यम् ॥५॥

ये सन्ति शास्त्रसबला प्रहसन्ति ते मां,
भक्त्या तथापि जिनभक्तिवशात् करोमि।
पूजाविधिं जिनपतेः सुरचित्तचौरं,
स्वर्गापवर्गसुखदं परमं गुणौघम् ॥

ॐ ह्रीं याचितार्थप्रतिपादनशक्तिसहिताय क्लीं महाबीजाक्षरसहिताय हृदयस्थिताय श्री वृषभजिनाय अर्घ्यम् ॥६॥

स्तोत्रेण नाथ ! विलयं क्षणमात्रतो यत्,
पापं प्रयाति पठतां भवतां नरस्य ।
मुक्तैः सुखं स हि भुनक्ति निवार्य कुष्टं,
पूजां करोमि सततं च ततो जिनस्य ॥

ॐ ह्रीं सकलपापकुष्टनिवारणाय क्लीं महाबीजाक्षरसहिताय हृदयस्थिताय श्री वृषभजिनाय अर्घ्यम् ॥७॥

ज्ञात्वा मया सुरचितां जिननाथ - पूज्यां,
पूजां विधाय पुरुषः शिवधाम याति ।
सम्यक्त्वमुख्य - गुणकाष्टक - धारिसिद्धः,
सिद्धः भवेत्स भविनां भवतापहारी ॥

ॐ ह्रीं अनेकसंकटसंसारदुःखनिवारणाय क्लीं महाबीजाक्षरसहिताय हृदयस्थिताय श्री वृषभजिनाय अर्घ्यम् ॥८॥

जलकुसुम सुगन्धै - रक्षतैः दीपधूपैः ।
विविध - फलनिवेद्यै - रर्चयामीह देवम् ॥
सुरनरवरसेव्यं दोहदानां वरेशं ।
शिवसुखपदधामं प्राणिनां प्राणनाथम् ॥

ॐ ह्रीं अष्टदलकमलाधिपतये श्रीवृषभजिनेन्द्राय अर्घ्यम् ।

भक्तामर स्तोत्र

षोडस दलकमलपूजा

तव गुणावलि गान विधायिनो, भवति दूरतरं दुरितास्पदं ।
तव कथापि शिवाह्य विधायिका, कुरु जिनार्चन शुभदायकं ॥

ॐ ह्रीं सकलमनोवांछितफलदाये क्लीं महाबीजाक्षरसहिताय हृदयस्थिताय श्री वृषभदेवाय अर्घ्यम् ॥९॥

नहि विभोऽमृतमंत्रसमप्रभो, भवति यो भविनां भुवि भक्तिवः ।
जिनवरार्चनतोऽर्चनतार्चितं, फलमिदं भविता कथितं जिनैः ॥
ॐ ह्रीं अर्हन्निजमलरत्नजिनसम्भूताय क्लीं महाबीजाक्षरसहिताय
हृदयस्थिताय श्री वृषभदेवाय अर्घ्यम् ॥१०॥

भवति दर्शनमेवमिते सति, भवति यादृश एव सुतोषकः ।
न हि तथा परतः क्वचिदेव तत्, सततमेव करोमि तवार्चनम् ॥
ॐ ह्रीं सकलबुद्धिपुष्टिकराय क्लीं महाबीजाक्षरसहिताय
हृदयस्थिताय श्री वृषभदेवाय अर्घ्यम् ॥११॥

जिन विभो ! तव रूपमिव क्वचित्, न भवतहि जने विभवान्विते ।
भवति पापलयं जिन दर्शनात्, जिन ! सदार्चनतां प्रकरोमि ते ॥
ॐ ह्रीं वांछितरूपफलप्रदाय क्लीं महाबीजाक्षरसहिताय
हृदयस्थिताय श्री वृषभदेवाय अर्घ्यम् ॥१२॥

सुरनरोरग - मान सहारकं, सुवदनं शशि तुल्य मतं त्वकं ।
जगति नाथ ! जिनस्य तवात्र भो, परियजे विधिनात्र जिनंमुदा ॥
ॐ ह्रीं लक्ष्मीसुखविधायकाय क्लीं महाबीजाक्षरसहिताय
हृदयस्थिताय श्री वृषभदेवाय अर्घ्यम् ॥१३॥

तव गुणान् हृदि धारकमानवो, भ्रमति निर्भयतो भुवि देववत् ।
शशिसमैं जलचन्दन मुख्यकैः, परियजामि नतो जिनपादुकाम् ॥
ॐ ह्रीं भूतप्रेतादिभयनिवारणाय क्लीं महाबीजाक्षरसहिताय
हृदयस्थिताय श्री वृषभदेवाय अर्घ्यम् ॥१४॥

अमरनारिकटाक्षशरासनै - र्न चलितो वृषभः स्थिर मेरुवत् ।
शिवपुरे उषितं च जिनैर्नुतं, परियजे स्तवनैश्च जलादिभिः ॥
ॐ ह्रीं बन्धबन्धमोचनकरणाय क्लीं महाबीजाक्षरसहिताय
हृदयस्थिताय श्री वृषभदेवाय अर्घ्यम् ॥१५॥

जगति दीपक इव जिन ! देवराट्, प्रकटितं सकलं भुवनत्रयं ।
पद-सरोज - युगं तु समर्चये, विमलनीर मुखाष्टविधैस्तव ॥
ॐ ह्रीं त्रैलोक्यलोकवशङ्कराय क्लीं महाबीजाक्षरसहिताय
हृदयस्थितम्राय श्री वृषभदेवाय अर्घ्यं ॥१६॥

शुभखीव जिनःजिननायकः, दुरितराति धनान्ध-तमोपहः ।
स्वजन पद्म विकास-विधायकः-स्तवन पूर्जनैश्च यजामितम् ॥
ॐ ह्रीं पापान्धकारनिवारणाय क्लीं महाबीजाक्षरसहिताय
हृदयस्थिताय श्री वृषभदेवाय अर्घ्यम् ॥१७॥

जिन शशी प्रकरोति विभासकं, सकल भव्य-मुपद्मवनं घनं ।
निशि दिनं तिमिर प्रतिघातको वरमहं मुयजामि जलादिकैः ॥
ॐ ह्रीं चन्द्रवत्सर्वलोकोद्योतनकराय क्लीं महाबीजाक्षरसहिताय
हृदयस्थिताय श्री वृषभदेवाय अर्घ्यम् ॥१८॥

जिनमुखोद्भवकान्ति-विकाशितः, निखिललोक इतीह दिवाकरः ।
किमथवा सुखदः प्रतिमानवं, भवतु सवृषभः शुभसेवया ॥
ॐ ह्रीं सकलकालुष्यदोषनिवारणाय क्लीं महाबीजाक्षरसहिताय
हृदयस्थिताय श्री वृषभजिनाय अर्घ्यम् ॥१९॥

त्वयि प्रभो ! प्रतिभाति यथा शुचि, न हि तथा हरिमुख्यसुरादिषु ।
वसतु सः प्रभुरादिजिनेश्वरो, मम मनः सरसीव सु-हंसवत् ॥
ॐ ह्रीं केवलज्ञानप्रकाशितलोकालोकस्वरूपाय क्लीं महाबीजाक्षरसहिताय
हृदयस्थिताय श्री वृषभदेवाय अर्घ्यम् ॥२०॥

तव शुभं वर दर्शनमंजसा, हरति पापसमूहक मेव तत् ।
भवतु ते चरणाब्ज युगं प्रभो, स्थिरकरं मम चित्त शुचेःकरम् ॥
ॐ ह्रीं सर्वदोषहरशुभदर्शनाय क्लीं महाबीजाक्षरसहिताय
हृदयस्थिताय श्री वृषभदेवाय अर्घ्यम् ॥२१॥

सुवनिता जनयन्ति सुतान् बहून्, तव समो नहि नाथ ! महीतले ।
तनुवरं सुखदं सुरभासुरं, मनसि तिष्ठतु मे स्मरणं तु ते ॥
ॐ ह्रीं अद्भुतगुणाय क्लीं महाबीजाक्षरसहिताय
हृदयस्थिताय श्री वृषभदेवाय अर्घ्यम् ॥२२॥

पदयुगस्य सुसंस्मरणान्नारः शिवपदं लभतेति - सुखप्रदं ।
परियजे वर-पादयुगं मुदा, जिन ! ददातु सुवांछितमत्र मे ॥
ॐ ह्रीं सहस्रनामाधीश्वराय क्लीं महाबीजाक्षरसहिताय
हृदयस्थिताय श्री वृषभदेवाय अर्घ्यम् ॥२३॥

त्वमिह देवहरि जिननायक:, प्रभुवर: यतिराज - मुनीश्वर: ।
त्वदभिधानमहो जगतां प्रभो ! प्रतिक्षणं भवतु प्रतिमानसम् ।।
ॐ ह्रीं मनोवांछितफलदायकाय क्लीं महाबीजाक्षरसहिताय
हृदयस्थिताय श्री वृषभदेवाय अर्घ्यम् ।।२४।।

हत्वा कर्मरिपून् बहून् कटुतरान् प्राप्तं परं केवलं ।
ज्ञानं येन जिनेन मोक्षफलदं, प्राप्तं द्रुतं धर्मजम् ।।
अर्घेणात्र सुपूजयामि जिनपं श्री सोमसेनस्त्वहं ।
मुक्ति श्रीत्वभिलाषया जिन विभो ! देहि प्रभो वांछितम् ।।
ॐ ह्रीं हृदयस्थितषोडसदलकमलाधिपतये श्री वृषभदेवायार्घ्यम् ।।

भक्तामर-स्तोत्र

चतुर्विंशति दल-कमलपूजा

बुद्ध: प्रबुद्धो वरबुद्धराजो, मुक्ते विधानाद्भुविनां विधाता ।
सौख्य प्रयोगात् जिन ! शंकरोऽसि, सर्वेषु मर्त्येषु सदोत्तमस्त्वम् ।।
ॐ ह्रीं षड्दर्शनपारकृताय क्लीं महाबीजाक्षरसहिताय
श्री वृषभजिनेन्द्राय अर्घ्यम् ।।२५।।

लोकार्तिनाशाय नमोऽस्तु तुभ्यं, नमोऽस्तु तुभ्यं जिनभूषणाय ।
त्रैलोक्यनाथाय नमोऽस्तु तुभ्यं, नमोऽस्तु तुभ्यं भवतारणाय ।।
ॐ ह्रीं नानादु:खविलीनाय क्लीं महाबीजाक्षरसहिताय
श्री वृषभजिनेन्द्राय अर्घ्यम् ।।२६।।

किमद्भुतं दोष समुच्चयेन,—कृत्वाऽत्र गर्व जिन ! संश्रितोऽसि ।
स्वप्नेऽपि न त्वं गुणराशिधामा, दोषाश्रितो मर्त्य समाश्रयेण ।।
ॐ ह्रीं सकलदोषनिर्मुक्ताय क्लीं महाबीजाक्षरसहिताय
श्री वृषभजिनेन्द्राय अर्घ्यम् ।।२७।।

अशोकवृक्षा: सुकृता विचित्रा:, छायाघना नाथ ! सुपुष्पशोभात् ।
तवोपरि प्रीतजनेषु नित्यं, सुखप्रदा: स्यु: परमार्थशोभा: ।।
ॐ ह्रीं अशोकतरुविराजमानाय क्लीं महाबीजाक्षरसहिताय
श्री वृषभजिनेन्द्राय अर्घ्यम् ।।२८।।

सिंहासनं प्राणिहितङ्कुरं यत्, सुशोभते हेममयं विचित्रं ।
सहस्रपत्रोपरिकर्णिकायाम्, विराजते जैनतनुः सुशोभः ।।
ॐ ह्रीं मणिमुक्ताखचितसिंहासनप्रातिहार्ययुक्ताय क्लीं महाबीजाक्षर सहिताय श्री वृषभजिनेन्द्राय अर्घ्यम् ।।२९।।

गङ्गातरङ्गाभविराजमानं, विभ्राजते चामरचारुयुग्मं ।
सुदर्शनाद्रौ गतनिर्झरं वा, तनोति देशेऽत्र-महाविकाशम् ।।
ॐ ह्रीं चतुःषष्टिचामरप्रातिहार्ययुक्ताय क्लीं महाबीजाक्षर सहिताय श्री वृषभजिनेन्द्राय अर्घ्यम् ।।३०।।

त्रैलोक्यराज्यं कथितं प्रमाणं, छत्रत्रयं चन्द्र सामन कान्ति ।
मुक्ताफलैः संयुतकं सुशोभं विराजते नाथ ! तवोपरिष्टात् ।।
ॐ ह्रीं छत्रत्रयप्रातिहार्ययुक्ताय क्लीं महाबीजाक्षरसहिताय श्री वृषभजिनेन्द्राय अर्घ्यम् ।।३१।।

वादित्रनादो ध्वनतीह लोके, घनाघनध्वान-समप्रसिद्धः ।
आज्ञां त्रिलोके तव विस्तराप्तां, पूज्यां करोम्यत्र जिनेश्वरस्य ।।
ॐ ह्रीं त्रैलोक्याज्ञाविधायिने क्लीं महाबीजाक्षरसहिताय श्री वृषभजिनेन्द्राय अर्घ्यम् ।।३२।।

मन्दार - कल्पद्रुम-पारिजात - चम्पाब्ज-सन्तानक - पुष्पवृष्टिः ।
मरुत्प्रयाता जलबिन्दुमुक्ता, यस्य प्रभावाच्च तमर्चयामि ।।
ॐ ह्रीं समस्तपुष्पजातिवृष्टिप्रातिहार्याय क्लीं महाबीजाक्षरसहिताय श्री वृषभजिनेन्द्राय अर्घ्यम् ।।३३।।

भामण्डलं सूर्यसहस्रतुल्यं चक्षुर्मनोऽल्हादकरं नराणाम् ।
सम्बाधिताज्ञान-तमोवितानं, तत्संयुतं देव ! सुपूजयामि ।।
ॐ ह्रीं कोटिभास्करप्रभामंडितभामण्डलप्रातिहार्याय क्लीं महाबीजाक्षर सहिताय श्री वृषभजिनेन्द्राय अर्घ्यम् ।।३४।।

दिव्यध्वनिर्योजन सात्र शब्दः, गम्भीरमेघोद्भव - गर्जनाकः ।
सर्वप्रभाषात्मक क्षीर नादः, यः संस्तुतः देव ! तवास्य भूतः ।।
ॐ ह्रीं जलधरपटलगर्जितसर्वभाषात्मकयोजनप्रमाणदिव्यध्वनि प्रातिहार्याय क्लीं महाबीजाक्षरसहिताय श्री वृषभजिनेन्द्राय अर्घ्यम् ।।३५।।

विहारकाले रचयन्ति देवाः, पद्मानि पादं प्रति सप्त सप्त ।
सम्प्राप्य पुण्यं शिवगं व्रजन्ति, तव प्रभावेन करोमि पूजां ॥
ॐ ह्रीं पादन्यासे पद्मश्रीयुक्ताय क्लीं महाबीजाक्षरसहिताय
श्री वृषभजिनेन्द्राय अर्घ्यम् ॥३६॥

लक्ष्मी विभो देव ! यथा तवास्ति, तथा न हर्यादिषु नायकेषु ।
तेजो यथा सूर्यविमानकस्य, तारागणस्य प्रभवतीह नो वा ॥
ॐ ह्रीं धर्मोपदेशसमये समवशरणाखिललक्ष्मीविभूति विराजमानाय
क्लीं महाबीजाक्षरसहिताय श्री वृषभजिनेन्द्राय अर्घ्यम् ॥३७॥

मत्तोऽपि हस्ती मदलीलया च, नायाति नाम्ना निवसन्मुखे हि ।
संसारपाथोनिधितारकस्य, देवाधिदेवस्य जिनस्य भर्तुः ॥
ॐ ह्रीं हस्त्यादिगर्वदुद्धरभयनिवारणाय क्लीं महाबीजाक्षरसहिताय
श्री वृषभजिनेन्द्राय अर्घ्यम् ॥३८॥

उत्तुङ्ग पुच्छेन विराजमानः, आरक्तनेत्रैः रदनैः विशिष्टः ।
कौ केशरी देव ! सुनाममात्रात्, करोति क्रीडां तु विडालवत्सः ॥
ह्रीं युगादिदेवनामप्रसादात् केशरिभयविनाशकाय क्लीं महाबीजाक्षर
सहिताय श्री वृषभजिनेन्द्राय अर्घ्यम् ॥३९॥

त्वन्नामतोयेन कृता सुधारा, वह्निप्रतापं हरति क्षणात्सा ।
भवाग्निताप-प्रलयङ्करस्त्वं, अतस्त्वदंघ्रिं विदधे वरार्घैः ॥
ॐ ह्रीं संसाराग्नितापनिवारणाय क्लीं महाबीजाक्षर सहिताय
श्री वृषभजिनेन्द्राय अर्घ्यम् ॥४०॥

क्रोधेनयुक्तः फणिराजसर्पः, क्रोधं परित्यज्य प्रलापवान्सः ।
करोति दूरं वरदेवनाम्ना, नानाविध - प्राणनिधानदानात् ॥
ॐ ह्रीं त्वन्नामनागदमनीशक्तिसम्पन्नाय क्लीं महाबीजाक्षर
सहिताय श्री वृषभजिनेन्द्राय अर्घ्यम् ॥४१॥

सङ्ग्रामभूमौ मृतभूरिजीवे, मातङ्ग - चक्राश्वपदातिमध्ये ।
सुखेन यायान्ति विजित्य शत्रून्, सदामनोऽब्जे मुदितोयजेतम् ॥
ॐ ह्रीं संग्राममध्ये क्षेमङ्कराय क्लीं महाबीजाक्षरसहिताय
श्री वृषभजिनेन्द्राय अर्घ्यम् ॥४२॥

दन्ताग्रभिन्नेषु सुमस्तकेषु, परस्परं यत्र गजाश्वयुद्धे।
मनुष्य आयाति सुकौशलेन, त्वन्नाममंत्र स्मरणांज्जिनेश ! ॥
ॐ ह्रीं वनगजादिभयनिवारणाय क्लीं महाबीजाक्षरसहिताय
श्री वृषभजिनेन्द्राय अर्घ्यम् ॥४३॥

कल्पान्तवातेन गतं विकारं, स चक्रमकरादिक जीवपूर्णं।
अब्धि समुत्तीर्य नरो भुजाभ्यां, प्रयाति शीघ्रं तव पादचित्तः ॥
ॐ ह्रीं संसाराब्धितारणाय क्लीं महाबीजाक्षरसहिताय
श्री वृषभजिनेन्द्राय अर्घ्यम् ॥४४॥

जलोदरैः कुष्टकुशूलरोगैः, शिरोव्यथा - व्याधि बहुप्रकारैः।
सुपीडितानां भवति क्षणे हि, निरोगिता त्वत्स्मरणात्प्रभोऽत्र ॥
ॐ ह्रीं दाहतापजलोदराष्टदशकुष्टसन्निपातादिरोगहराय क्लीं
महाबीजाक्षरसहिताय श्री वृषभजिनेन्द्राय अर्घ्यम् ॥४५॥

केनापि दुष्टेन नृपेण धर्मी सम्बन्धितः शृङ्खलयानरश्च।
स त्वां जपं मुंचति बन्धतोऽत्र, संसार-पाश प्रलयं नमामि ॥
ॐ ह्रीं नानाविध कठिनबन्धनदूरकरणाय क्लीं महाबीजाक्षर
सहिताय श्री वृषभजिनेन्द्राय अर्घ्यम् ॥४६॥

रोगज्वराः कुष्टभगन्दराद्याः, जलाग्निघोरा विविधाश्चविघ्नाः।
शीघ्रं क्षयं यान्ति जिनेशनाम, संजप्यमानस्य नरस्य पुण्यात् ॥
ॐ ह्रीं बहुविध विघ्नविनाशाय क्लीं महाबीजाक्षरसहिताय
श्री वृषभजिनेन्द्राय अर्घ्यम् ॥४७॥

भक्तामराख्यं स्तवनं यजामि, श्रीमानतुङ्गेन कृतं विचित्रं।
कवित्वहीनो मतिशास्त्रहीनो, भक्त्यैकया प्रेरित सोमसेनः ॥
ॐ ह्रीं सकलकार्यसाधनसमर्थाय क्लीं महाबीजाक्षरसहिताय
श्री वृषभजिनेन्द्राय अर्घ्यम् ॥४८॥

नाना - विघ्न - हरं प्रतापजनकं, संसार पारप्रदम्।
संस्तुत्यं श्रीदं करोमि सततं, श्री सोमसेनोऽप्यहम् ॥
पूर्णार्घ्येण मुदा सुभव्य सुखदं, आदीश्वराख्यापरं।
हीरापण्डितसूपरोधवशतः स्तोत्रस्य पूजाविधिम् ॥
ॐ ह्रीं हृदयस्थिताय चतुर्विंशति-यक्षयक्षाधिपतये क्लीं महाबीजाक्षर
सहिताय श्री वृषभजिनेन्द्राय पूर्णार्घ्यम् ॥४९॥

वर सुगन्ध-सुतन्दुल पुष्पकः, प्रवरमोदक - दीपक - धूपकैः ।
फलभरैः परमात्म - प्रदत्तकं, प्रवियजेजयदं प्रणवं जिनम् ॥

ॐ ह्रीं वृषभस्थिताय अष्टचत्वारिंशद्‌वृषलक्षणकलाधिपतये वली महावीजाक्षर सहिताय श्री वृषभजिनेन्द्राय महापूर्णार्घ्यम् ॥५०॥

जलगन्धाष्टभिर्द्रव्यै — युगादिपुरुषं यजे ।
सोमसेनेन संसेव्यं, तीर्थ - सागर चर्चितम् ॥

●●●

ऋद्धि-अर्घ्य

ॐ ह्रीं अर्हं णमो जिणाणं झ्रौं झ्रौं नमः स्वाहा अर्घ्यम् । १ ।
ॐ ह्रीं अर्हं णमो ओहिजिणाणं झ्रौं झ्रौं नमः स्वाहा अर्घ्यम् । २ ।
ॐ ह्रीं अर्हं णमो परमोहिजिणाणं झ्रौं झ्रौं नमः स्वाहा अर्घ्यम् । ३ ।
ॐ ह्रीं अर्हं णमो सव्वोहि जिणाणं झ्रौं झ्रौं नमः स्वाहा अर्घ्यम् । ४ ।
ॐ ह्रीं अर्हं णमो अणंतोहि जिणाणं झ्रौं झ्रौं नमः स्वाहा अर्घ्यम् । ५ ।
ॐ ह्रीं अर्हं णमो कुट्ठ बुद्धीणं झ्रौं झ्रौं नमः स्वाहा अर्घ्यम् । ६ ।
ॐ ह्रीं अर्हं णमो बीजबुद्धीणं झ्रौं झ्रौं नमः स्वाहा अर्घ्यम् । ७ ।
ॐ ह्रीं अर्हं णमो पादाणुसारिणं झ्रौं झ्रौं नमः स्वाहा अर्घ्यम् । ८ ।
ॐ ह्रीं अर्हं णमो संभिण्णसोदराणं झ्रौं झ्रौं नमः स्वाहा अर्घ्यम् । ९ ।
ॐ ह्रीं अर्हं णमो सयंबुद्धीणं झ्रौं झ्रौं नमः स्वाहा अर्घ्यम् ।१०।
ॐ ह्रीं अर्हं णमो पत्तेय बुद्धीणं झ्रौं झ्रौं नमः स्वाहा अर्घ्यम् ।११।
ॐ ह्रीं अर्हं णमो बोहि-बुद्धीणं झ्रौं झ्रौं नमः स्वाहा अर्घ्यम् ।१२।
ॐ ह्रीं अर्हं णमो उजुमदीणं झ्रौं झ्रौं नमः स्वाहा अर्घ्यम् ।१३।
ॐ ह्रीं अर्हं णमो विउलमदीणं झ्रौं झ्रौं नमः स्वाहा अर्घ्यम् ।१४।
ॐ ह्रीं अर्हं णमो दसपुव्वीणं झ्रौं झ्रौं नमः स्वाहा अर्घ्यम् ।१५।
ॐ ह्रीं अर्हं णमो चउदस पुव्वीणं झ्रौं झ्रौं नमः स्वाहा अर्घ्यम् ।१६।
ॐ ह्रीं अर्हं णमो अट्ठांगमहानिमित्तकुसलाणं झ्रौं झ्रौं नमः स्वा० अ० ।१७।

ॐ ह्रीं अर्हं णमो विउव्वणइड्ढिपत्ताणं झ्रौं झ्रौं नमः स्वाहा अर्घ्यम् ।१८।
ॐ ह्रीं अर्हं णमो विज्जाहराणं झ्रौं झ्रौं नमः स्वाहा अर्घ्यम् ।१९।
ॐ ह्रीं अर्हं णमो चारणाणं झ्रौं झ्रौं नमः स्वाहा अर्घ्यम् ।२०।
ॐ ह्रीं अर्हं णमो पण्ण समणाणं झ्रौं झ्रौं नमः स्वाहा अर्घ्यम् ।२१।
ॐ ह्रीं अर्हं णमो आगास-गामिणं झ्रौं झ्रौं नमः स्वाहा अर्घ्यम् ।२२।
ॐ ह्रीं अर्हं णमो आसी-विसाणं झ्रौं झ्रौं नमः स्वाहा अर्घ्यम् ।२३।
ॐ ह्रीं अर्हं णमो दिट्ठि-विसाणं झ्रौं झ्रौं नमः स्वाहा अर्घ्यम् ।२४।
ॐ ह्रीं अर्हं णमो उग्ग-तवाणं झ्रौं झ्रौं नमः स्वाहा अर्घ्यम् ।२५।
ॐ ह्रीं अर्हं णमो दित्त-तवाणं झ्रौं झ्रौं नमः स्वाहा अर्घ्यम् ।२६।
ॐ ह्रीं अर्हं णमो तत्त-तवाणं झ्रौं झ्रौं नमः स्वाहा अर्घ्यम् ।२७।
ॐ ह्रीं अर्हं णमो महा-तवाणं झ्रौं झ्रौं नमः स्वाहा अर्घ्यम् ।२८।
ॐ ह्रीं अर्हं णमो घोर-तवाणं झ्रौं झ्रौं नमः स्वाहा अर्घ्यम् ।२९।
ॐ ह्रीं अर्हं णमो घोर गुणाणं झ्रौं झ्रौं नमः स्वाहा अर्घ्यम् ।३०।
ॐ ह्रीं अर्हं णमो घोरगुण परक्कमाणं झ्रौं झ्रौं नमः स्वाहा अर्घ्यम् ।३१।
ॐ ह्रीं अर्हं णमो घोरगुणबंभचारिणं झ्रौं झ्रौं नमः स्वाहा अर्घ्यम् ।३२।
ॐ ह्रीं अर्हं णमो सव्वोसहि पत्ताणं झ्रौं झ्रौं नमः स्वाहा अर्घ्यम् ।३३।
ॐ ह्रीं अर्हं णमो खिल्लोसहिपत्ताणं झ्रौं झ्रौं नमः स्वाहा अर्घ्यम् ।३४।
ॐ ह्रीं अर्हं णमो जल्लोसहि पत्ताणं झ्रौं झ्रौं नमः स्वाहा अर्घ्यम् ।३५।
ॐ ह्रीं अर्हं णमो विप्पोसहि पत्ताणं झ्रौं झ्रौं नमः स्वाहा अर्घ्यम् ।३६।
ॐ ह्रीं अर्हं णमो सव्वोसहि पत्ताणं झ्रौं झ्रौं नमः स्वाहा अर्घ्यम् ।३७।
ॐ ह्रीं अर्हं णमो मणबलीणं झ्रौं झ्रौं नमः स्वाहा अर्घ्यम् ।३८।
ॐ ह्रीं अर्हं णमो वच-बलीणं झ्रौं झ्रौं नमः स्वाहा अर्घ्यम् ।३९।
ॐ ह्रीं अर्हं णमो काय-बलीणं झ्रौं झ्रौं नमः स्वाहा अर्घ्यम् ।४०।
ॐ ह्रीं अर्हं णमो खीर-सवीणं झ्रौं झ्रौं नमः स्वाहा अर्घ्यम् ।४१।
ॐ ह्रीं अर्हं णमो सप्पि सवाणं झ्रौं झ्रौं नमः स्वाहा अर्घ्यम् ।४२।
ॐ ह्रीं अर्हं णमो महुरसवाणं झ्रौं झ्रौं नमः स्वाहा अर्घ्यम् ।४३।
ॐ ह्रीं अर्हं णमो अमीय-सवाणं झ्रौं झ्रौं नमः स्वाहा अर्घ्यम् ।४४।
ॐ ह्रीं अर्हं णमो अक्खीण महाणसाणं झ्रौं झ्रौं नमः स्वाहा अर्घ्यम् ।४५।
ॐ ह्रीं अर्हं णमो वड्ढमाणाणं झ्रौं झ्रौं नमः स्वाहा अर्घ्यम् ।४६।
ॐ ह्रीं अर्हं णमो सिद्धिदयाणं वड्ढमाणाणं झ्रौं झ्रौं नमः स्वा० अ० ।४७।
ॐ ह्रीं अर्हं णमो सव्वसाहूणं झ्रौं झ्रौं नमः स्वाहा अर्घ्यम् ।४८।

●●●

श्री भक्तामर महाकाव्यमंडल-पूजा-जयमाला

(त्रोटक-वृत्तम्)

शुभदेश-शुभङ्कर-कौशलकं, पुरपट्टन - मध्य - सरोज - समं ।
नृप-नाभि-नरेन्द्र-सुतं सुधियं, प्रणमामि सदा वृषभादि-जिनं ॥

कृत-कारित-मोदन-मोदधरं, मनसा - वचसा शुभकार्य परं ।
दुरिता-पहरं चामोद-करं, प्रणमामि सदा वृषभादि जिनं ॥

तव देव सुजन्म दिने परमं, वर निर्मित-मङ्गल-द्रव्यशुभं ।
कनकाद्रिमु-पाण्डुक-पीठगतिं, प्रणमामि सदा वृषभादि जिनं ॥

व्रतभूषण - भूरि - विशेष तनु, करकङ्कण - कज्जल - नेत्रवणं ।
मुकुटाब्ज-विराजित-चारुमुखं, प्रणमामि सदा वृषभादि जिनं ॥

ललितास्य-सुराजित-चारुमुखं, मरुदेवि-समुद्भव-आतसुखं ।
सुरनाथ सुताण्डव नृत्यधरं, प्रणमामि सदा वृषभादि जिनं ॥

वर-वस्त्र-सरोज-गजाश्वपदं, रथ-भृत्यदलं चतुरङ्गजदं ।
शिव-भीरु-सुभोग-सुयोगधनं, प्रणमामि सदा वृषभादि जिनं ॥

गतराग मुदोष-विराग-कृतिं, सु-तपोबल-साधित मुक्तिगतिं ।
सुख-सागर-मध्य-सदानिलयं, प्रणमामि सदा वृषभादि जिनं ॥

सुसमोसरणे रति - रोगहरं परिसद्दश युग्म सुदिव्य - ध्वनिं ।
कृत - केवल ज्ञान विकाशतनं, प्रणमामि सदा वृषभादि जिनं ॥

उपदेश सुतत्त्व - विकाशकरं, कमलाकर - लक्षण - पूर्ण-भरं ।
भवि वासित-कर्म-कलङ्क हरं, प्रणमामि सदा वृषभादि जिनं ॥

जिन ! देहि सुमोक्षपदं सुखदं, घनघाति-घनाघन-वायुपदं ।
परमोत्सवकारित-जन्म-दिनं, प्रणमामि सदा वृषभादि जिनं ॥

संसार - सागरोत्तीर्णं, मोक्ष सौख्य - पदप्रदं ।
नमामि सोमसेनार्च्यम्, आदिनाथं जिनेश्वरम् ॥

ॐ ह्रीं पूजाकर्तुः कर्मनाशनाय आगतविघ्नचय निवारणाय अर्घ्यम् ।

स भवति जिनदेव: पंच कल्याणनाथ:,
कलिलमल सुहर्त्ता, विश्वविघ्नौघहन्ता ।
शिवपद सुखहेतु: नाभिराजास्य सूनु:,
भव-जलनिधिपोतो, विश्वमोक्षायनाथ: ।।

इत्याशीर्वाद: (परिपुष्पांजलिं क्षिपेत्)

दीर्घायुरस्तु शुभमस्तु सुकीर्तिरस्तु,
सद्बुद्धिरस्तु - धनधान्य - समृद्धिरस्तु ।
आरोग्यमस्तु विजयोऽस्तु महोऽस्तु पुत्र,—
पौत्रोद्भवोऽस्तु तव सिद्धपति प्रसादात् ।।

पुष्पांजलिं-क्षिपेत्

●●●

भक्तामर-स्तोत्र पूजा

ऋषभ-स्तवन

कल्याण कीर्तिममलं कमलाकरं तं,
सञ्चर्चिदुज्ज्वलमहः प्रकटीकृतार्थं ।
उच्चैर्निधाय हृदि वीरजिनं विशुद्ध्यै,
शिष्टेष्टमादि परमेष्ठि स्तवीमि[1] ।।१।।

दीर्घाजवं - जवविवर्त ननर्तनार्तान्,
रात्रि प्रकर्तन-विकर्तन कीर्तनश्री: ।
उन्निद्रसान्द्रतरभद्र समुद्रचन्द्र:,
सद्य: पुर्दिशतु शाश्वत मङ्गलं व: ।।२।।

व्योमाङ्गुलैर्मिमिति मुखं न कृतं न तारा ।
धारा धनस्य गणिता धरणी पदैश्च ।
त्वां स्तोतु मुद्यत मतिर्मम नेतिधाष्ट्यं,[2]
मोक्षाय युक्तिघटको भगवांस्त्वमेव ।।३।।

---

१. प्रवक्ष्येत्यपि पाठ: । २. नेतिधाष्ट्यं इत्यपि पा: ।

सद्वाग गोचर भवत्सहज स्वरूपं,
संस्पर्शतो मम गिरो मम पुण्यदाः स्युः ।
कौतस्कुतान्यपि जलानि विषच्छदानि,
जायन्त एव हि गरुत्मणितः प्रसंगात् ।।४।।

उच्चैर्दवित्तमवलंब्य विधीयमानं,
स्तुत्यादिकं किमपि यत्तदिहात्मने स्यात् ।
कृत्वा करेऽब्दममलं हिविरच्यमानं,
नेपथ्यमुत्तम गुणाय निजस्य नास्य ।।५।।

इति स्तुतिं पठित्वा मंडलोऽपरि पुष्पांजलिं क्षिपेत् ।

स्थापना

देवाधिदेवं वृषभं जिनेशं, इक्ष्वाकु वंशस्य परं पवित्रं ।
संस्थापयामहि पुरं प्रसिद्धं, जगत्सुपूज्यं जगतां पतिं च ।।

ॐ ह्रीं देवाधिदेव वृषभ जिनेन्द्र ! अत्र अवतर अवतर संवौषाट् इत्याह्वाननं । अत्र तिष्ठ ठः ठः स्थापनं । अत्र मम सन्निहितो भव भव वषट् सन्निधिकरणं ।

अनच्छाच्छताकारि संगच्छदच्छं,
सरूपैस्सुभूपैरिवानन्द कूपैः
अजीवैर्जगज्जीव जीवैरिवोच्चैः,
यजे आदिनाथ समाध्यम्बुकंदं ।।

ॐ ह्रीं श्री वृषभ तीर्थंकराय जलं निर्वपामीति स्वाहा ।

सुगन्धैस्सुगन्धी कृताशेषगंधैः,
प्रबन्ध प्रबन्धैस्सुकर्पूर पूरैः ।
अमायं कषाय स्वकाय प्रहायं,
यजे देवमाद्यं समाध्यम्बुकन्दं ।।

ॐ ह्रीं श्री वृषभ तीर्थं कराय चन्दनं निर्वपामीति स्वाहा ।

क्षतैस्त्वक्षतं — स्वक्षैरक्षताप्तैः,
क्षतावेत पक्षैरिव श्वेत पक्षैः ।
विपक्षाक्षपक्ष क्षिपाप्ति क्षपेक्षं,
यजे देवमाद्यं समाध्याम्बुकंन्दं
ॐ ह्रीं श्री वृषभ तीर्थंकराय अक्षतं निर्वपामीति स्वाहा ।

अराजत्वराजत्सुराजीव राजी,
लसत्केतकी नातजात्यादि पुष्पैः ।
असंग स्वरूपं चिदानंद कूपं,
यजे देवमाद्यं समाध्यम्बुकंदं ॥
ॐ ह्रीं श्री वृषभ तीर्थं कराय पुष्पं निर्वपामीति स्वाहा :

शताच्छिद्र फेव्यर्द्ध चन्द्रैः पुटिभि-
र्लसद्वघज्जनाशल्य शाल्योद नाद्यैः ।
परित्यक्त सङ्ग कृतानंगभंगं,
यजे देवमाद्यं समाध्यम्बुकंदं ॥
ॐ ह्रीं श्री वृषभ तीर्थं कराय नैवेद्यं निर्वपामीति स्वाहा ।

सुपात्रस्थित स्नेह वृत्ति प्रकाशैः,
प्रदीप्तैः प्रदीपीकृताशाङ्गनास्यैः ।
लसत्सज्जनार्मैर्गुणाशून्य मर्घ्यैः,
यजे देवमाद्यं समाध्यम्बुकंदं ॥
ॐ ह्रीं श्री वृषभतीर्थंकराय दीपं निर्वपामीति स्वाहा ।

स्वमग्नौ विनिक्षिप्य दौर्गन्ध्यबन्ध,
दशाशास्यमुच्चैः करोति त्रिसन्ध्यश्च ।
तदुद्दाम कृष्णागरु द्रव्य धूपैः,
यजे देवमाद्यं समाध्यम्बुकंदं ॥
ॐ ह्रीं श्री वृषभतीर्थंकराय धूपं निर्वपामीति स्वाहा ।

लसज्जम्बु जम्बीर नारङ्ग निम्बु-
प्रपक्वोरुरम्भाम्र पूग प्रमुख्यैः ।
फलैः सत्फलीभूत मोक्षैकवृक्षं,
यजे देवमाद्यं समाध्यम्बुकंदं ॥
ॐ ह्रीं श्री वृषभतीर्थंकराय फलं निर्वपामीति स्वाहा ।

जगत्ताप पाप अपोह प्रभावं,
सदैवादिनाथं सहर्षं यजेद्य: ।
विकल्पानुयात, स्वरूपैक मुक्ति,
झटत्येति संसारवल्लीं निहृत्य ।।

ॐ ह्रीं श्री वृषभतीर्थंकराय अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा ।

यस्यात्र नाम जपत: पुरुषस्य लोके,
पापं प्रयाति विलयं क्षणमात्रतो हि ।
सूर्योदये सति यथा तिमिरस्तथान्तं,
वंदामि भव्य सुखदं वृषभं जिनेशं ।।

इत्याशीर्वाद: (परिपुष्पांजलि क्षिपेत्)

ॐ ह्रीं प्रणतदेव समूह मुकुटाग्रमणिद्योतकाय महापापान्धकार विनाशनाय श्री आदिपरमेश्वराय अर्घ्यम् नि० स्वा० ।।१।।

ॐ ह्रीं गणधरचारण समस्त ऋषीन्द्र-चन्द्रादित्य सुरेन्द्र नरेन्द्र व्यंतरेन्द्र नागेन्द्र चतुर्विध मुनीन्द्र स्तुत चरणारविंदाय श्री आदि परमेश्वराय अर्घ्यम् ।।२।।

ॐ ह्रीं विगत बुद्धि गर्वापहार सहित श्रीमन्मानतुंगाचार्य भक्तिसहिताय श्री आदिपरमेश्वराय अर्घ्यम् ।।३।।

ॐ ह्रीं त्रिभुवनगुण समुद्र चन्द्रकान्तिमणितेज शरीर समस्त सुरनाथस्तुत श्री आदि परमेश्वराय अर्घ्यम् ।।४।।

ॐ ह्रीं समस्त गणधरादि मुनिवर प्रतिपालक मृगबालवत् श्री आदि परमेश्वराय अर्घ्यम् ।।५।।

ॐ ह्रीं जिनेन्द्रचन्द्रभक्ति सर्वसौख्य तुच्छ भक्ति बहुसुखदायकाय जिनेन्द्राय जिनादिपरमेश्वराय अर्घ्यम् ।।६।।

ॐ ह्रीं अनंतभव-पातक सर्व विनाशकाय तवस्तुति सौख्यदायकाय श्री आदि परमेश्वराय अर्घ्यम् ।।७।।

ॐ ह्रीं जिनेन्द्रस्तवन सत्पुरुष विश्वचमत्काराय श्री आदि परमेश्वराय अर्घ्यम् ॥८॥

ॐ ह्रीं श्री जिनपूजन स्तवन कथाश्रवणेन जगत्त्रय भव्यजीव समस्त पापौघविनाशनाय श्री आदि परमेश्वराय अर्घ्यम् ॥९॥

ॐ ह्रीं त्रैलोक्यानुपम गुणमंडित समस्तोपमारहिताय श्री आदिपरमेश्वराय अर्घ्यम् ॥१०॥

ॐ ह्रीं जिनेन्द्रदर्शन अनंतभव संचित अघ समूह विनाशनाय श्री आदि परमेश्वराय अर्घ्यम् ॥११॥

ॐ ह्रीं त्रिभुवन शान्ति स्वरूप गुण त्रिभुवन तिलकाय श्री आदिपरमेश्वराय अर्घ्यम् ॥१२॥

ॐ ह्रीं त्रैलोक्य विनयी रूपातिशय अनंतचन्द्र तेजजित् सदातेजपुंजायमान श्री आदि परमेश्वराय अर्घ्यम् ॥१३॥

ॐ ह्रीं शुभगुणातिशयरूप त्रिभुवन जिन जिनेन्द्र गुण विराजमानाय श्री आदि परमेश्वराय अर्घ्यम् ॥१४॥

ॐ ह्रीं मेरुवद्अचल शील शिरोमणये चतुर्विधवनिता विकाररहित शील-समुद्राय श्री आदि परमेश्वराय अर्घ्यम् ॥१५॥

ॐ ह्रीं धूमस्नेहवर्त्यादिविघ्नरहित त्रैलोक्य परम केवल दीपकाय श्री आदिपरमेश्वराय अर्घ्यम् ॥१६॥

ॐ ह्रीं राहुचन्द्रपूजित निरावरण ज्योतिरूप लोकालोकित सदोदयाय श्री आदिपरमेश्वराय अर्घ्यम् ॥१७॥

ॐ ह्रीं नित्योदय रूप अगम्य राहु त्रिभुवन सर्वकला सहित विराजमानाय श्री आदिपरमेश्वराय अर्घ्यम् ॥१८॥

ॐ ह्रीं चन्द्रसूर्योदयास्त रजनी दिवा रहित परम केवलोदय सदादीप्ति विराजमानाय श्री आदिपरमेश्वराय अर्घ्यम् ॥१९॥

ॐ ह्रीं हरिहरादिज्ञानरहित परमज्योति केवलज्ञान सहिताय श्री आदि-परमेश्वराय अर्घ्यम् ॥२०॥

ॐ ह्रीं त्रिभुवन मनोमोहन जिनेन्द्ररूपान्य दृष्टान्त रहित परम मंडिताय श्री आदिपरमेश्वराय अर्घ्यम् ॥२१॥

ॐ ह्रीं श्रीजिनवर माता अनित जिनेन्द्र पूर्व दिग्भास्कर केवलज्ञान भास्कराय श्री आदिब्रह्मजिनाय अर्घ्यम् ॥२२॥

ॐ ह्रीं त्रैलोक्य पावनादिस्य वर्ण परमाष्टोत्तर शतलक्षण नवशत व्यञ्जनोपेताय श्री आदिजिनेन्द्राय अर्घ्यम् ॥२३॥

ॐ ह्रीं ब्रह्माविष्णु श्रीकंठगणपति त्रिभुवन देवत्व सहिताय श्री आदि-परमेश्वराय अर्घ्यम् ॥२४॥

ॐ ह्रीं बुद्धशङ्करशेषधर ब्रह्मानाम सहिताय श्री आदि परमेश्वराय अर्घ्यम् ॥२५॥

ॐ ह्रीं अधोलोक मध्यलोक ऊर्द्धलोकत्रय कृताहोरात्रि नमस्कार समस्तार्त रौद्र विनाशक त्रिभुवनेश्वराय भवदधितरणतारण समर्थाय श्री आदिपरमेश्वराय अर्घ्यम् ॥२६॥

ॐ ह्रीं श्री परमगुणाश्रितावगुणानाश्रित श्री आदि परमेश्वराय अर्घ्यम् ॥२७॥

ॐ ह्रीं अशोकवृक्ष प्रतिहार्य सहिताय श्री आदिपरमेश्वराय अर्घ्यम् ॥२८॥

ॐ ह्रीं सिंहासन प्रातिहार्य सहिताय श्री आदि परमेश्वराय अर्घ्यम् ॥२९॥

ॐ ह्रीं श्री चतुःषष्टि चामर प्रातिहार्य सहिताय श्री आदि परमेश्वराय अर्घ्यम् ॥३०॥

ॐ ह्रीं श्री छत्रत्रयप्रातिहार्य सहिताय श्री आदिपरमेश्वराय अर्घ्यम् ॥३१॥

ॐ ह्रीं अष्टादशकोटिवादित्र प्रातिहार्य सहिताय श्री परमादि परमेश्वराय अर्घ्यम् ॥३२॥

ॐ ह्रीं समस्त पुष्पजाति वृष्टि प्रातिहार्य सहिताय श्री परमादि परमेश्वराय अर्घ्यम् ॥३३॥

ॐ ह्रीं श्री कोटिभास्कर प्रभामण्डित भामण्डल प्रातिहार्य सहिताय श्री परमादि परमेश्वराय अर्घ्यम् ॥३४॥

ॐ ह्रीं जलधरपटल गर्जित ध्वनि योजनं प्रमाण प्रातिहार्य सहिताय श्री परमादि परमेश्वराय अर्घ्यम् ।।३५।।

ॐ ह्रीं हेमकमलोपरि कृत गमन देव कृतातिशय सहिताय श्री परमादि परमेश्वराय अर्घ्यम् ।।३६।।

ॐ ह्रीं धर्मोपदेश समये समवशरण विभूति मंडिताय श्री परमादि परमेश्वराय अर्घ्यम ।।३७।।

ॐ ह्रीं मस्तक गलितमद सुरगजेन्द्र महादुद्धर भय विनाशकाय श्री आदि परमेश्वराय अर्घ्यम् ।।३८।।

ॐ ह्रीं आदिदेव प्रसादान्महासिंहभय विनाशकाय श्री युगादिदेव परमेश्वराय अर्घ्यम् ।।३९।।

ॐ ह्रीं श्री विश्व भक्षण समर्थमहावह्नि विनाशकाय जिन नाम जलाय श्री आदिब्रह्मणे अर्घ्यम् ।।४०।।

ॐ ह्रीं रक्तनयन सर्प जिननामनागदमन्यौषधये समस्त भय विनाशकाय श्री आदिपरमेश्वराय अर्घ्यम् ।।४१।।

ॐ ह्रीं महासंग्रामभय विनाशकाय सर्वाङ्गरक्षणकराय श्री प्रथम जिनेन्द्राय अर्घ्यम् ।।४२।।

ॐ ह्रीं महारिपुयुद्धे जय विजय प्राप्तकराय श्री आदि वृषभेश्वराय अर्घ्यम् ।।४३।।

ॐ ह्रीं महासमुद्रचलितवातमहादुर्जय भयविनाशकाय श्री आदिपरमेश्वराय अर्घ्यम् ।।४४।।

ॐ ह्रीं दशताप जलंधराष्टदश कुष्टसन्निपात महारोग विनाशकाय परम-कामदेव रूप लक्ष्मीदायकादि जिनेश्वराय अर्घ्यम् ।।४५।।

ॐ ह्रीं महाबन्धन आपादकंठपर्यन्त वैरीकृतोपद्रव भयविघाताय श्री आदि परमेश्वराय अर्घ्यम् ।।४६।।

ॐ ह्रीं सिंह गजेन्द्रराक्षसभूतपिशाचशाकिनीरिपुज परमोपद्रव विनाशकाय श्री आदिपरमेश्वराय अर्घ्यम् ।।४७।।

ॐ ह्रीं पठन-पाठन श्रोतव्य श्रद्धावनत मानतुंगाचार्यादि समस्तजीव कल्याणदाय श्री आदिपरमेश्वराय अर्घ्यम् ।।४८।।

जयमाला

अखंड प्रचण्ड प्रताप स्वभावं,
निराकारमुर्च्चैरनन्त स्वभावम ।
स्वभावानुभावं क्षतोद्य द्विभावं,
स्वभावाय वन्दे वरं देवमाद्यम ।।

महामोह सन्दोह संरोहदारं,
विकारं प्रसारं प्रहारं विचारम् ।
अनल्पं विकल्पं च संकल्प कल्प,
त्यजन्तं यजेद्यादि मुद्धतजल्पम् ।।

विकायं विमायं सदा निष्कषायं,
ज्वलद्राग रोषादि दोषव्यपायम ।
अलोकं च लोकं समालोकयन्तं,
भजे नाभि सूनुं समुद्योतयन्तम् ।।

जरा-जन्म मृत्यु व्यपेतं गुणेतं,
समुद्भूत कर्माणि मर्वैः समेतम ।
वियोगं विरोगं वियग व्यतीतम्,
भजे नाभि सूनुं सुशर्मं प्रतीतम् ।।

लसद् द्रव्य पर्याय रूप घरन्तं,
यथाख्यात चारित्र मुच्चैश्चरन्तम् ।
चिदानंद कन्दं अमताप कन्दं,
भजे नाभि सूनुं मुदे वृद्ध मन्दम् ।।

गत ध्यान मालं स्फुरच्चिद्विशालं,
दितारातिजालं विनष्टान्त कालम् ।
मुनि ध्येय रूपं त्रिलोकैकभूपं,
भजे नाभिसूनुं सुखामाद्य-कूपम ।।

अमेय प्रमेय प्रमायि प्रमाणं,
सहायानपेक्षं विभूत प्रमाणम ।
अनेकं सदेकं प्रसर्पद्विवेकं,
यजे नाभिसूनुं गुणाराम सेकम ।।

जगत्पाप वल्ली सदाह्ला हुताशं,
मह: सूर भापूर संपूरिताशम् ।
असम्बन्ध बन्ध शिवाली निबन्धं
भजे नाभिसूनुं विशेष प्रबन्धम् ।।

भवाभव भावव्यपाय स्वभावं,
भवाभाव भाव प्रभाव प्रभावम् ।
स्वरूप प्रतिष्ठं प्रतिष्ठत्प्रतिष्ठं,
यजे नाभिसूनुं गरिष्ठं वरिष्ठम् ।।

यजध्वं भजध्वं बुधा सं मनुध्वं,
निधध्वं हृदिध्वं विशुद्धादिनाथं ।
चिदानन्द कन्दं स्वरूपोपलब्धि,
यदीह ध्वमन्ते निनीषध्वमेनम् ।।

ॐ ह्रीं श्री देवाधिदेवाय वृषभनाथाय जयमालार्घ्यम् स्वाहा

दीर्घायुरस्तु शुभमस्तु सुकीर्तिरस्तु,
सद्बुद्धिरस्तु धन-धान्य समृद्धिरस्तु ।
आरोग्यमस्तु विजयोऽस्तु महोस्तु पुत्र,
पौत्रोद्भवोऽस्तु तव आदिनाथ प्रसादात् ।।

पुष्पाञ्जलि क्षिपेत्

ॐ ह्रीं श्रीं अर्हं श्री वृषभनाथाय तीर्थंकराय नमः
(इति मंत्रेण लवंगैरष्ठोत्तरशत जाप्यं विधेयम)

शांति-पाठ

शास्त्रोक्त विधि पूजा महोत्सव, सुरपती चक्री करें।
हम सारिखे लघु पुरुष कैसे, यथाविधि पूजा रचें॥

धन-क्रिया-ज्ञान रहित न जानें, रीति पूजन नाथ जी।
हम भक्ति वश तुम चरण आगे, जोड़ लीने हाथ जी॥

दुख हरन, मंगल-करन, आशा-भरन पूजन जिन सही।
यह चित्त में श्रद्धान मेरे, भक्ति है स्वयमेव ही॥

तुम सारिखे दातार पाये, काज लघु जाँचों कहा।
मुझ आप सम कर लेहु स्वामी, यही इक वांछा महा॥

संसार भव-वन विकट में, वसु कर्म मिल आतापियो।
तिस दाह से आकुलित चिरतें, शांति-थल कहुँ न लियो॥

तुम मिले शांति स्वरूप शांती, सुकरण समरथ जगपती।
वसु कर्म मेरे शान्त कर दो, शान्तिमय पंचम-गती॥

जब लों नहीं शिव लहों तबलों, देहु यह धन पावना।
सत्संग शुद्धाचरण श्रुत, अभ्यास अन्तिम भावना॥

तुम बिन अनन्तानन्त काल, गयो रुलत जग-जाल में।
अब शरण आयो नाथ युगकर, जोड़ नावत भाल में॥

—दोहा—

कर प्रमाण के मान ते, गगन नपे किहि भन्त।
त्यों तुम गुण-वर्णन करत, कवि पावे नहिं अन्त॥

इक अवलोकन आपको, भयो धर्म अनुराग।
इक टक देखूं नित्य तो, बढ़े ज्ञान वैराग॥

धन्यी प्रभु धन्यी वचन, कथन तुम्हार अपार।
करो दया सब पै प्रभो! जावें पावें पार॥

विसर्जन-पाठ

यहाँ हिन्दी या संस्कृत विसर्जन पाठ बोलना चाहिए ।

ॐ ह्रीं अस्मिन् भक्तामर महाकाव्य मण्डल पूजा विधान-कर्मणि आहूयमाना देवगणा: स्वस्थानं गच्छन्तु । अपराध क्षमापणं भवतु ।

—आरती—

ओम् जय आदिनाथ देवा, ओम् जय आदिनाथ देवा ।।
सुर-नर मुनि गुण गाते,
तुम कैलाशपती कहलाते,
हम दर्शन कर पाप मिटाते,
अन्तर-बाहर दीप जलाते ।।
करते चरणों की सेवा, ओम् जय आदिनाथ देवा ।।

श्री भक्तामर-महाकाव्य-मंडल

पूजा के माड़ने का आकार

ॐ ह्रीं क्लीं
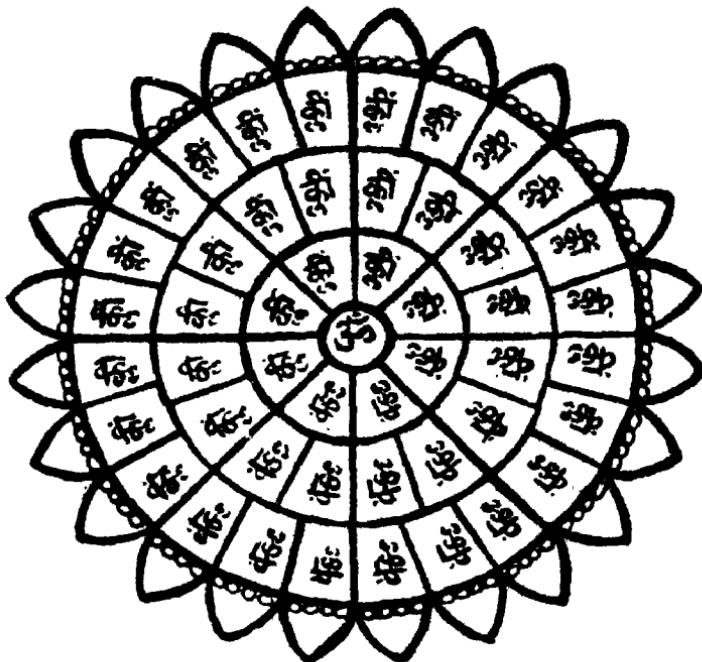
ॐ ह्रीं क्लीं

सर्वसिद्धिदायक मंत्र

ॐ ह्रीं क्लीं श्रीं अर्हं श्री वृषभनाथतीर्थंकराय नमः

समस्त कार्यों की सिद्धि के लिये प्रतिदिन श्रद्धापूर्वक उक्त मन्त्र को लवङ्गों से १०८ बार जपना चाहिये।

श्री महावीर

पद्यानुवाद-कारक की प्रार्थना

मानतुंग की बेड़ियाँ, टूट गई थीं सर्व।
भक्तामर के रचे से, हो करके निर्गर्व ॥ १ ॥

इन समान स्तोत्र को, पढ़े सुने तिरकाल।
ऋद्धि-सिद्धिवसु नवसुनिधि, पावत वह तत्काल ॥ २ ॥

यदि सच्चा श्रद्धान हो, नहीं भ्रमावे योग।
कार्य सफल होंगे सभी, निर्विकार उपयोग ॥ ३ ॥

हिन्दी भाषा में कियो, देख मूल का अर्थ।
पढ़ना सोच विचार कर, नहीं समझना व्यर्थ ॥ ४ ॥

स्वर व्यञ्जन मात्रादि की, मुझसे जो हो भूल।
सुधी सुधार पढ़ो सदा, तो पावो भव-कूल ॥ ५ ॥

विरले समझें संस्कृत, भाषा समझें सर्व।
इसी हेतु मैंने लिखा, भाषा में निर्गर्व ॥ ६ ॥

मुझको चाह न और कुछ, प्रभु की चाहूँ भक्ति।
जब तक यह संसार है, बनी रहे अनुरक्ति ॥ ७ ॥

यदि प्रभु इसके विषय में, देना चाहें आप।
तो मेरे भववर्ग के, कट जावे सब पाप ॥ ८ ॥

वह दिन कब आवे प्रभो, छूट जाय संसार।
उसे मिला देना विभो, नमता सौ सौ बार ॥ ९ ॥

चल न सके अब लेखनी, आगे को पद एक।
प्रभु के गुण के लेख को, चाहे अधिक विवेक ॥ १० ॥

मत घबड़ा री लेखनी, अब ले ले विश्राम।
होंगे इच्छित सिद्ध सब जपने से प्रभु-नाम ॥ ११ ॥

कमल कुमार जैन शास्त्री 'कुमुद'

भक्तामर स्तोत्र के पद्यों का अकारादि वर्णक्रम

र (१)

व (३)

श (२)

स (६)

ज्ञ (१)